प्रत्यक्षप्रमा

विद्वत्सङ्गोष्ठी

श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट
(मांडवी-कच्छ)

प्रकाशक:
श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट
कंसारा बजार, मांडवी-कच्छ, गुजरात, ३७० ४६५
फोन : (०२८३४) २३१४६३

सम्पादक:
गोस्वामी श्याम मनोहर
गोस्वामी शरद

प्रथम संस्करण : वि.सं. २०६४ वल्लभाब्द : ५३०

प्रति : ५००

ऐच्छिक ग्रन्थप्रकाशन सहाय : रू. १५०.

सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

WWW.PUSHTIMARG.NET

मुद्रक :
श्रीवल्लभ बुक मेन्युफेक्चरिंग् कं. लि., ५५/४६ सिटिमील कम्पाउंड्,
कांकरीआ रोड, अमदावाद, गुजरात

श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट, मांडवी-कच्छ

सेमिनार:
आयोजित:

१.शब्दखण्डीया विद्वत्परिचर्चा, गांधीनगर-गुजरात
२.अन्यख्यातिवादीया विद्वत्सङ्गोष्ठी, पुणे
३.वार्तापरिचर्चा, हालोल-गुजरात
४.पुष्टिभक्तिमार्गीय साधनाप्रणाली, मुम्बई
५.अन्धकारवाद विद्वत्परिचर्चा, पुणे
६.सेवा-समर्पण, मुम्बई
७. कार्यकारणभावविचार, वडोदरा-गुजरात
८. प्रत्यक्षप्रमाण सङ्गोष्ठी, पुणे
९. अधिकारपरिचर्चा, हालोल-गुजरात
१०.कथायां वा/गुणगान साधना, मुम्बई
११.शरणागति, मुम्बई
१२.पुष्टिभक्तिसाधनामें प्रतिबन्ध
१३.World Philosophy Conference, Delhi, (Cosponsored with Indian Philosophical Congress)
१४. International Conference on World Peace, Ahmedabad (Cosponsored with Uni. of Gujarat

आचार्यवंशजोंकेलिये अध्ययनसत्र:

१.तर्कामृतम् - न्यायसिद्धान्तमुक्तावली
२.वेदान्तसार

ग्रन्थप्रकाशन :

१. प्रवेशिका (गुज.)	१०	२. प्रवेशिका (अंग्रेजी)	निःशुल्क
३. प्रमेयरत्नसंग्रह (गुज.)		४. वार्तापरिचर्चा	१५
५. पुष्टिविधानम्(पाठावली-व्रजभाषा)	अप्राप्य	६.पुष्टिविधानम्-१ (पाठावली, गुज.)	२५
७. पुष्टिविधानम्-२ (व्याकरणम्)	१००	८. पुष्टिविधानम्-३ (व्रजभाषाविवृति)	५०
९. अधिकारपरिचर्चा(गुज.-हिन्दी-व्रज)	१००	१०. श्रीभागवतमहापुराण(गुर्जरभाषानुवाद)	३००
११. विवेकत्रयम (संस्कृत)	१०	१२. सेवा और व्रजलीला (व्रजभाषा)	अप्राप्य
१३. श्रीगोपीनाथप्रभुचरण(गुज.-हिन्दी)	२५	१४. सेवा अने व्रजलीला (गुजराती)	निःशुल्क
१५. पुष्टिप्रवेश-१(गुजराती)	१०	१६. साधनाप्रणाली(गुज.-हिन्दी-अंग्रेजी)	५०
१७. पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद(गुज.-हिन्दी)	निःशुल्क	१८. रसदृष्टिनी तरफेणमां (गुजराती)	निःशुल्क
१९. पुष्टिपाठावली (हिन्दी)	१०	२०. पुष्टिपाठावली (गुजराती)	१०
२१. वाल्लभवेदान्तनिबन्धसंग्रह(हिन्दी)	निःशुल्क	२२.प्रत्यक्षप्रमाण, विद्वत्सङ्गोष्ठी	१५०

२३. भागवतार्थप्रकरणम्, गुजराती अनुवाद, गो.वा.श्रीनानुलाल गांधी	१००
२४. शब्दखण्डीया विद्वत्परिचर्चा (संस्कृत-हिन्दी-अंग्रेजी)	२००
२५. अन्यख्यातिवादीया विद्वत्सङ्गोष्ठी (संस्कृत-हिन्दी-अंग्रेजी)	१५०
२६. तत्वार्थदीपनिबन्धान्तर्गत शास्त्रार्थप्रकरणम् (व्रजभाषाटीका) साधारणसंस्करण/राजसंस्करण	५०/७०
२७. तत्वार्थदीपनिबन्धान्तर्गत सर्वनिर्णयप्रकरणम् (व्रजभाषाटीका)साधारणसंस्करण/राजसंस्करण	८०/१००
२८. कार्यकारणभावमीमांसा विद्वत्सङ्गोष्ठी(संस्कृत-हिन्दी-अंग्रेजी)	२००
२९. पुष्टिविधानम् पादानुक्रमणिका	१०

३०. शरणागति विचारगोष्ठी एक पृथक प्रश्नोत्तरी निःशुल्क
३१. पुष्टिभक्तिमें कथासाधना, सत्संगी ५०
३२. पुरुषोत्तमसहस्रनाम-त्रिविधलीलानामावली (गुर्जरानुवाद) [illegible]
३३. वाल्लभवेदान्त निबन्धसंग्रह (हिन्दी) निःशुल्क
३४. सिद्धान्तनुं आचमन (गुजराती) निःशुल्क
३५. श्रीकृष्णचरित्र, गो.वा.श्रीनानूलाल गांधी (गुजराती) [illegible]
३६. Computer CD, www.pushtimarg.net अप्राप्य
३७. Summary of Shuddhadvaita Vangmaya 15
३८. Manual of the Devotional Path of Pushti 65

सहयोग प्रकाशन:

श्रीभागवतसुबोधिनी गुर्जरभाषानुवाद

अनुवादक: गो.वा.श्रीनानूलाल गांधी (ये पुस्तके मुफ्तमें दी जायेगी)

१.दशमस्कन्ध जन्म प्रकरण
२. दशमस्कन्ध तामस प्रमाण प्रकरण
३.दशमस्कन्ध तामस प्रमेय प्रकरण
४. दशमस्कन्ध तामस साधन प्रकरण
५.दशमस्कन्ध तामस फल प्रकरण
६. दशमस्कन्ध राजस प्रमाण प्रकरण
७.दशमस्कन्ध राजस प्रमेय प्रकरण
८. दशमस्कन्ध राजस साधन प्रकरण
९.दशमस्कन्ध राजस फल प्रकरण
१०.दशमस्कन्ध सात्त्विक प्रमेय-साधन-फल प्रकरण
११.दशमस्कन्ध गुण प्रकरण
१२.एकादशस्कन्ध अप्राप्य
१३. तृतीयस्कन्ध अ.१-८ अप्राप्य
१४.तृतीयस्कन्ध अ.९-१९ अप्राप्य
१५.तृतीयस्कन्ध अ.२०-समाप्तिपर्यन्त अप्राप्य
१६.द्वितीयस्कन्ध अप्राप्य
१७.श्रीगुसांईजी विरचित दशमस्कन्ध टिप्पणी
१८. Srimad Vallabhacharya, His Philosophy and Life, Prof.J.G.Shah 100
१९. Srimad Vallabhacharya, His Philosophy and Religion, Prof.J.G.Shah 300
२०. SriVallabhacharya and His Teachings, Dr.Chimanlal Vaidya 100
२१. Doctrines of Vallabhacharya, Ishverbhai S. Amin 100

- गोशाला
- संस्कृत माध्यमसे अध्ययन करते विद्यार्थीओंकेलिये छात्रालय
  संचालन: श्रीवल्लभाचार्य व्रजसंस्कृति विकास ट्रस्ट समिति, गोकुल
- हस्तप्रतसंग्रह-संरक्षण; पुस्तकालय
- यावत्प्राप्य साम्प्रदायिक श्लोकोंकी पादानुक्रमणिका
- Digitalization of the manuscripts
- Catalogus Catalogorum of the manuscripts of Śuddhādvaita-Puṣṭibhakti-Sampradāya.
- Encyclopedic CD ROM comprising of entire original Sanskrit writings of Acharyas along with Vraj, Hindi, Gujarati & English literature written on the base of such writings.

गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजीद्वारा सम्पादित-पुनर्मुद्रित

शुद्धाद्वैत पुष्टिभक्ति सम्प्रदायके
मूल संस्कृत ग्रन्थ

१. सव्याख्यषोडशग्रन्थ सद्भक्तप्रकाशन, दुर्लभ
    खंड १. श्रीयमुनाष्टकम से सिद्धान्तरहस्यम
    खंड २. नवरत्नम से भक्तिवर्धिनी
    खंड ३. जलभेद से सेवाफलम
२. सव्याख्यषड्ग्रन्था सद्भक्तप्रकाशन, दुर्लभ
३. तत्त्वार्थदीपनिबन्ध
    खंड १. शास्त्रार्थ-सर्वनिर्णयप्रकरण
    खंड २. भागवतार्थप्रकरण स्कन्ध १-५
    खंड ३. भागवतार्थप्रकरण स्कन्ध ६-१२
४. प्रकाश-रश्मि व्याख्या सहित ब्रह्मसूत्राणुभाष्यम्
    खंड १. प्रथमाध्याय नाथद्वारा टेम्पलबोर्ड, अतिदुर्लभ
    खंड २. प्रथमाध्याय नाथद्वारा टेम्पलबोर्ड, अतिदुर्लभ
    खंड ३. द्वितीयाध्याय
    खंड ४. तृतीयाध्याय
    खंड ५. चतुर्थाध्याय
५. श्रीमद्भागवतसुबोधिनी
    खंड १. प्रथम-द्वितीयस्कन्ध
    खंड ४. जन्मप्रकरण
    खंड ५. तामसप्रमाणप्रकरण
    खंड ६. तामसप्रमेय-साधनप्रकरण
    खंड ७. तामसफलप्रकरण
    खंड ८. राजसप्रमाण-प्रमेयप्रकरण
६. वेदान्ताधिकरणमाला-भावप्रकाशिका
७. विविधविवरणोपेत पत्रावलम्बनम्
८. प्रस्थानरत्नाकर
९. विद्वन्मण्डनम्
१०. श्रीबालकृष्णग्रन्थावली
११. अवतारवादावली
    खंड २. भेदाभेदवाद, सृष्टिभेदवाद, आविर्भावतिरोभाववाद, ख्यातिवाद, प्रतिबिम्बवाद, अन्धकारवाद.
    खंड ३. ब्राह्मणत्वादिदेवतावादः, जीवव्यापकत्वखण्डनवाद, जीवप्रतिबिम्बत्व-

खण्डनवादः, भागवतस्वरूपविषयकशङ्कानिरासवादः, उपदेशादिविषयकशङ्का-निरासवादः, भगवत्प्रतिकृतिपूजनवादः, ऊर्ध्वपुण्ड्रधारणवादः, तुलसीमाला-धारणवादः, शङ्खचक्रधारणवादः, भक्तिरसत्ववादः, भक्त्युत्कर्षवादः, नामफलादि-प्रकारवादः, जयश्रीकृष्णोच्चारणवादः, स्ववृत्तिवादः, वर्णादिसेवावादः, मूर्तिपूजनवादः, भागवतपाठादेः शङ्कानिरासवादः.

१२. पुष्टिविधानम्^(गुजराती, व्रज तथा संस्कृत संस्करण)

१३. सव्याख्यश्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम्

१४. श्रीपुरुषोत्तमप्रतिष्ठाप्रकारः

▶ क्र.१, २ तथा ४/१, ४/२ को छोड कर सभी ग्रन्थ श्रीवल्लभविद्यापीठ-श्रीविट्ठलेश्वर-प्रभुचरण आ.हो.ट्रस्ट (कोल्हापुर) द्वारा प्रकाशित.

प्रकाश्य :

श्रीमद्भागवतसुबोधिनी: तृतीयस्कन्ध, राजस साधन-फल प्रकरण, सात्त्विक प्रमेय-साधन-फल प्रकरण, गुण प्रकरण, एकादशस्कन्ध

श्रीपुरुषोत्तमचरण विरचित: वादावली खंड १, गीता टीका, उपनिषद् टीका उत्सवप्रतान-अपराधनिरूपणम् आदि

गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजीकी हिन्दी-गुजराती पुस्तकें

-वाल्लभवेदान्त निबन्धसंग्रह
-विवेक
-पुरुषोत्तमयोग (गुजराती-हिन्दी)
-नवरत्नम् (गुजराती-हिन्दी)
-सिद्धान्तनुं आचमन
-पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद
-नवरत्नोपदेशका मानसविश्लेषण(गुजराती-हिन्दी)
-श्रीवल्लभाचार्यके दर्शनका यथार्थ स्वरूप
-शरणागतिविचारगोष्ठी एक पूरक प्रश्नोत्तरी (गुजराती)
-धर्म-अर्थ-काम-मोक्षकी पुष्टिमार्गीय विवेचना(हिन्दी-गुजराती)
-भगवत्सेवानो सिद्धान्तशुद्ध प्रकार : एक प्रश्नोत्तरी
-रसदृष्टिनी तरफेणमां (हिन्दी-गुजराती)
-विशोधनिका (तीन खंड)
-गृहसेवा और व्रजलीला (गुजराती-हिन्दी)
-श्रीयमुनाष्टकम्
-सिद्धान्तसूक्ति

सम्पर्क :

गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी,
व्रजकमल, ६३ स्वस्तिक सोसायटी,
४था रास्ता, जुहु स्कीम, विलेपार्ले (पश्चिम), मुम्बई.
फोन : (०२२) २६१४४३२६

प्रकाशकीय

श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट(मांडवी-कच्छ) द्वारा सन २००३ में पूणे विश्वविद्यालयमें **प्रत्यक्ष प्रमा** विषयपर समायोजित विद्वत्सङ्गोष्ठीमें प्रस्तुत हुवे आलेखपत्रों एवं उनपर हुई चर्चा को सङ्गोष्ठ्युत्तरलेख सहित ग्रन्थाकारमें प्रकाशित करते हुवे हार्दिक प्रसन्नता हो रही है.

पूर्व समायोजित सङ्गोष्ठीओंकी ही तरह इस सङ्गोष्ठीका भी आद्योपान्त ध्वनिमुद्रण किया गया था. ध्वनिमुद्रित केसेट्सकी सहायतासे चर्चाको लिपिबद्ध करके उसे संशोधनार्थ चर्चाकारोंको अवलोकनकेलिये भेजा गया.प्रस्तुत ग्रन्थमें आलेख प्रस्तुतिकारद्वारा संशोधित-परिवर्धित चर्चाका प्रकाशन किया गया है.

सङ्गोष्ठीमें समागत जो विद्वज्जन संशोधनार्थ प्रेशित उनके वक्तव्य / चर्चा को संशोधित नहीं कर पाये हैं उनको अनन्यगतिकतया यथावत् प्रकाशित कर दिया गया है.

केसेट् बदलने, बिजलीके न रहने, एक साथ बोलने जैसी परिस्थितिमें जिन संवाद / वक्तव्य का ध्वनिमुद्रण नहीं हो पाया था उन अंशोंको तत्तत्स्थानोंमें '...' तीन विरामचिह्नोंद्वारा दिखलाया गया है.

सङ्गोष्ठीमें आलेखोंकी प्रस्तुति जिस क्रमसे हुई थी उस क्रमको अध्येताओंके सौकर्यार्थ बदलकर उनको नूतन क्रममें योजित किया गया है यह ध्यातव्य है.

विशेषमें, गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी लिखित "चक्षुका चाक्षुषविषयदेशमें प्राप्यप्रकाशकारित्व, एक वाल्लभ दृष्टिकोण" आलेखको प्रत्यक्षप्रमाण विषयक अध्ययनमें उपकारक समझकर यहां प्रकाशित किया जा रहा है.

अन्तमें, इस सद्गोष्ठीमें सहृदयभावसे सम्मिलित होकर प्रस्तावित विषयपर वैदुष्यपूर्ण आलेखकी प्रस्तुति करने एवं चर्चामें भाग लेने केलिये हम सभी विद्वज्जनोंके प्रति हृदयसे आभारी हैं.

श्रीवामनजयन्ती-
श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रादुर्भावोत्सव
वल्लभाब्द ५३०, वि.सं.२०६४

श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट द्वारा
शरद् गोस्वामी

www.pustimarg.net

अनुक्रमणिका

गोस्वामी श्रीश्याम मनोहर	भूमिका	१
गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमचरण	प्रत्यक्षप्रमाकरणनिरूपकः तृतीयः तरङ्गः	१७
ड़ॉ. सुनन्दा शास्त्री	Prasthānaratākara Prastāvanā by Goswami Sri Shyammanoharji. English Translation	५०
गोस्वामी श्रीश्याम मनोहर	प्रत्यक्षप्रमाणके बारेमें कुछ पुरःस्फूर्तिक विचार, वाल्लभ दृष्टिकोण	६२
	चर्चा	८९
प्रो. सिद्धेश्वर भट्ट	Towards understanding perception	१०१
	चर्चा	१०७
डॉ. अच्युतानन्द दाश	Infrequently asked questions on perception and the outlook of Vallabha school of philosophy	११२
	चर्चा	१४३
डॉ. के. ई. देवनाथन्	प्रत्यक्षप्रमाणविषये विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तः प्रस्थानरत्नाकरसरणिः च	१७३
	चर्चा	१७८
प्रो. डी. प्रह्लादाचार	द्वैतदर्शने प्रत्यक्षस्वरूपम्	१९३
	चर्चा	२०५
डॉ. सुनन्दा शास्त्री	Perception: Sānkhya and Śuddhādvaitic views	२११
	चर्चा	२२८
ज्योर्ज करुविलेल्	Thomistic philosophy of perception: Some reflections	२३२
	चर्चा	२४६

डॉ. एस्. बी. बोकिल	Perception: A Philosophical impasse	२६२
डॉ. श्रीकृष्णमूर्ति शास्त्री	भाट्टमतरीत्या प्रत्यक्षविचारणम्	२८०
	चर्चा	२९४
प्रो. पी. के. मुखोपाध्याय	प्रासङ्गिक वक्तव्य	३१७
	चर्चा	३२४
डॉ. बलिराम शुक्ल	प्रत्यक्षप्रमाणम् न्याय-शुद्धाद्वैतवेदान्त-मतयोः तौलनिकं विवेचनम्	३४५
	चर्चा	३५१
डॉ. बी. के. दलाई	Jain theory of perception	३६८
	चर्चा	३९७
डॉ. विन्ध्येश्वरीप्रसाद मिश्र	श्रीमद्भागवतप्रस्थाने प्रस्थानरत्नाकरे च प्रत्यक्षप्रमाणविमर्शः	४०७
प्रो. यज्ञेश्वर शास्त्री	Advaitic theory of perception in comparision with Śuddhādvaita view	४५०
	चर्चा	४६९
डॉ. अम्बिकादत्त शर्मा	वैभाषिक दर्शनमें प्रत्यक्षकी अवधारणा; तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य : वल्लभ वेदान्त	४८१
	चर्चा	५०२
प्रा. पारसनाथ द्विवेदी	प्रत्यक्षे वाल्लभसौत्रान्तिकमतयोः विमर्शः	५१६
डॉ. मंगला चिंचोरे	Dharmakīrti and Vallabh on Pratyakṣa: Juxtaposition	५४५
प्रो. वशिष्ठनारायण झा	अध्यक्षस्थानीय समापन वक्तव्य	५९४

परिशिष्ट :

गोस्वामी श्याम मनोहर	चक्षुका चाक्षुषविषयदेशमें प्राप्यप्रकाशकारित्व, एक वल्लभ दृष्टिकोण	६०१

भूमिका

एक सुप्रसिद्ध वैदिक सूक्ति है कि **''एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति. तस्य धीराः परिजानन्ति योनिम्''** . इस वचनमें सावधानीसे 'विप्राः', शब्द वेदोंके अभ्यास करनेवालोंके अर्थमें प्रयुक्त हुवा है. ''वेदाभ्यासाद् भवेद् विप्रः''. फिरभी आधुनिक युगमें इस श्रुतिका प्रायः ''एकं सद् अज्ञाः/मूर्खाः बहुधा वदन्ति'' अर्थ किया जाता है. पर क्या सभी विप्र मूर्ख ही होते हैं? यद्यपि बौद्धोंने **''वेदाधीतिजडाः विप्राः न परीक्षाक्षमाइति विप्रेभ्यएव वेदादेः कृतं तैः उपदेशनम्''** कहा तो है और वैसे तो भगवान् बुद्धने भी विप्रोंको अवश्य मूर्ख ही माना होगा. मगर मुझे लगता है कि भगवान् बुद्धको भी पढ़ानेवाले तो सब विप्र ही होंगे. इस श्रुतिके निदर्शनतया अक्सर 'अन्धहस्ति'न्यायका उदाहरण भी दिया जाता है. उदाहरणके तौरपे डॉ. सर्वपल्लि राधाकृष्णन् और दूसरे भी विद्वान् 'अन्धहस्ति'न्यायके आधारपर ही इस श्रुतिका अभिप्राय समझाते हैं.

अन्धता दो तरहकी हो सकती है. एक चाक्षुष जन्मान्धता ऐसी कि जिसके कारण हम वस्तुका दर्शन ही कर नहीं पाये हों और दूसरी बौद्धिक हठाग्रहकी अन्धता कि स्वयं हमें किसी वस्तुके जो विकल्प अवगत हुवे हों उनके हठाग्रहके वश उस वस्तुके अन्यान्य विकल्पोंको देख न पानेकी बौद्धिक हठवादिता. एक अन्धा पुरुष देख नहीं पाता तावता वह हाथीका स्पर्श भी न कर पाता हो ऐसा तो नहीं है. ऐसी स्थितिमें हस्तिको स्पर्श करके वह जान न पाता हो ऐसा भी शक्य नहीं. नेत्रहीन पुरुषोंकी अन्धतामें भी स्पर्शानुभव तो उतना ही सोलिड् होता है जितना किसी नेत्रवान् पुरुषका चाक्षुष प्रत्यक्ष सोलिड् होता है. ऐसे स्पर्शके आधारपर अन्ध पुरुषोंको जो गृहीत होता है और वे अपनी अनुभूतिओंको 'स्तम्भसदृशोऽयम्' शब्दोंमें

अभिव्यक्त करते हैं तो सहृदय नेत्रवानको वह सादृश्यानुभूति हास्यास्पद लगनेके बजाय पार्शियलि ट्रु एक्स्पीरियंस लगनी चाहिये. चाहे टोटली ट्रु न भी लगती हो. किसी भी मूरतमें वह टोटली अन्ट्रु नहीं लगेगी. यों तो अन्धपुरुषको गृहीत होती हाथीकी स्तम्भाकारता या अन्य कुछ समग्राकारदर्शी नेत्रवानोंको भी सहसा बुद्ध्यारूढ़ कहां हो पाती है? नेत्रवान् भी तो केवल नेत्रगृहीत रूपकी ही आंशिक अनुभूति कर पाते हैं, स्पर्शगृहीत स्वरूपकी कहां! So there are all sorts of contradictions and debates are generated among us.

हम वाल्लभ तो यह हृदयसे मानते हैं कि सत् विरुद्धधर्माश्रय है. कमसे कम और किसी कारणसे नहीं तो, इसी कारणसे कि ब्रह्मबोधक श्रुति स्वयं ब्रह्मके बारेमें ‘‘एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति’’ विधान करती है. यह ‘बहुधा’ भी पुनः उस सीमा तक कि परस्पर एक-दूसरेके अनुभव और प्रतिपादन को हम स्वीकार न कर पायें! ‘‘सुगतो यदि सर्वज्ञः कपिलो नेति का प्रमा? तौ उभौ यदि सर्वज्ञौ विसंवादः कथं तयोः?’’ अब दोनों सर्वज्ञताका दावा करते हों तो असर्वज्ञ बेचारे कहां जायें? यद्यपि धर्मकीर्तिने एक बात बड़ी अच्छी कही है कि ‘‘**दूरं पश्यतु वा मा वा तत्त्वम् इष्टन्तु पश्यतु, प्रमाणं दूरदर्शी चेद् एतान् ग्रध्रान् उपास्महे**’’. पर भाई! ग्रध्र भी कुछ देखता तो है ही. और यदि आप साईंस्के ऑब्जर्वेशन् गीधके वीज़्युअल् पर्सेप्शन्के बारेमें पढ़ेंगे तो उसकी दृष्टिसामर्थ्यको मनुष्यकी सामर्थ्यसे कुछ अधिक ही विज्ञान स्वीकारता है. तो ‘‘एते ग्रध्राः अपि उपासनीयाः भवन्त्येव अधिकारिभेदेन’’! तो इसी तरह विप्रभेदेन ब्रह्मके निरूपणको स्वीकारने भी हमें उद्यत रहना ही पड़ेगा. और वैशेषिकोंके तो मतको ही ‘औलूक्य-मत’ कहा जाता था. भगवद्गीताके ‘‘**या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी यस्यां जागर्ति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः**’’ वचनके प्रकाशमें इसकी एक उपहासपूर्ण उपपत्ति भी अवश्य समझमें आती है : हम मनुष्य प्राणिओंको अंधेरेमें दिखलाई नहीं देता, अपनी

इस असामर्थ्यको स्वीकारे बिना, उल्लुको तो उजालेमें भी दिखलायी नहीं देता होनेसे, हमने उल्लुको मूर्ख पक्षी मान लिया! यूनानमें, परन्तु, उल्लु मूर्ख नहीं दर्शनशास्त्रीय बुद्धिप्रकर्षका पक्षी माना जाता था. अतः यह भी सम्भव है कि कदाचित् उल्लु हम मनुष्य प्राणिओंको ही मूर्ख मानता होगा कि मनुष्य कितना मूर्ख है कि अन्धेरेमें उसे दिखलाई नहीं देता...

आदरणीय श्रीबलिराम शुक्लजीके साथ कल आपसी वार्तालापमें मैंने कहा कि कोई भी बात जब स्पष्ट कहनी हो तब वह सरल नहीं रह जाती है. और कोई भी बात सरल करके कहनी हो तो वह स्पष्ट नहीं रह जाती है.

इसी तरहका कुछ चक्कर है न्याय और इतर दर्शनों के बीच भी है. न्याय अपनी हर बातको स्पष्ट करना चाहता है, यह एक औलूक्यदृष्टि है. और एक हमारी भी दृष्टि है कि हर बातको सरलतया कह देना चाहते हैं. शायद हमारे अंदर अन्धकारमें देखनेकी शक्ति नहीं है, यह हम भी कबूल करते हैं. मूल कारण उसमें यही है कि न्याय-वैशेषिक जब भी देखते हैं तब लक्षणप्रधान और आनुमानिक दृष्टिसे देखते हैं. और जब लक्षणप्रधान दृष्टिसे न्यायको कुछ दिखलाई नहीं देता है तब न्याय समझता है कि अन्धकार हो गया. और हम वेदान्ती जब देखते हैं तब हमारी दृष्टिमें लक्षणके बजाय प्रमाण या अनुभव प्रधान बन जाते हैं. शांकर और वाल्लभ दोनों ही वेदान्तोंमें ब्रह्म तो स्वरूपतः अवाच्य माना गया है और माया तो शांकर वेदान्तमें सद्-असद्-सदसत्त्वेन भी अनिर्वचनीय मानी गयी है. अत: श्रौत प्रमेयके प्रसंगमें लक्षणोंके निर्धारणमें अधिक न उलझना तो हमारे प्रमेयके विशिष्ट स्वरूपके अनुरोधवश हमें स्वाभाविक ही लगता है. लक्षण और प्रमाण में कुछ वैसा ही विभाजन है जैसा दिवा और रात्रि में अथवा सरलतामें और स्पष्टतामें है. लक्षण या

परिभाषा यथावगम होती है. अर्थात् वस्तुका बोध हमें कैसे हो रहा है उसके बारेमें होती है. प्रमाण तो, जबकि, यथार्थ होता है अर्थात् वस्तु जैसी हो वैसी अनुभूति होनेपर वह प्रमाण मानी जाती है.

कुछ विद्वानोंका सोच है कि वेदान्ती देख ही नहीं पाते हैं, केवल श्रुतिओंमे क्या कहा गया ही सुनते रहते हैं. जबकि नैयायिक तो उनके प्रमेयोंको देखते भी हैं और सुनते भी हैं. मैं परन्तु कहना चाहुंगा कि हम 'श्रुतिदृष्टयः' हैं और हैं ही. इसीलिये भगवत्पाद् शंकराचार्यने एक बड़ी मज़ेदार बात कही है "**तार्किकैस्तु परित्यक्तागमबलैः अस्तिनास्ति-कर्ताकर्ता इत्यादिविरुद्धं बहु तर्कयद्भिः आकुलीकृतः शास्त्रार्थः. येतु शान्तदर्पाः तेषां करतलामलकइव निश्चितः शास्त्रार्थः. ...तस्मात् तार्किकताचाटभटराजाप्रवेश्यम् अभयं दुर्गम् इदम् अल्पबुद्ध्यगम्यं शास्त्रगुरुप्रसादरहितैः च 'तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके' इत्यादिविरुद्धधर्म-समवायित्वप्रकाशकमन्त्रवर्णेभ्यः च**" तो यह हुयी न प्रमाणदृष्टि.

यह लक्षणदृष्टि नहीं है. इसमें लक्षणौपयिकी स्पष्टता सम्भव नहीं. न हो तो न हो पर जब प्रमाणसे सिद्ध होता है तो क्या किया जा सकता है? धर्मकीर्ति भी तो कहता था कि "यदि इदं स्वयम् अर्थानां रोचते तत्र के वयम्?". प्रमाणसे हमको कुछ समझमें आ रहा है. लक्षणदृष्टि ही एकमात्र दृष्टि नहीं है प्रमाणदृष्टि भी एक दृष्टि है. दिवा-रात्रिमें दर्शनके सामर्थ्यकी तरह हमें इन दोनों दृष्टियोंका प्रभेद स्वीकार कर दोनोंका समादर करना चाहिये.

जब प्रमाण किन्हीं विरुद्धधर्मोंका या क्रियाकलापोंका, जैसे भगवत्पाद श्रीशंकराचार्योदाहृत "**तद् एजति — तद् न एजति**" कहता हो तो उसका लक्षण कैसे घड़ा जा सकेगा! विरुद्धधर्माश्रय तत्त्वकी परिभाषा हो पानी कठिन है. कल श्रीबलिराम शुक्लजी कह रहे थे कि वे जब उपनिषदोंको पढ़ते हैं तब उन्हें कुछ असम्बद्ध प्रतिपादन होता सा

लगता है. असम्बद्ध है ही. पर करें क्या? हर तथ्यको सम्बद्ध करना हमारी लक्षणबुद्धिका कार्य है. वस्तु, परन्तु, हमारी लक्षणबुद्धिके आधीन होती तो भूकम्प जलप्लावन युद्ध या वृश्चिक-व्याघ्र जैसी क्रूरता जगत्में होती ही नहीं. हम जगत्की ऐसी परिभाषा घड़ लेते कि ये सब भयंकर बातें तिरोहित हो जाती. पर ऐसी क्रूर भयंकर बातें भी जगत्की एक वास्तविकता है. इनपर हमारे सोची हुयी परिभाषाओंका कुछ भी प्रभाव पड़ता नहीं है. पशुकी परिभाषा भूमिपर विचरनेवाले स्तनपायी प्राणीके रूपमें कर भी लें परन्तु व्हेल (तिमि) यदि भूमिका परित्याग कर सागरमें प्रविष्ट हो जाये तो क्या करना? हम पशुकी परिभाषा समुचित घड़ लें पर चमगादड़ भूमिके बजाय मकानकी छतपर ही विहार करने लग जाये तो क्या करना? तो इस तरहकी कुछ सीमायें लक्षणाधीन बुद्धिकी तरह प्रमाणाधीन बुद्धिकी भी हो सकती हैं. यह लक्षणदृष्टिकी और प्रमाणदृष्टिकी सीमायें हैं. इन सीमाओंके तहत वाल्लभदृष्टि एक बात कहना चाहती है पर दूसरी बात भी उतनी ही बुद्धिसंगत हो सकती है, ब्रह्म और ब्राह्मिकी सृष्टि में प्रकट होती विरुद्धधर्माश्रयताके कारण.

पाश्चात्य दर्शनने एक शब्द मिलता है *'रिडक्शनिजम्.'* किसी वस्तुको किन्हीं बातोंमें एनलाईज़् करके कभी द्रव्यको गायब कर दो, तो कभी गुण-धर्मोंको गायब कर दो. कभी मेटर्को मेन्टल् कन्सेप्टस्में डिफाईन् करके गायब कर दो. तो उधर माईन्ड्को मटीरिअली ऑर्गनाइज़्ड् कॉम्प्लेक्स् फ़िनोमिनामें डिफाईन् करके गायब कर दो. इस तरहके एनलिटिक् एप्रोचमें रिडक्शनिस्टिक् एक्स्ट्रीमिटी या ऐकान्तिकता आ ही जाती है... और उसके रिएक्शन्में आजकल एक *युनिफिकेशनिज़म्* भी चल पड़ा है. जिसमें जबरदस्ती सबको एक मान लो, जबरदस्ती सब दृष्टिओंका एक दृष्टिमें अन्तर्भाव कर लो. अर्थात् अपनी मनपसंद दृष्टिको सर्वग्रासी बना देना. बृहदारण्यकोपनिषद्में कहा गया है कि सृष्टाने सृष्टरूपको प्रकट करके उसे खा जाना चाहा. और तब सृष्टरूपने

“‘स ‘भाण’ इति अकरोत्’’. नाम-रूप-कर्मात्मिका सृष्टि अपने जन्म-स्थिति-लयके एकमात्र उपादानभूत धर्मी ब्रह्मके स्वरूप अथवा अप्रतिघसंकल्प परमेश्वरके सर्वभवनसामर्थ्यके आधीन ही उत्पन्न स्थित या लीन हो सकती है. तब भी ‘भाण’ उच्चारणकी क्रोशना करनेमें तो स्वाधीन होती ही है. तो हम वाल्लभोंको भी इस तरहसे ‘भाण्’ चिल्लानेकी इच्छा होती है, जब कोई हमें खा जाना चाहता हो. खा मत जाओ. हमारे साथ विमर्शक्रीडा करो. ‘‘खा मत जाओ’’ इस अर्थमें नहीं कि हमारी आलोचना मत करो. ‘‘खा मत जाओ’’ इस अर्थमें कि हमारा अपनी दृष्टिमें अन्तर्भाव मत मान कर चलो. न हठारोपित युनिफिकेशनिज़म् अच्छी बात है और न हठारोपित विविध दृष्टिओंके बीच असमानता ही सोचना कोई अच्छी बात है. परस्पर संवादकेलिये ही इतना तो हम सभी स्वीकार ही सकते हैं. जो कुछ हम आपसमें चर्चा या विमर्श करें उससे, तत्त्व विरुद्धधर्माश्रय हो या नहो मगर विरुद्धमति, विरुद्धवाद, विरुद्धोपपत्ति सबकी बुद्धिमें उभर सकती हैं. और उन मति-वादोंका कमसे कम संवाद या अधिकाधिक विवाद तो होना ही चाहिये, एक दूसरेका एक-दूजेमें अन्तर्भाव या अतुलनीय वैषम्य ही मान कर नहीं चल पड़ना चाहिये. संवाद तो विवादात्मक हो तब भी चलेगा!

जो भी संगीतके बारेमें थोड़ा-बहुत जानते हैं उन्हें यह बात अच्छी तरह अवगत होगी कि कोई भी अच्छा राग वादी, संवादी और विसंवादी सुरोंके बिना प्रकट नहीं हो पाता. तो इस सेमिनारकी विचारप्रक्रियाके एक अच्छे रागमें हम आपसी संगतिमें कोई ऐसा गीत गायें! अतः विरुद्धधर्माश्रय परमतत्त्वके विमर्शमें हम एक-दूसरेको मूर्ख न समझें, एक दूसरेको विप्र समझें. और विप्र भी इस अर्थमें नहीं कि हम सर्वथा अन्धे हैं. विप्र समझें एक-दूजेको इस अर्थमें कि हम सभीके पास अपना-अपना अनुभव है. इस तरहका कोई एक *नोन्-रिडक्शनिस्टिक् या नोन्-युनिफिकेशनिस्टिक् एप्रोच्* हमारी गोष्ठियोंमें

होना चाहिये.

सबसे बड़ी आपत्ति मुझे लगती है... उदाहरणके तौर पर कहूं तो, अंग्रेज़ी भाषामें कुछ मज़ेदार *टर्म्स्* हैं, यथा समाजशास्त्रमें हम व्यक्तिको *'इन्डिविज्युअल्'* कहते हैं. इसका अर्थ होता है : That which can not be divided. There is a point in it. If sociology attempts to devide individual then it seizes to be sociology. It will be turned in to biology. समाजशास्त्रको यदि समाजशास्त्र रहना है तो उसे व्यक्तिको *इन्डिविज्युअल्* मानना ही पड़ेगा. पर क्योंकि समाजशास्त्र व्यक्तिको इन्डिविज्युअल् मानता है, इसलिये वह बायोलोजीपर जबरदस्ती करे "तुम उसका बायोलोजिकल डिविज़न् मत करो!" तो यह तो उचित नहीं. बायोलोजीको अपना काम अपने ढंगसे करना ही पड़ेगा. अन्यथा वह बायोलोजी ही नहीं रह पायेगी. अत: समाजशास्त्रका सिम्पल् इन्डिविज्युअल बायोलोजीमें डिविज़िबल् कॉम्प्लेक्स् हो जाता है. बायोलोजीका *सेल्स्* वहां भी इन्डिविज़िबल् है मगर केमेस्ट्रीमें वह भी मोलेक्युल् बन जाता है. और वह मोलेक्युल् भी फिज़िकल् एटम्स्में डिवाइड् हो ही सकता है. यदि बायोलोजी या कैमिस्ट्री यह सोच कर झघड़ा करें कि हमारे सेल्स् या मोलेक्युल् क्योंकि इन्डिविज़िबल् है इसलिये दूसरे शास्त्र उसका डिविज़न् नहीं कर सकते तो यह बात नहीं चल पायेगी. Human understanding will not allow it. Because the same human understanding which has produced Biology and Chemistry has also given rise to Physics . तो बायोलोजी या केमिस्ट्रीका जो सेल् या मोलेक्युल् होता है, वह फिज़िक्स्में अविभाज्य नहीं रह जाता है. वह भी डिविज़िबल् हो जाता है. और हम इस तथ्यको अच्छी तरहसे जानते हैं कि फिज़िक्स्के एटम्स् इन्डिविज़िबल् थे. 'एटम्' शब्द यूनानी 'अ-तोमन्' शब्दका अपभ्रंश है. यह 'तोमन्' शब्द पुनः विभाजनार्थक था. नैयायिकोंने अणु परमाणु द्व्यणूक त्रसरेणु आदि जो कल्पनायें की हैं वे बड़ी

मज़ेदार कल्पनायें हैं. मगर इसमें समझने लायक तथ्य यह है कि इस कल्पनाके भीतर भी...

मुझे अच्छी तरहसे याद है कि आजसे पचास-साठ साल पहले जब एक सौ छह या आठ तत्त्व विज्ञानने खोजे थे तब हिन्दुस्तानके आधुनिक विद्यालयोंमें पढ़े हुवे लोग नैयायिकों और वेदान्तिओं पर टूट पड़े कि तुम पांच तत्त्व या सात पदार्थ मानते हो पर देखो वैज्ञानिकोंने एक सौ छह तत्त्व खोज निकाले हैं. अरे मेरे भाई! उन एक सौ छहकी जगह बादमें एक सौ सत्ताईस तत्त्व खोज निकाले गये और भी न जाने कितने तत्त्व निकलते रहेंगे और कृत्रिम भी निर्मित हो पायेंगे... पर उन सभी तत्त्वोंका ''गणपति बापा मोरिया'' करते हुवे एटमिक् फिजिक्स्ने उनका इलेक्ट्रोन् न्युट्रोन् प्रोटोन् में विभाजन कर दिया. अब वो सबके सब तत्त्व कहां गये! केवल संघात रह गये. मैं जो बात कहना चाह रहा हूं उसपर ध्यान दें कि उन्हें संघात, विवर्त, आरम्भ अथवा परिणाम आप जिस तरहसे भी उसे कहना चाहें कह लें, मगर उससे भी आगे बढ़ कर आज *सब-एटमिक्-फिजिक्स्* आ गई है. उसने उन इलेक्ट्रोन् न्युट्रोन् प्रोटोन् के भी सत्ताईस चार्जिस् खोज निकाले हैं. अब हम सोच रहे हैं कि कहीं कोई ऐसा 'कासार्' तत्त्व मिल जाय कि जिसपर जाकर इस अवयवधाराकी विश्रान्ति हो पाये—''**को अद्धा वेद क इह प्र वोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः, अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेन अथो को वेद यतः आबभूव. इयं विसृष्टिः यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न, यो अस्य अध्यक्षः परमे व्योमन् त्सो, अंग!, वेद यदि वा न वेद**'' इस अवयवधाराकी विश्रान्ति होगी की नहीं होगी हमको पता नहीं है... ''**अणोर् अणीयान् महतो महीयान् आत्मा गुहायां परम् अस्य जन्तोः तम् अकृतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादात् महीमानम् ईशम्**'' . इसलिये हम उसको विरुद्धधर्माश्रय स्वीकारते हैं. विरुद्धधर्माश्रय स्वीकारते हैं इसलिये हम इस खण्डन-मण्डनकी

प्रक्रियाको बहुत आनन्दसे लेते हैं. हमें कोई संकोच नहीं होता है इस प्रक्रियामें. क्योंकि जब तत्त्व विरुद्धधर्माश्रय है तब खण्डन-मण्डन तो होना ही है. यदि खण्डन-मण्डन न होता हो तो उसकी विरुद्धधर्माश्रयतामें हमें सन्देह होने लगेगा. हम तो हमारे ब्रह्मकी विरुद्धधर्माश्रिताको कथमपि सन्दिग्ध बनाना नहीं चाहते हैं. इसलिये हम मुक्तमनसे खण्डन-मण्डनको आमन्त्रित करते हैं.

कल एक बात भावनाप्रत्यक्षकी आयी थी. मैने अपने पेपरमें इस विषयका खास उल्लेख किया था, लुड्विग् विट्गेन्स्टाईन्के फ्लक्च्युएटिंग ग्राफके उदाहरण द्वारा.

हम यह बात मानते हैं कि भावप्रत्यक्ष या भावनाप्रत्यक्ष... उन्होंने 'भावप्रत्यक्ष' कहा. हमारे यहांकी परिभाषामें हम उसको ''भावात्मकताका प्रत्यक्ष'' कहेंगे. भगवान्के दो स्वरूप हमारे यहां स्वीकारे गये हैं : १.आलम्बनविभावात्मक और २. स्थायिभावात्मक. हमारे भीतर भगवान्के बारेमें जो भाव पैदा होता है, उसे भी हम भगवान् मानते हैं. यहां तक कि हमारे भीतर रही हुयी भगवद्भक्ति भी भगवान्का ही एक रूप है. और उस भक्तिसे हम भगवान्के जैसे रूपकी धारणा करते हैं वैसा भगवान्का रूप भावात्मक होता है.

यह भक्ति तो उपलक्षण है. किसी व्यक्तिमें भगवान्के प्रति भक्तिका भाव नहीं है और द्वेषभाव है तो, वह भी भगवान्का ही एक रूप है, वह भी भगवान्के आनन्दका ही एक विलास है जो हमारे भीतर द्वेषकी तरह काम कर रहा है. इस द्वेषके वशात् हम भगवान्का जो रूप घड़ते हैं वह भी भगवान्का आलम्बनविभावात्मक रूप होता है. उपलक्षणविधिसे **''गोप्य: कामाद्, भयात् कंस:, द्वेषात् चैद्य:, सम्बन्धाद् वृष्णय:, भक्त्या वयं विभो:''** यों सारे रसभावोंको यहां हम स्वीकारते हैं. भगवान्के भावात्मक रूप एक नहीं अनेक

होते हैं. “**मल्लानाम् अशनिः, नृणां नरवरः, स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान, गोपानां स्वजनो, असतां क्षितिभुजां शास्ता, स्वपित्रोः शिशुः, मृत्युः भोजपतेः, विराड् अविदुषां, तत्त्वं परं योगिनां, वृष्णीनां परदेवता, इति विदितो रगंगतः साग्रजः**”. इस तरह भगवान्के बारेमें जितने भाव होते हैं वे सभी वस्तुतः भगवान्के भावात्मक रूप होते हैं. यह हमारा सिद्धान्त है. “**त्वं भावयोगपरिभावितहृत्सरोजः आस्ते श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ पुंसां यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय**”. यह ऑब्जेक्ट्में रही हुयी किसी तरहकी प्लास्टिसिटि है. जैसे कोई शिल्पकार पत्थरको घड़ कर मूर्ति बना देता है. महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य कहते हैं कि प्रत्येक चिन्तककी दृष्टिमें इस तरहकी कोई कारीगरी है. आप वहां न्याय, वैशेषिक आदि सभी मतोंको संकलित करके कहते हैं “**सर्ववादानवसरं नानावादानुरोधि तद् अनन्तमूर्ति तद् ब्रह्म अविभक्तं विभक्तिमत्**” . इन प्रत्येक चिन्तकोंकी दृष्टिमें, इन ऋषियोंकी दृष्टिमें; और नास्तिकोंकी दृष्टिमें भी इस तरहकी कारीगरी है कि जिससे “यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति तत्तद्वपुः प्रणयसे” स्तुति चरितार्थ हो जाती है. वह *वपुःप्रणयन* करता है.

स्वसृष्ट चेतनोंके भावानुरूप परमतत्त्व द्वारा *वपुःप्रणयन* के कारण उसके द्वारा परिगृहीत भावात्मक रूपोंमें याथार्थ्य आहित हो जाता है. ऐसे भाववाले द्रष्टाके हृदयारूढ़ भावके कारण परमात्माका वैसा भावात्मक स्वरूप अर्थाविसंवादी ज्ञानसे दृष्टिगोचर होने लगता है. कल्पनादृष्टि और भावदृष्टिमें यही अन्तर है कि कल्पनादृष्टिका अपने कल्पित अर्थके साथ संवाद होना नियत नहीं होता, यदि कल्प्यमान वस्तुमें कल्पनानुसारी बन पानेकी सामर्थ्य न हो तो. भावदृष्टिके वश वह सम्भव बन जाता है. हम यह मानते हैं कि सभी दृष्टिओंके साथ संवाद कर पानेकी ब्रह्मके भीतर एक तरहकी प्लास्टिसिटि जैसी सामर्थ्य है. शर्त यह है कि दृष्टि दिलकी सचाईसे होनी चाहिये, मतिकी सचाईसे होनी चाहिये. व्यवहारकी सचाईसे होनी चाहिये, पाषण्डसे नहीं होनी

चाहिये. यदि कोई दिलकी सचाईसे नास्तिक है, यदि कोई दिलकी सचाईसे अनीश्वरवादी है, तो फिर कोई चिन्ताकी बात नहीं है. महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य कहते हैं “**ब्रह्मतु शून्यमपि भवितुम् अर्हति. शून्यस्य परन्तु एतादृक् सामर्थ्यं नास्ति यद् ब्रह्म भवेत्**” ब्रह्ममें ऐसा सामर्थ्य है कि वह किसीके प्रति शून्यवत् हो पाता है, यदि कोई उसे वैसे भावयोगसे परिभावित करता है तो. शून्यमें यह सामर्थ्य नहीं है. शून्यवादका एक ऐसा भी इन्टर्प्रिटेशन् हमारे यहां है. शून्यवादका यह पोज़िटिव् इन्टर्प्रिटेशन् शून्यवादमें भी स्वीकारा गया है “**न रूपाद्यभावाद् रूपं शून्यं किन्तु रूपमेव शून्यं शून्यतैव रूपम्**” यह मोर्-ओर्-लेस् हमारी ब्रह्मदृष्टिके जैसी ही दृष्टि है. और यदि इस अर्थमें शून्यवाद है तो हमको वह बहुत अच्छा लगता है. वैसे एक बात सच कहूं तो मैं यह मानता हूं कि सर्वदृष्टिप्रहाणात्मक जो शून्यवाद है वह दर्शनशास्त्रमें एक ध्रुव है और सर्वदृष्ट्यनुग्रहात्मक हमारा शुद्धाद्वैतवाद दूसरा ध्रुव है. इन दो ध्रुवोंके बीच कुछ भूमध्यरेखाएं हैं कुछ कर्करेखाएं हैं. कई रेखाएं हैं. उन सब रेखाओका इन ध्रुवोंसे न आत्यन्तिक भेद है न आत्यन्तिक अभेद है. इन सभीके बीच किसी तरहका तादात्म्य है. यह हमारा सिद्धान्त है. इस सिद्धान्तके कारण हम तो यहां तक भी स्वीकारते हैं कि अनेकान्तवादका पक्ष हमारे पक्षके आस-पासका कोई पक्ष है. मगर हमारा उसमें अन्तर्भाव नहीं है. पहलेके कई सेमिनारोंमें इस पक्षका प्रतिपादन कर चुका हूं.

तो भावनाप्रत्यक्षके बारेमें मेरा यह ऑब्ज़र्वेशन् है. इसके बाद अवयव और अवयवी के प्रत्यक्षकी चर्चाके बारेमें मैने कुछ बातें कल बताई थीं. इस विषयमें वाल्लभ वेदान्तका यह स्पष्ट अभिप्राय रहेगा कि हमें अवयवीका प्रत्यक्ष होता ही है. यह इस बातका भी स्पष्ट प्रमाण है कि तत्त्व निरवयव ही नहीं होता. इसी तरह अवयवका भी प्रत्यक्ष हमें होता है, यह पुनः इस बातका स्पष्ट प्रमाण है कि अवयवोंका केवल संघात ही नहीं होता. कस्मिंश्चिद्

अवयविनि अवयवाः भवन्ति. केपुचिद् अवयवेपु पुनः अवयवी भवति. इसलिये केवल पुञ्ज ही होता है ऐसी बात नहीं है. इसका स्पष्ट प्रमाण भी हम देख सकते हैं. जैसे कारकी एसेम्ब्लिंग होती है. अनेक कलपुर्जोंको जोड़ कर कार बनाई जाती है. बनाई हुई कारमेंसे कोई कलपुर्जा निकाला भी जा सकता है. जब हम एक पुर्जेको निकाल कर दूसरा पुर्जा डलवाते हैं तो न्याय यह कहेगा कि अवयवोंके बदल जानेसे नूतन अवयवीका आरम्भ हुवा. यह एक दृष्टि है. लक्षणवादी दृष्टि. सामान्य दृष्टि या सरल दृष्टि ऐसी है कि एक कारमेंसे किसी एक अवयवको निकाल कर दूसरा अवयव डाला जा सकता है. निर्माणके समय अवयवोंमेंसे कार बनी परन्तु निर्माणके बाद अवयव कारमें अवस्थित हो जाते हैं. वृक्षोंसे वन बनता है और वृक्ष वनमें होते ही हैं. इस तरहकी बुद्धि भी होती ही है. अवयवोंमें कार/वन है अथवा कार/वनमें अवयव/वृक्ष हैं. हर सामान्य व्यक्ति यही कहेगा कि कारके बननेके बाद कारमें स्पेरपार्ट्स् होते हैं और बनानेवाला यही कहेगा कि स्पेरपार्ट्स्को जोड़नेसे कार बनती है.

रही बात विकारप्रत्यक्षकी. वाल्लभ वेदान्त विकारोंका प्रत्यक्ष स्वीकारता है. यदि वह न होता तो इन्द्रियको 'अविकारी' कैसे कहते? ब्रह्मको 'अविकारी' कैसे कहते? अतः विकारका प्रत्यक्ष होता है. मगर जब विकारका प्रत्यक्ष होता है तब वाल्लभमति ऐसी है कि कुछ न कुछ ऐसा है कि जो विकारमें उपादानभूत है और अविकारी है. इसलिये हम उसे 'अविकृतपरिणाम' कहते हैं. अब पुनः विरुद्धधर्माश्रयता आ गयी. फिरसे 'अर्धजरतीय'न्याय हो गया. पर हमको ऐसा लगता है कि ''यदि इदं स्वयम् अर्थानां रोचते तत्र के वयम्!''.

इस बातसे मुझे अपनी पुरानी बात याद आ गई. कुछ वर्ष पूर्व मेरी मूंछमें एक ओर श्वेत और दूसरी ओर श्याम केश थे.

मैं जब हरिद्वार गया तब दूधवालेने जोरसे कहा ''कहो भैया! कभी अहिरावण देखा था कि नहीं''. मैने कहा भाई देखले मुझे! मैं क्या करूं? क्या डाय् लगा कर आधी मूछको काली बनाता रहूं? मेरे भीतर धीरज है कि मेरी मूछका जो भाग आधा काला है वह कभी सफेद हो जायगा. तब तक धीरज तो रखनी ही पड़ेगी. ''तस्य धीराः परिजानन्ति योनिम्''. तो जब कोई विकारी होता है तो कुछ अविकारी भी होता ही है. इसलिये हम अविकृतपरिणाम स्वीकारते हैं.

इसी तरह प्रत्यक्षानुभव और स्वप्नानुभव के विषयमें जो रिडक्शनिज़म् अपना लिया गया कि स्वप्न निरालम्बन दीखता है, इसलिये सारे ज्ञान निरालम्बन होते हैं. या प्रत्यक्षमें, निर्विकल्पकप्रत्यक्षके प्रामाण्याग्रहवश जो भी ज्ञान हो रहा है वह बाह्यार्थजन्य ही होता है, इसलिये सारे ज्ञान यथार्थ ही होते हैं. इस तरहका रिडक्शनिज़म् वाल्लभ वेदान्तको मान्य नहीं है. क्योंकि हमारी बुद्धिमें **''संशयो विपर्यासो निश्चयः स्मृतिः स्वापः इति उच्यते बुद्धेः लक्षणं वृत्तितः पृथक्''** इस भागवतवचनके आधारपर कुछ ज्ञान बाह्यार्थजन्य माने गये हैं तो कुछ ज्ञान बाह्यार्थजन्य नहीं भी माने गये हैं. अतः सभी ज्ञानोंका इन दोमेंसे किसी एकमें अन्तर्भाव कर देना वाल्लभ वेदान्तकी दृष्टिसे मुझे मान्य नहीं लगता है.

बर्ट्रन्ड् रसेल्ने एक मजेदार उपहास किया है. एक बार रसेल् सोविएट् रशिया गये. वहां उन्होंने किसी डायलेक्टिकल् मटीरियलिस्ट् प्रोफेसर्से कहा कि At least you will also admit that there is something like mental phenomina in your brain, which is not made of mater. पर सोविएट सरकारका अधिकृत दर्शन क्योंकि Dilactical materialism था इसलिये उस प्रोफेसर्ने रसेल्से कहा कि No. No. We don't have anything like mind in our brain.

क्या मज़ेदार बात है! But do you know how Russell responded? He simply said: "But my politeness forbids me to accept you proposition". So I am also in this sense little bit polite that I am also not ready to accept such reductionistic propositions.

दूसरी बात प्रत्यक्षके बारेमें जो डॉ. मंगलाजीने एक प्रश्न उठाया कि ज्ञान फलाविसंवादी होना चाहिये कि नहीं? अर्थात् हमारे ज्ञानमें सप्रयोजनता है कि निष्प्रयोजनता है? प्रत्यक्ष तो एक उपलक्षण है क्योंकि इस सेमिनारका विचार्यविषय प्रत्यक्ष है. परन्तु सारे ज्ञान और सारे अस्तित्वमें सप्रयोजनकता है कि निष्प्रयोजनकता है, यह विचार्य विषय होना चाहिये. किसी कारणसे हमारे भारतीय दर्शनमें इस विषयकी चर्चा बहुत नहीं हुयी है. उसका मुख्य कारण यह होना चाहिये कि हमारे यहां एरिस्टोटल् नहीं हुवा. एरिस्टोटल्ने चार कारणोमें प्रयोजनको भी कारणतया स्वीकारा है. 'नियतपूर्वभावित्व' की हमारी कारणकी परिभाषाके अनुसार प्रयोजन कारणतया सिद्ध नहीं हो सकता है. क्योंकि प्रयोजन कार्योत्तरभावी होता है. मगर एरिस्टोटल्ने प्रयोजनको कारण माना.

आधुनिक विज्ञानके उद्भवके साथ वहां यूरोपमें सृष्टिकर्ताका अस्तित्व निरस्त होता लगा तब नीट्ज़ेकी प्रसिद्ध बात आपने सुनी होगी कि वह क्रिसमस्के दिन चर्चमें टोर्च ले कर गया और घोषणा करने लगा कि God is dead!". अब किसकी प्रार्थना कर रहे हो? हेतु उसमें क्या था? Exixtetial Predicament. हेतु उसमें यही था कि जिस भगवान्के दिमागमें प्रयोजन था, जो भगवान् कर्ता कहा माना गया था वह कर्ता जब नही रहा तो अब वस्तु-सत्तामें प्रयोजनको आहित करनेवाला भी नहीं रहा. इसलिये सारा एक्ज़िस्टेंस् निष्प्रयोजन हो गया. ExixtetialPredicament के अनुसार केवल चेतना

ही निष्प्रयोजन अस्तित्वमें प्रयोजनका आधान कर सकती है. और मेरी चेतना अकेली होती तो... सार्त्रने एक ड्रामासे इस बातको बहुत अच्छी तरहसे उभारा है कि आपका अस्तित्व मेरेलिये नरक है. क्योंकि मेरे भीतर जो भी कुछ प्रयोजन हैं उनके साथ जो कुछ भी विरोध आता है वह आपके कारण आता है. अत: 'नरक'का अर्थ है आप. अहं स्वर्ग है और त्वं नरक है. क्योंकि मेरे अहंमें रहे हुवे प्रयोजनके आधानकी क्षमतामें त्वम् विघ्न करता है. और जड़वस्तु निष्प्रयोजन होती तो मैं आधान कर देता. मगर सामने भी यदि सप्रयोजन वस्तु हो और उसके और मेरे प्रयोजन यदि एक न हों तो अस्तित्व नरकायित हो जाता है. यही समस्या प्रत्यक्षमें भी आती है कि प्रत्यक्ष ज्ञान और प्रत्यक्षके विषय में सप्रयोजनता है कि निष्प्रयोजनता है.

मैं अपनी बात स्पष्ट करना चाहूंगा कि बम्बईसे पूना आते हैं तो ट्रेनका प्रयोजन होता है पूना आना. मगर वह प्रयोजन उस ट्रेनमें सवार हर यात्रीका बलात् नियमन कर नहीं पाता. पूना आनेवाली ट्रेनमेंसे भी कोई लोनावाला न उतर सके ऐसा ट्रेनका प्रयोजन सर्वतो अतिशायी हो नहीं सकता. तो ट्रेनका प्रयोजन यात्रीके ऊपर बन्धनकारी नहीं होता है और न यात्रीका प्रयोजन ट्रेनके ऊपर बन्धनकारी हो पाता है. दोनोंके प्रयोजनोंमें हमको तादात्म्य स्वीकारना चाहिये. दोनोंके प्रयोजनमें प्रतिरूपता भी हो सकती है. जब बम्बईसे पूना आती ट्रेनमे बैठ कर आप उलटे बम्बई जाना चाहते हों. इस तरहकी कुछ लाचारियां हैं. मगर बम्बईसे निकली ट्रेनमें हम बैठे हैं इसलिये हमको पूना ही उतरना यह आवश्यक नहीं है. सारे प्रत्यक्षको फलाविसंवादी या विकल्पोंके प्रयोजनमें ही नियततया पर्यवसित होता माना नहीं जा सकता. दर्पणगत प्रतिबिम्बका प्रत्यक्ष फलाविसंवादी होनेपर भी यथार्थ नहीं होता और बहुत सारे ऐसे यथार्थ प्रत्यक्ष या प्रत्यय ऐसे हो सकते हैं जिनके साथ जुड़े किसी तरहके फलको खोज

पाना शक्य नहीं होता. ऐसा भी नहीं कि सारा प्रत्यक्ष विकल्पके प्रयोजनमें पर्यवसित ही होता हो या सारे विकल्प निर्विकल्पक प्रत्यक्षके विषयमें ही पर्यवसित होते हों. इस तरहकी ऐकान्तिकता हमको मान्य नहीं है.

इसीके सन्दर्भमें कहना चाहुंगा कि सेन्सा, सेन्सडेटा, परसेप्ट या कन्सेप्ट मेंसे किसी भी एकमें सारी प्रत्यक्षानुभूतिके रिडक्शनिज़मका अनुष्ठान करने भी वाल्लभवेदान्त तैयार नहीं है. प्रत्यक्षके बारेमें हमारे इस दृष्टिबिन्दुको हम स्पष्ट करना चाहते हैं.

अन्तमें वक्तव्यके उपसंहारार्थ कहना चाहुंगा कि विभिन्न विचारधाराओंके अनुसार प्रत्यक्षानुभूतिकी इतनी सुविशद विवेचना कोई अध्ययनार्थी अपने पुरुषार्थके बलपर समझना या समझाना या लेखबद्ध करना चाहे, और वह भी इतने स्वल्प समयमें, तो यह सर्वथा एक अशक्यता ही प्रतीत होगी. परन्तु इस विचारगोष्ठीमें सहभागी होनेवाले सभी महानुभावोंने जिस सरलतासे सभी सहभागिओंको स्वयं उनके और दूसरे मतवादोंको भी भलीभांति अवधारित कर पानेको अपने-अपने तलस्पर्शी विवेचनसे लाभान्वित किया वह वस्तुतः धन्यवादप्रदानकी औपचारिकतासे कहीं अधिक स्पृहणीय महर्घता लिये हुवे है![*]

* * *

---

[*] यह वक्तव्य वैसे तो प्रत्यक्षविचारगोष्ठीके अन्तिमदिवसीय सत्रके अध्यक्ष डॉ. श्री वी.एन. झाजीके अध्यक्षीय वक्तव्यसे पूर्व समापनसमारोहमें दिया था परन्तु थोड़े-बहुत संशोधन-परिवर्धनके साथ इसे अविकल भूमिकाके रूपमें दे देना उपयुक्त लगता होनेसे यहां मुद्रित किया जा रहा है (गो.श्या.म.).

* प्रत्यक्षप्रमाकरणनिरूपकः तृतीयः तरङ्गः *

प्रत्यक्षस्य लक्षणं तत्र प्रत्यक्षे चक्षुरादिभेदेन षट् करणानि इति निरूपणम् :

अथ प्रत्यक्षं निरूप्यते :—

''इन्द्रियात्मकं प्रमाणं''=प्रत्यक्षम्.

दोषदुष्टेन्द्रियवारणाय 'प्रमाणम्' इति. शब्दादिवारणाय 'इन्द्रिय'- इति. तानि चक्षुः-त्वग्-घ्राण-रसन-श्रवण-मनोभेदेन षट्.

मनः इन्द्रियं नेति मतस्य निरासः :

यत्तु *मनो न इन्द्रियम्, ''इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था ह्यर्थेभ्यश्च परं मनः'' (कठोप. १।३।१०) ''मनः सर्वेन्द्रियाणि च'' (नारा.उप.१ – मुण्ड.उप.२।१।३) इत्यादिश्रुतौ भेदनिर्देशात्. ''मनः षष्ठानीन्द्रियाणि'' (भग.गीता.१५।७) इति भगवद्वाक्यन्तु ''यजमानपञ्चमाः... इडां भक्षयन्ति'' (श.प.ब्राह्म.२।४।४।२५) ''वेदानध्यापयामास महाभारतपञ्चमान्'' (ब्रह्मा.पुरा.२।३।३५।१४) इत्यादौ यथा अनृत्विजो यजमानस्य अवेदस्य महाभारतस्य च पञ्चत्वसंख्यापूरकत्वं तद्वत् मनसः षट्त्वसंख्यापूरकत्वेनापि उपपद्यते* इति **केचिद् आहुः**.

तत् न, ''इन्द्रियाणां मनश्चास्मि'' (भग.गीता.१०।२२) इत्यस्य विरोधात्. नच *इदं विभूतित्वमात्रगमकं ''नक्षत्राणाम् अहं शशी'' (भग.गीता.१०।२१) ''ज्ञानं ज्ञानवताम् अहम्'' (भग.गीता.१०।३८) इत्यादिवत् नतु तज्जातीयत्वस्यापि* इति वाच्यं, बाधकाभावात्. उक्तश्रुतेः उत्कर्षमात्रपरत्वेनापि उपपत्तेः. शशिनि नक्षत्रव्यवहारस्य — ज्ञाने च तद्वत्ताव्यवहारस्य — अदर्शनात्, तत्र तन्मात्रपरत्वेऽपि, अन्यत्र तथा वक्तुम् अशक्यत्वात्. नच विनिगमनाविरहः, प्रायपाठेनैव निर्णयात् ''इन्द्रियाणि दशैकं च'' (भग.गीता.१३।५) इति वाक्यात् च. नच *इदं दत्तोत्तरम्!* इति

वाच्यम्. अत्र तथा वक्तुम् अशक्यत्वात्. तथासति इन्द्रियेभ्यः पूर्वं “महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः” (भग.गीता.१३।१५) इति पूर्वार्धे बुद्ध्या महतः क्रमः स्यात्. “हस्तादि...” (ब्र.सू.२।४।६) सूत्रे प्राणगणनायां भगवता व्यासेनापि अंगीकारात् च.

यद्वा इन्द्रियत्वम् अनिन्द्रियत्वं च इति उभयमपि अस्तु क्रियाज्ञानमयत्ववत्, यमे देवत्वपितृत्वयोरिव उभयोः निवेशेऽपि बाधकाभावात्. इन्द्रियत्वस्य अजातित्वात्. नच भावाभावविरोधो, धर्मान्तरत्वस्यापि उपगन्तुं शक्यत्वात्. नच *अनिन्द्रियत्वे क्रमविरोधः* शंक्यः, उत्कर्षमात्रार्थमेव अनिन्द्रियत्वादरणाद् इति दिक्.

चक्षुरादीन्द्रियग्राह्यविषयाणां स्वरूपम् :

एतेषाम् इन्द्रियाणां स्वरूपन्तु — अणुतमम् अतीन्द्रियम् अनित्यं चिरस्थायि विकारि च, इति — अग्रे प्रमेयप्रकरणे वक्तव्यमिति, साम्प्रतं तद्योग्यविषयादिकमेव उच्यते प्रमाणविभागज्ञानार्थत्वात्.

तत्र चक्षुर्योग्याः — उद्भूतरूपं, तद्वान्[पा.भे.१], उद्भूतरूपवन्मात्रवृत्तयः, संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-परत्वापरत्व-वेगाः, कर्म च तदीयं, तेषां जातिः, तत्समवायः च इति. स्नेहद्रवत्वेतु त्वग्ग्राह्ये इति वक्ष्यते. ‘मात्र’ पदं वायुघटसंयोगादिवारणाय. आकाशस्यतु न संयोगः प्रमाणाभावात्, तस्य स्पर्शे अन्तर्भावस्य वक्ष्यमाणत्वेन तत्र तदभावात् च. ‘समवाय’ पदम् अत्र तादात्म्यवाचकं ज्ञेयम्. तत्र द्रव्यचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति उद्भूतरूपवत्त्वेन योग्यता. अतः परमाणुपिशाचादीनाम् उद्भूतरूपाभावेनैव चक्षुषा अग्रहो, नतु महत्त्वसामानाधिकरण्यमपि तत्र निवेशनीयम्, अप्रयोजकत्वात्, परमाणुषु उद्भूतरूपसत्त्वे युक्त्यभावाद् इति. एवं द्रव्यगतधर्मचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति उद्भूतरूपवन्मात्रवृत्तित्वेन योग्यता. धर्मगतजात्यादिचाक्षुषं प्रति योग्यद्रव्य-वृत्ति-वृत्तित्वेन सा बोध्या. उद्भूतत्वञ्च आविर्भूतत्वम् अनुद्भूतत्वं च

तिरोभूतत्वम् — इति च ग्रहणेऽपि [पा.भे.२] पूर्वं रूपस्य ग्रहणं, मुख्यतया तस्यैव विषयत्वात्. ततो द्रव्यादीनान्तु रूपद्वारकम् [पा.भे.३] इति बोध्यम्.

वाह्यास्तु, *रूपाद्यतिरिक्तं द्रव्यं न* **इच्छन्ति**, तत्तु आगमापायिषु रूपादिषु स्थिरत्वेन घटादेः अनुभूयमानत्वादेव निरस्तम्.

अथ त्वग्-योग्याः — उद्भूतस्पर्शः, तद्वान्, उद्भूतस्पर्शवन्मात्रवृत्तयः उक्तगुणादयः, तेषां जातिः, तत्समवायः च. नच *वायुः वायुपरिमाणं च त्वचा न गृह्यते* इति वाच्यं, "वायुः वाति" "स्वल्पो वायुः" "महान् वायुः" इत्याद्यनुभवापलापप्रसङ्गात्.

एवं घ्राणयोग्याः — उद्भूतो गन्धः, तद्वान्, तज्जातिः, तत्समवायः च.

एवं रसनायोग्याः — उद्भतो रसः, तद्वान्, तज्जातिः, तत्समवायः च.

श्रोत्रयोग्याः — उद्भूतः शब्दः, तद्वान्, तज्जातिः च इति.

अन्येतु *घ्राणरसनश्रवणानां द्रव्यग्राहकत्वं न* **इच्छन्ति.**

तत् न अस्माकं रोचते, तमसि रसनया दुग्धादेः, घ्राणेन चम्पकादेः, श्रवणेन भेर्यादेः, अनुभवस्य व्याप्तिज्ञानविधुराणामपि दर्शनाद्, अनुव्यवसायविरोधेन स्मृतिरूपत्वस्य तत्र वक्तुम् अशक्यत्वात् च. नच *उपनीतभानं तद्* इति वाच्यं, तथात्वे मानाभावाद् घ्राणादीनां द्रव्याग्राहकत्वस्य [पा.भे.४] अभ्युपगमैकशरणत्वाद् इति दिक्. तेन उद्भूततत्तद्गुणा पृथिवी पञ्चानाम् इन्द्रियाणां योग्या, तादृश्यः आपो घ्राणव्यतिरिक्तानां चतुर्णां, तादृशं तेजो घ्राणरसनभिन्नानां त्रयाणां, तादृशो वायुः त्वक्श्रवणयोः द्वयोः, आकाशस्तु प्रमेयबलादेव चाक्षुषः, उद्भूतशब्दस्तु श्रावणोऽपि प्रतिध्वनिश्रवणेन गर्भगृहाद्याकाशावगमात्. दिक्कालौतु ग्राह्यार्थविशेषणतयैव गृह्येते न साक्षात्.

मनसस्तु कामादयो वृत्तयएव मनोग्राह्याः.

केवलात्मनः इन्द्रियाग्राह्यत्वनिरूपणम् :

आत्मातु, केवलः, शास्त्रीयसाधनम् अन्तरेण न प्रत्यक्षो, तथा [पा.भे.] तद्धर्माः च. किञ्च ''केवलात्मा लौकिकप्रत्यक्षाविषयः विभुत्वाद् आकाशादिवत्. स्वात्मा लौकिकप्रत्यक्षायोग्यः आत्मत्वात् परात्मवद्'' इति अन्वयव्याप्त्या तन्निश्चयात्, सिद्धान्तेतु, [टि.१] ''यन्न स्पृशन्ति न विदुर्मनो- बुद्धीन्द्रियासव'' (भाग.पुरा.६।१६।२३) इति वाक्यात्: तथा, अणुत्वात् परमाणुवद् इति अनुमानात् च. 'अहं'बुद्धिस्तु [टि.२] पटावृतघटबुद्धिवद् अहंकारसंसर्गद्वारिका व्यवहारोपयोगित्वात् प्रमाभासरूपैव, अहन्तातादात्म्यभानेन भ्रमरूपत्वात्. ''यन्न स्पृशन्ति नविदुर्मनोबुद्धीन्द्रियासवः'' (भाग.पुरा.६।१६।२३) इति वाक्ये मनसो असंसर्गादिकथनात् च.

तमःप्रतिबिम्बादिग्रहणप्रणाली :

तमः-प्रतिबिम्ब-गन्धर्वनगरेन्द्रजालादि-प्रतीतिरपि पदार्थस्वभावादेवेति, न तत्र कार्यकारणभावान्तरापेक्षा नापि तामसेन्द्रियस्य [पा.भे.६].

अन्धकारस्थ-घटादिषुतु नृचक्षुः प्रति मायया तमोजननात् तदेव विषयीक्रियते, नतु विषयः तदावृतत्वात्. एवञ्च विषयालोकसंयोगस्य सहकारितापि न कल्पनीया, अभास्वर-द्रव्य-चाक्षुषत्वावच्छिन्नं [पा.भे.७] प्रति दूरत्व-व्यवधानाभावादिविशिष्ट [पा.भे.८]स्य विषयतयैव निर्वाहाद्, ''यथाहि भानोरुदयो नृचक्षुषां तमो निहन्याद् नतु तद् विधत्ते'' (भाग.पुरा.११।२८।३४) इति वाक्ये भगवता सूर्योदयस्य नृचक्षुः-सम्बन्धि-तमो-निवारकत्वेनैव कथनेन आलोकसंयोगस्य विषयादिसंस्कारकतायाः विरुद्धत्वात्. एवञ्च उलुकबिडालादीनाम् आलोकसंयोगाभावे वस्तुचाक्षुषमपि अनुकूलीभवति. तमस्तु पदार्थान्तरमेव न तेजोऽभावः, ''अन्धकारोऽस्त्रियां ध्वान्तम्'' (अम.को.१।८।३) इत्यादिनामपाठात्, ''ध्वान्ते गाढेऽन्धतमसम्'' (अम.को.१।८।३) इत्यादिभेदपाठात्, ''हतरूपन्तु तमसा वायौ ज्योतिः प्रलीयते स्वतेजसापिबत् तीव्रमात्मप्रस्वापनं तमः'' (भाग.पुरा.११।३।१४)

इति वध्यघातकविरोधकथनात् च. विशेषस्तु अन्धकारवादे अस्माभिः प्रपञ्चितइति न इह प्रतन्यते.

तथा प्रतिबिम्बस्यापि पदार्थान्तरत्वं तद्वादादेव अवसेयम्.

तन्न्यायेन गन्धर्वनगरादेरपि, मायिकत्वस्य सर्वत्र तुल्यत्वात्.

अभावस्य उपादानकारणे आविर्भावतिरोभावयोः च अन्तर्भावात् तद्ग्राहक-सामग्री-ग्राह्यत्व-निरूपणार्थम् अभाव-चतुष्टय-स्वरूप-विचारः :

अभावस्तु, कारणे आविर्भावतिरोभावयोः च, यथासम्भवम् अन्तर्भवतीति तद्ग्राहकसामग्र्यैव गृह्यते. कथम् अन्तर्भावः ? इति चेद् उच्यते. प्रागभावध्वंसौ समवाय्यवस्थाविशेषरूपौ :—

(१)''तिरोभावसहकृता कार्याविर्भावानुकूलावस्था''=प्रागभावः.
(२)''तादृशी कार्यस्थितिप्रतिकूलावस्था''=ध्वंसः

इति, तदतिरेके मानाभावात्.

(१)नच *''इह कपाले घटो नास्ति'' इति प्रतीतिरेव तत्र मानम्* इति वाच्यं, तस्याः घटत्वावच्छिन्न-प्रतियोगिताकाभाव-विषयतया घट-संसर्गाभाव-सामान्यत्वेन प्रागभावात्मक-विशेषानवगाहित्वात्. नापि ''इह कपाले घटप्रागभावः'' इति प्रतीतिः तत्र मानं, तस्याएव अभावात्. तथा आग्रहेऽपि असार्वजनीनत्वेन प्रतिवाद्यनादरणीयत्वात्.

किञ्च अनया प्रतीत्या आपाद्यमानः प्रागभावः किं सकलघटप्रतियोगिकः एकः उत यत्किञ्चित्तत्तत्प्रतियोगिको नैकः ?

न आद्यः, तस्य प्रतियोगिनाश्यत्वोपगमाद् यत्किञ्चिद्घटोत्पत्तावपि तन्नाशसम्भवे ''इदानीम् अत्र कपाले घटो नास्ति — इदानीम् अत्र घटप्रागभावः''

इति प्रतीतिबाधापत्तेः. नच *सकलप्रतियोगिनाश्यः स* इति वाच्यं, तथा सति एकस्मिन् घटे उत्पन्नेऽपि तत्प्रागभावानाशात् तदवयवत्वेन प्रतीयमानेषु कपालेष्वपि “अयं घटो नास्ति – अत्र एतद्घटप्रागभावः” इति प्रतीत्यापत्तेः. नच *प्रतियोगिसत्तया प्रतीतिप्रतिबन्धात् न दोषः* इति वाच्यं, तथा सति प्रागभावप्रतियोगिनोः एकत्र स्थितौ सकल-प्रतियोगि-नाश्यत्वस्यापि अयुक्तिसहत्वात्, प्रतियोगिनां नश्वरत्वेन साफल्यस्यापि अशक्यवचनत्वाद्. एवं नाशकानिर्वाच्यत्वे “विनाश्यऽभावः प्रागभावः” इति लक्षणासम्भवापत्तेः च. नच *गन्धाद्यनधिकरणकाल- वृत्यभावत्वस्य अदृष्टत्वावच्छिन्नानधिकरण-काल-वृत्यभावत्वस्य वा तल्लक्षणस्य सत्त्वात् न लक्षणासम्भवः* इति वाच्यं, सृष्टिपूर्वदशायां जन्यज्ञानसामग्र्यभावेन ज्ञातुः अभावात् तदा तत्सत्त्वस्य अप्रामाणिकत्वेन अनवसरपराहतत्वात्. ईश्वरः पश्यति! इति चेत् तर्हि तदाज्ञया मंस्यामो न भवद्वाचा इति दिक्.

न द्वितीयो, अभावज्ञानस्य धर्मिप्रतियोगिज्ञानाधीनतया तदानीं प्रतियोगिज्ञानाभावेन तत्प्रागभावस्य ज्ञातुम् अशक्यत्वात्. घटत्वेन रूपेण प्रतियोगिज्ञानाङ्गीकारे प्रागभावस्यापि सकलप्रतियोगिसामान्यतायां पूर्वविकल्पीय-दूषणापत्तेः. नच *घटत्वादिरूप-सामान्यलक्षण-प्रत्यासत्त्या भाविघटविषयक लौकिकज्ञानस्य संस्कारवशाद् उपनीतभानस्य वा शक्यवचनत्वात् न एवम्* इति वाच्यम्, अनुभवाभावेन भाविघटविषयकसंस्कारस्य अभावेन उपनीतभानस्य अशक्यवचनत्वात्. अलौकिकज्ञानपक्षेऽपि पूर्वं सकलघटादिविषयक-तादृशज्ञानोत्तरं प्रागभावस्य प्रतियोगिनाश्यत्वानुसन्धानाद्, विरोधप्रतिसन्धाने तत् संकोचनीयम्. पूर्वं तादृशप्रतिसन्धाने संकुचितमेव तद् उत्पद्यते इति वा वक्तव्यम्. तदुत्तरञ्च भाविघटीयप्रागभावज्ञानं वक्तव्यम्. तथा सति आत्माश्रयः, भावित्वस्य प्रागभावघटितत्वात्. यदि च वर्तमान-कालोत्तर-कालवर्त्युत्पत्त्याश्रयत्वं भावित्वम् इति उपेयते तदातु प्रागभावाप्रतीतिरेव.

एतेनैव “घटो भविष्यति” इति प्रत्ययेनापि तत्प्रतीतिरपि अपास्ता, भविष्यत्ताप्रत्ययस्य तैनैव सम्भवात्.

नापि अनुमेयत्वम्. तथाहि ''कपालं घटप्रागभाववत् घटीय-चरम-सामग्रीवत्त्वाद् यो यच्चरमसामग्रीवान् स तत्प्रागभाववान् पटीय-चरम-सामग्री-विशिष्ट-तन्तुवद्'' इत्यादिषु प्रयोगेषु प्रागभावरूप-साध्यतावच्छेदकावच्छिन्न-साध्याप्रसिद्ध्या अनुमानासम्भवाद् इति. अतः तद्[पा.भे.९] ग्राहक-मानाभावात् सामयिकात्यन्ताभावेनापि प्रतीतिनिर्वाहात् च न प्रतीत्यादिना तत्सिद्धिः.

ननु मास्तु प्रतीत्यादिना तत्सिद्धिः. तथापि घटत्वेन कपालत्वेन सामान्य-कार्य-कारण-भावे सत्यपि, एतेभ्यः कपालेभ्यः एतद्घटोत्पत्तौ कपालत्वेन नियमासम्भवाद्, एतत्कपालत्वेन नियमाङ्गीकारे च विनिगमनाविरहाद्, बहुकपालजन्ये घटे गौरवग्रासात् च तद्देशनियामकः कश्चिद् वक्तव्यः. तादृशश्च भावाभावयोः मध्ये न प्रागभावाद् अन्यइति, तद्देशनियामकतया प्रागभावः सेत्स्यति इति चेत्,

मैवं, सत्कार्यवादे कार्यस्य कारणे सतएव अभिव्यक्तेः, कारणादेव देशनियमसम्भवेन च तथासिद्धेः अभ्युपगमैकशरणत्वाद्, बहुकपाले घटेऽपि समुदायस्यैव कारणत्वेन गौरवाभावात्, श्वो भाविनो अद्य अभावेन तत्कालवैशिष्ट्यस्य आवश्यकतया तेनैव निर्वाहात् च. नच *प्रागभावानङ्गीकारे उत्पन्नस्य पुनः उत्पत्तिप्रसङ्गः, कालोपाधीनां क्रमिकत्वेन तद्वैशिष्ट्य-तिरोभावकृत-सामग्रीविघटनादेव तदभावसिद्धेः. अतो न एवमपि प्रागभावसिद्धिः. नच *यत्र पक्वे घटे युगपत्[पा.भे.१०] स्पर्शरूपरसगन्धानां पाकजानाम् उत्पत्तिः, तत्र, कारणस्य कालवैशिष्ट्यस्य च साधारणत्वात् तादृशस्पर्शादिप्रागभावं विना न निर्वाहः* इति शंक्यं, तादृशविपरिणामस्य पाकसहकृत-स्पर्शादिस्वभावेनैव सम्भवात्, स्वभावस्य धर्मत्वेन तत्कल्पनेऽपि लाघवात् च. एवम् अव्याप्यवृत्तिसंयोगादेः तत्तदवच्छेदेन उत्पत्तावपि कारणस्वभावस्यैव नियामकत्वं बोध्यम्. नच *प्रागभावानङ्गीकारे कारणशरीरे प्रविष्टस्य पूर्ववर्तित्वस्य कथं ग्रहणं तस्य प्रागभावावच्छिन्न-समयवर्तित्वरूपतया प्रागभावग्रहाधीनत्वाद्* इति वाच्यम्, आविर्भावकशक्त्याधारत्वस्यैव कारणत्वेन 'पूर्ववर्तित्व' घटितलक्षणस्यैव अनादरणीयत्वेन तद्ग्रहणस्य अनावश्यकत्वाद्.

आवश्यकत्वेऽपि कार्यविषयकाग्रिम-जनन-ज्ञानेनैव तद्ग्रहणसम्भवात्. अन्यथा प्रागभावस्यापि कारणत्वेन तन्निष्ठपूर्ववर्तित्वस्यापि प्रागभावघटिततया तद्ग्रहणे आत्माश्रयेण प्रागभावकारणतादिज्ञानस्यापि असम्भवापत्तेः. प्रागभावस्य ज्ञायमान-कारणावस्थाविशेष-व्यंग्यत्वेन तस्य च उक्तरीत्या प्रागभावज्ञानाधीनज्ञानकत्वेन चक्रकापत्तेः च. नच *तस्य न कारणावस्थाव्यंग्यत्वम्* इति वाच्यं, घटजननाकूलां कारणावस्थाम् अपश्यतः कस्यापि ''इह घटो भविष्यति, इदानीम् अत्र घटप्रागभावः'' इति बुद्ध्यनुदयेन तथात्वस्य तवापि आवश्यकत्वात्. नच *अभ्यासपाटवादेव उदयसम्भवात् न तथा* इति वाच्यं, तथा सति कारणादर्शनेऽपि तदुदयापत्तेः. तस्मात्[टि.१] न कारणावस्थातिरिक्तः प्रागभावः.

(२)तथा ध्वंसोऽपि, कार्यस्थितिप्रतिकूलां कारणावस्थां पश्यतएव ''इह घटो ध्वस्तः'' इत्यादिप्रत्ययात्. नच *सामयिकात्यन्ताभावस्य घटाप्रतिकूलत्वाद् ध्वंसानङ्गीकारे घटोन्मज्जनापत्तिः* इति वाच्यं, तादृगवस्थायाः सत्त्वात् निमित्तविघटनात् च तथा आपादयितुम् अशक्यत्वात्. यत्रच अवस्थातिरोभावः तत्र उन्मज्जनेऽपि बाधकाभावः. अतएव ताम्रादिघटेषु भङ्गोत्तरमपि निमित्तान्तरेण पुनःसन्धानमपि युज्यते. तस्य घटान्तरत्वाङ्गीकारस्तु केवलम् अभ्युपगमैकशरणइति शब्दनित्यतावादोक्तिदिशैव अवगन्तव्यम्.

किञ्च आश्रमवासिकपर्वस्थ-कुरुपाण्डवसैन्य-प्रदर्शनस्य कश्यपकृतस्य तक्षकदग्धवटतरूज्जीवनस्य च भारतादौ दर्शनात्, तादृशस्थले पदार्थान्तरत्वस्य वक्तुम् अशक्यत्वं च इति विद्वन्मण्डने प्रभुचरणैरेव व्युत्पादितम्.

नच 'ध्वंस'-'प्रागभाव' शब्दाभिलापबाधः, 'कार्य-कारणा'दिशब्दवत्-सापेक्षवृत्तिकत्वेन कार्यस्थितिम् अग्रिमजननं च अपेक्ष्य कारणएव तदभिलापस्य सुखेनैव उपपत्तेः. एवं 'भावि'-'ध्वस्त' शब्दावपि अग्रिमजननपूर्वस्थिती अपेक्ष्य, सत्येव कार्ये प्रयुज्येते न असति, तेन जननानुकूल-कारणावस्था-निरूपकत्वं भावित्वं स्थितिप्रतिकूलकारणावस्थानिरू-

पकत्वं ध्वस्तत्वम् इति बोध्यम्. नच *प्रागभावध्वंसदशायां कार्यसत्त्वे तद्दर्शनप्रसङ्गः* शंकनीयः, सौक्ष्म्यादेव तदभावोपपत्तेः. सूक्ष्मत्वञ्च अनुद्भूताकृतिकत्वम्.

सत्कार्यवादप्रपञ्चः उत्पत्तिवाददूषणं च आविर्भावतिरोभाववादे सम्यग् उपपादितमिति न इह तद्विस्तरः.

तस्माद् ध्वंसोऽपि कारणावस्थातो न अतिरिच्यते.

(३)अन्योन्याभावस्तु : प्रतियोगितावच्छेदकारोपापवाद-लक्षणकत्वे प्रतियोगितावच्छेदकता-नियामक-सम्बन्धावच्छिन्न- प्रतियोगितावच्छेदकात्यन्ताभावरूपत्वे च अत्यन्ताभावएव, तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न-प्रतियोगिताकाभाव-रूपत्वेतु अतिरिक्तः.

तत्र अतिरिक्तपक्षे ‘‘घटः पटो न’’ इत्यादिप्रत्ययस्य तादात्म्यसम्बन्धारोप-पूर्वक-तदभावावगाहितया प्रतियोगि-तिरोभाव-संकीर्णानुयोगि-स्वरूपविषयत्वात् स्वरूपएव निविशते. यदिच तत्र ‘‘घटप्रतियोगिकान्योन्याभाववान् पटः’’ इति बोधः आपाद्यते तदा पृथक्त्वएव निविशते. तच्च आविर्भावविशेषएव, तस्यैव इतरव्यावर्तकत्वाद् इतरव्यावृत्तत्वात् च. ‘‘अयम् अस्माद् भिन्नो अन्यः पृथग्’’ इत्यादि-व्यवहार-साधकत्वेन तस्य आविर्भावातिरेके मानाभावात्. ‘‘घटः पटो न’’ इत्यत्र पञ्चम्यभावस्तु अनुशासनाभावात् स्वरूपात्मकत्वाद् वेति न तेनापि अतिरेकसिद्धिः.

नच *इतरतिरोभावएव घटापटाद्याविर्भावः[पा.भे.११]* इति वाच्यं, तस्य व्याप्य- वृत्तित्वे घटाप्रतीतिप्रसङ्गाद्, अव्याप्यवृत्तित्वे तस्यापि तिरोभावान्तरं कल्पनीयम् इति कल्पना तौल्यात्, अतो भावमुखप्रतीतेः ‘‘आविर्भावतिरोभावौ शक्ती वै मुरवैरिणः’’ (   ) इतिवाक्यात् च आविर्भावाभ्युपगमस्य

आवश्यकत्वात् नाग-ताम्रैक्ये कांस्यवद् अविविक्तौ विवक्षित-वस्त्वाविर्भाव-तदितर-तिरोभावावेव पृथक्त्वम्. तस्य भावप्रतीत्याधिक्याच्च आविर्भाव-विशेषत्वं तेन पृथक्त्वग्राहकसामग्र्यैव तद्ग्रहः.

(४) अतः परम् अत्यन्ताभावो अवशिष्यते. सतु तिरोभावएव. ''इहभूतले घटो नास्ति'' इत्यादिप्रतीतेः तिरोभावावगाहित्वात्, तिरोभावएव हि 'नास्ति' इति व्यवहारदर्शनाद्, घटाभावाभावस्य घटात्मकत्वेन संकीर्णत्वेऽपि अभावमुखप्रतीत्या तिरोभावत्वाव्यभिचारात्. 'अभाव' पदेनापि भाव-प्रतियोगिक-पृथक्त्ववानेव प्रतीयते, ''न भावो अभावः''—इति भावभिन्नो अभावइति. सच निषेधपूर्वको भावएव, अन्यथा असत्त्वात् खपुष्पवत् निःस्वभावः स्यात्, तथा सति न प्रतीयेतैव. अतः प्रतीत्यनुरोधाद् भावान्तरविलक्षणः तिरोभावशक्तिरूपएव सिद्ध्यति. तस्मात् न अभावः एभ्यो अतिरिक्तः. तत्र अत्यन्ताभावः केवलतिरोभावात्मा प्रतियोगि-तद्व्याप्येतरप्रतियोगिग्राहक-सामग्र्यैव गृह्यते. सामग्रीतु पूर्वोक्तेन्द्रियाणि तद्व्यापाराः च.

प्रत्यक्षकरणरूपाणाम् इन्द्रियाणां षड्विध-व्यापारस्वरूपनिरूपणम् :

तत्र इन्द्रियाणि उक्तानि. तेषां व्यापारो विचार्यते प्रत्यासत्तिरूपः.

स तावत् लौकिकालौकिक-भेदेन द्विधा. तत्र अलौकिकः त्रिधा : (क) सामान्य-(ख) योगज-(ग) माया-भेदात्.

(क) तत्र सामान्यम् अनुगताकारेण तद्व्यक्तिज्ञाने उपयुज्यते, तस्य तथात्वञ्च अनुभवसिद्धं, (ख) द्वितीयो अनागतातीतातीन्द्रियादि-वस्तुसाक्षात्कारे, भगवद्ध्यानादेरपि अत्रैव निवेशः, (ग) तृतीयातु अविद्यमानानां पदार्थानां बुद्धौ उपस्थापने. अतएव नैयायिकानां ज्ञाने प्रत्यासत्तिभ्रमः. एतयोश्च तथात्वं शास्त्रसिद्धम्, ''अनागतमतीतञ्च वर्तमानमतीन्द्रियं विप्रकृष्टं व्यवहितं सम्यक् पश्यन्ति योगिनः'' (भाग.पुरा.१०।६१।२१) ''यदङ्घ्र्यनुध्यानसमाधिधौतया धियानुपश्यन्ति हि तत्त्वमात्मनः'' (भाग.पुरा.२।४।२१) ''भक्त्या मामभिजानाति'' (भग.गीता.१८।५५)

"तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व" (तैत्ति.उप.३।३) "ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि तद् विद्याद् आत्मनो मायाम्" (भाग.पुरा.२।९।३५) इत्यादिवाक्यात्.

लौकिकस्तु पञ्चविधः[पा.भे.१२] :—

(क) संयोगः (ख) तादात्म्यं (ग) संयुक्ततादात्म्यं
(घ) संयुक्तविशेषणतादात्म्यं (ङ) स्वरूपं च
इति भेदात्.

तत्र चक्षुपा द्रव्यग्रहे संयोगएव प्रत्यासत्तिः.

केचित्तु *इतरेन्द्रियवैलक्षण्यात् चक्षुषो अप्राप्यप्रकाशकारित्वं स्वीकृत्य दूरत्व-व्यवधानाभाव-सहकृतयोग्यता-मात्रेण प्रतीतिनिर्वाहात् तत्संयोगं न* **स्वीकुर्वन्ति.**

अन्येतु *नेत्रेन्द्रियगोलकस्य स्वच्छत्वेन तत्र वस्तुनः प्रतिबिम्बे सति योग्यतामात्रेण मायाद्वारिकां प्राप्तिं स्वीकृत्य संयोगस्य द्वारत्वं* **खण्डयन्ति.**

तद् उभयमपि असङ्गतं, भगवता संयोगस्वीकारात्, "चक्षुस्त्वष्टरि संयोज्य त्वष्टारमपि चक्षुषि तत्र मां मनसा ध्यायन् विश्वं पश्यति दूरतः" (भाग.पुरा.११।१५।२०) इति एकादशे भगवद्वाक्यात्. अत्र तत्तत्प्रतियोगिकसंयोगद्वयनिरूपणेन योग्यता-प्रतिबिम्ब-पक्षानङ्गीकारात्,[टि.१] "दूरे घटं पश्यामि...-निकटे हरिं पश्यामि" इत्यादि सार्वजनीनाबाधितप्रत्ययात् च, निबिडतम-काचाद्यन्तरितोपलब्धिस्तु अग्नेः स्थालीभेदकत्ववत् चक्षुःकिरणानां स्वच्छकाचादिभेदकत्वादपि सङ्गच्छते. अतएव गोलकस्य सच्छिद्रतापि निरस्ता ज्ञेया. ध्रुवादिविषयपर्यन्तं गतानां पुनः अन्तःप्रवेशस्तु मनसइव वेगादपि सम्पद्यते. एवं दूषणान्तरमपि निरसनीयम्, अस्य शास्त्रस्य अकाल्पनिकत्वात्. प्रतिबिम्बस्तु अदण्डवारितत्वाद् भवति. तेन मायापि प्रत्याययतीति चक्षुषा भूयोज्ञानम् उत्पद्यते तेजस्संयोगबाहुल्यइवेति न तस्य गतार्थता. अतएव इन्द्रियान्तरापेक्षया

चक्षुषा भूयोज्ञानमपि युज्यते. तस्माद् अस्ति चक्षुषः संयोगो द्रव्यग्रहणे व्यापारः.

सएव योग्य-गुण-क्रिया-जाति-साक्षात्कारेऽपि उपयुज्यते. तेषां वस्तुतो द्रव्याभिन्नत्वात्. संयुक्ततादात्म्यं वा अस्तु. एवं त्वग्-घ्राण-रसन-ग्रहणेऽपि ज्ञेयम्. श्रोत्रेण शब्दग्रहणेतु संयोगएव व्यापारः. शब्दोहि वायुना उपनीतः श्रोत्रपर्यन्तं यदा आयाति तदा श्रोत्रावच्छिन्नत्वचा वाहकवायुसंयोगे तमेव संयोगं व्यापारयित्वा श्रोत्रेन्द्रियेण शब्दो गृह्यते. शब्द-ग्राहक-सामग्री-प्राबल्येन [टि.२] संयोगाश्रयस्य वायोः अप्रत्यक्षत्वात् न तस्य संयोगस्य ग्रहणम्. संयोगग्राहकसामग्रीप्राबल्येतु संयोगस्यापि ग्रहणं. यथा कर्णाभ्यर्णम् आगतस्य वार्ताश्रवणे वक्तृ-मुख-वायु-संयोगस्य. अभावे विशेषणतेव, शब्दग्रहे संयुक्त-वायूढ-शब्द-स्वरूपमेव वा द्वारम्.

मनसस्तु बहिर्विषये स्वसंयोगद्वारकः इन्द्रियसंयोगादिः, स्वधर्माणां ज्ञानसुखादीनां ग्रहणे तादात्म्यं, वृत्तीनां ग्रहणेतु वृत्तिस्वरूपमेव द्वारम्.

तिरोभावस्तु इन्द्रिय-संयुक्त-विशेषणतया गृह्यते.

सदसदात्मकवस्तुनः असत्ताग्रहणे अनुपलब्धिः प्रमाणम् इति मतस्य विमर्शे पार्थसारथिमतम् :

पार्थसारथिमिश्रास्तु *वस्तुमात्रं सदसदात्मना द्विविधम्. तत्र यद् यदा यत्र सद्रूपेण वर्तते तत् तत्र तदा प्रत्यक्षादिभिः 'अस्ति' इति प्रमीयते. यदातु असद्रूपेण वर्तते, तदा सद्रूपबोधकानां प्रत्यक्षादीनाम् अकिञ्चित्करत्वाद्, योग्यानुपलब्धिरूपेण तद् वस्तु 'नास्ति' इति प्रमीयते. तस्माद् योग्यानुपलब्धि-रूप-प्रमाणान्तर-गम्यएव अभावः. योग्यानुपलब्धिश्च स्वरूपसती कारणं नतु ज्ञानमपि तस्याः अपेक्षितम्. अन्यथा तस्याअपि प्रमेयत्वात् प्रमाणापेक्षायां अनवस्थापत्तेः. नच *अन्धकारे हस्ताभ्यां वस्तुनः सर्वतः परामर्शे, जातायामपि योग्यानुपलब्धौ ''किं कश्चिद् देशो अवशिष्टः !''

इति सन्दिहानस्य वस्त्वभावबुद्ध्यनुदयात्. कदाचिद् अपरामृष्यापि सर्वतः परामृष्टम् इति भ्रान्त्या योग्यानुपलब्धिनिश्चये वस्त्वभावबुद्ध्युदयात् तस्याः ज्ञातायाएव कारणत्वम्* इति शंक्यं. तादृशबुद्ध्यनुदयादेः योग्यानुपलम्भीय-योग्यताऽज्ञानज्ञानकृतत्वात्. तद्योग्यतायाः ज्ञातायाएव उपयोगेऽपि अनुपलब्धेः स्वरूपसत्याएव कारणत्वेन अदोषात्. नच *अभावज्ञानम् इन्द्रियेणैव अस्तु!* इति शंक्यम्. इन्द्रियव्यापाराभावेऽपि तज्ज्ञानदर्शनात्. केनचित् प्रातरेव आगते माथुरे दीर्घतमे शुक्लवाससि पुंसि, मध्याह्ने पृष्टे, श्रोतुः प्रतियोग्यस्मरणादेव प्रातःकालीनतदभावज्ञानस्य अनुभव- साक्षिकत्वात्. नच *प्रातः अवगतो अभावः तदा स्मर्यते* इति वाच्यं, प्रातः प्रतियोगिनः कथञ्चिदपि बुद्धौ अनारोहात्, तत्प्रतियोगिकस्य अभाव- स्यापि तथात्वेन, तत्स्मरणस्य सर्वथैव अशक्यवचनत्वात्. एवं सिद्धे योग्यानुपलब्धेः कारणत्वे यत्र इन्द्रियव्यापारानुपरमे सन्निहित-देश-काल-वर्ती अभावः प्रतीयते तत्रापि सैव कारणं नतु इन्द्रियादिकम् * इति आहुः.

इह केवलाद्वैतवादिनः वेदान्तपरिभाषाकारस्य मतम् :

वेदान्तपरिभाषायान्तु *योग्यानुपलब्धेः कारणत्वेऽपि किं तत्स्वरूपं (१) योग्यस्य प्रतियोगिनो अनुपलब्धिः इति वा? (२) योग्ये अधिकरणे प्रतियोगिनो अनुपलब्धिः इति वा? (३) योग्यत्वविशिष्टानुपलब्धिः इति वा? (१) न आद्यः, स्तम्भे पिशाचभेदाप्रत्यक्षत्वापत्तेः. (२) न द्वितीयः, आत्मनि धर्माद्यभावस्यापि प्रत्यक्षत्वापत्तेः. (३) तृतीयस्तु स्यात्, कर्मधारयाश्रयणात्. तस्याः योग्यत्वन्तु तर्कित-प्रतियोगिसत्त्व-प्रसञ्जित-प्रतियोगिकत्वम्. तदर्थश्च गृह्यमाणस्य अभावस्य यः प्रतियोगी तस्य सत्त्वेन, अधिकरणे तर्कितेन, यस्याः अनुपलब्धेः प्रतियोगिभूतम् उपलब्धिस्वरूपम् आपादयितुं शक्यते तादृशत्वम्. स्फीतालोकवति भूतले "यदि घटः स्यात् तदा उपलभ्येत" इति आपादयितुं शक्यत्वात्, तादृशस्थले घटाभावो अनुपलब्धिगम्यः. अन्धकारेतु तादृशापादनासम्भवात् न अनुपलब्धिगम्यः. अतएव स्तम्भे पिशाचसत्त्वे स्तम्भवत् प्रत्यक्षतापत्त्या तत्र तदभावो अनुपलब्धिगम्यः. आत्मनि धर्माद्यसत्त्वेऽपि आत्मनो अतीन्द्रियत्वेन निरुक्तोपलम्भापादनासम्भवात् न अनुपलब्धिगम्यः.

नच * अधिकरणेन्द्रियसन्निकर्षस्थले, उक्तरीत्या, अभावस्य अनुपलब्धिगम्यत्वं तव अनुमतम्. तत्र इन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधानाद् इन्द्रियस्यैव अभावाकारवृत्तौ कारणता अस्तु * इति वाच्यं, प्रतियोग्यनुपलब्धेः अभावग्रहे हेतुतायाः क्लृप्तत्वेन करणत्वमात्रस्य अधिकस्य कल्पनात्. इन्द्रियस्य अभावेन समम् असन्निकर्षाद् अभावग्रहहेतुत्वाभावाद्, इन्द्रियान्वयव्यतिरेकयोः अधिकरणज्ञानाद्युपक्षीणत्वेन तेषाम् अन्यथासिद्धत्वात् च. *ननु ‘‘भूतले घटो न’’ इत्यादौ भूतलांशे ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वम् उभयसम्मतं. तत्र वृत्तिनिर्गमने भूतलावच्छिन्नचैतन्यवत् तन्निष्ठ-घटाभावावच्छिन्न-चैतन्यस्यापि प्रमात्रभिन्नतया घटाभावस्यापि प्रत्यक्षतैव आयाति * इति चेत्, न. तस्याः प्रतीतेः प्रत्यक्षत्वेऽपि तत्करणस्य न प्रत्यक्षत्वं ‘‘दशमः त्वम् असि’’ इत्यादि-वाक्य-जन्य-ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वेऽपि तत्करणस्य वाक्यस्य प्रत्यक्षानन्तःपातित्वाभ्युपगमात्. नच * फलवैजात्यं विना कथं प्रमाणवैजात्यम् * इति शंक्यं, वृत्तिवैजात्यमात्रेण प्रमाणवैजात्योपपत्तेः. तस्माद् अभावस्य अनुपलब्धिगम्यत्वमेव * इति **उक्तम्**.

इह कणभक्षाक्षपादमते :

वैशेषिकास्तु, उक्तरीतिकामेव योग्यानुपलब्धिं स्वीकृत्य, * स्फीतालोके तत्सहकृतेन चक्षुषा, तमसि च तादृशा त्वचा, घटाद्यभावप्रत्यक्षं; तथैव इन्द्रियान्तरैः तत्तद्ग्राह्याभावप्रत्यक्षं, संसर्गाभावप्रत्यक्षे प्रतियोगियोग्यतायाः अन्योन्याभावप्रत्यक्षे अधिकरणयोग्यतायाः अपेक्षां च * **आहुः**.

नैयायिकास्तु * अनुपलब्धेः पूर्वोक्तां योग्यताम् अनादृत्य योग्यसहकारिसम्पन्नत्वरूपामेव योग्यताम् * **इच्छन्ति**.

अतएव **(ते!)** *अन्धकारे आलोकाधिकरण-सन्निकर्षात्मक-योग्यसहकार्यभावाद् योग्यानुपलब्ध्यभावेन न घटाभावग्रहः चक्षुषा. जलपरमाणौ च इन्द्रियसन्निकृष्ट-महत्त्ववद्-विशेषणतारूपस्य तस्य अभावात् न पृथिवीत्वाभावग्रहः. भूतले पिशाचात्यन्ताभावस्तु अयोग्यत्वादेव न गृह्यते. अत्यन्ताभावे योग्यतातु योग्यमात्रप्रतियोगिकत्वरूपा योग्यधर्मावच्छिन्न-

प्रतियोगिताकत्वरूपा वा बोध्या. सर्वाभावसाधारणात् न काचिद् योग्यता किन्तु गुणयोग्यतावद् अननुगतैव* इति आहुः.

अत्र स्वसिद्धान्तनिरूपणम् :

ममतु प्रतिभाति — अनुपलब्धेः न अभावग्रहं प्रति करणत्वं, ''चक्षुषा अवगतः'' इतिवद् ''अनुपलब्ध्या अवगतः'' इति प्रत्ययाभावाद्, योग्यप्रतियोगिकत्वरूपया अभावनिष्ठयोग्यतयैव निर्वाहात्. अतः तद्योग्यत्वादिविचारो व्यर्थएव. नच *योग्यानुपलब्धेः अकारणत्वे घटवत्यपि भूतले घटाभावग्रहप्रसङ्गः. तस्य घटाक्रान्तत्वेन देशान्तरे इन्द्रियसन्निकृष्टाभावासत्त्वेऽपि तद्विशेषणत्वेन असत्त्वाद् इन्द्रियसन्निकृष्टोद्भूतरूपवद्-विशेषणतारूप-प्रत्यासत्त्यभावादेव तद्वारणात्. अतएव न अन्धकारे, तमोवृतत्वेन भूतलस्य असन्निकृष्टत्वात्. *अनावरकत्वपक्षेऽपि अभावस्य प्रतियोगि तद्व्याप्येतर-प्रतियोगिग्राहक-यावत्सासामग्री-ग्राह्यत्व-नियमेन सामग्र्यभावादेव वारणात्, गृहान्तर्देशस्य असन्निकृष्टत्वेन सन्निकृष्ट-विशेषणतारूप-प्रत्यासत्यभावेऽपि तेजोऽभावस्य तमोरूपमायाबलादेव भानसम्भवात् च. भूतले पिशाचात्यन्ताभावो, जलपरमाणौ पृथिवीत्वाभावश्च, अयोग्यत्वादेव न गृह्यते. स्तम्भे पिशाचभेदस्तु स्वरूपात्मा वा पृथक्त्वात्मा वा इति तद्ग्राहकसामग्र्यैव गृह्यते. नच *द्विष्ठगुणप्रत्यक्षे यावदाश्रयप्रत्यक्षस्य हेतुत्वात्, न एवम्* इति शंक्यं, पृथक्त्वभिन्नत्वस्य तत्र विशेषणीयत्वात्. अन्यथा तत्प्रतीतिबाधापत्तेः. नच इष्टापत्तिः, अनुभवविरोधात्. नच *भिन्नत्वस्य विशेषणत्वे सिद्धं भेदेन* इति वाच्यं, भेद-प्रतियोगिक-भेदवत् पृथक्त्व-प्रतियोगिक-पृथक्त्वाङ्गीकारेण अतिरेकेऽपि अदोषात्. नच *सन्निकर्षकल्पनम् अप्रामाणिकम्* इति वाच्यम्, अनुभवविरोधाद्, ''इदानीं घटः — प्राच्यां घटः'' इत्यादिप्रतीतिषु विशेषणीभूतयोः कालदिशोः विशेषणतयैव भानदर्शनात्, शास्त्रदीपिकायामपि तथा अंगीकारात्. नच *तयोः संयोगेनैव भानम्* इति वाच्यं, तस्य सदातनत्वेन तयोः सदा भानापत्तेः. नच *अयोग्यत्वात् न दोषः* इति वाच्यं, तस्य विशेषणत्वदशायामपि तुल्यत्वात्. नच *संयुक्तसंयोगेन तमोभानम्* इति वाच्यं [१] संयुक्तसंयोगस्य प्रत्यासत्तित्वं, [२] अनुपलब्धेः करणत्वम्,

३ अभावस्य असन्निकृष्टस्य भानम्. इति कल्पनात्रयगौरवात्. नच *कल्पनातौल्यम्!* इति वाच्यं, मानान्तरकल्पनायाः अप्रमाणिकत्वात्. प्रत्यक्षसूत्रीय-'सत्संप्रयोग'(जैमि.सू. १।१।४)-पदे कर्मधारयाश्रयणेऽपि अविरोधात्. 'सन्निकर्षा'निरुक्त्या करणत्वस्य अशक्यवचनत्वाद्, असन्निकृष्टस्य मानान्तरेण उपलम्भांगीकारे विप्रकृष्टदैशिकाभावग्रहापत्तेः च.

अथ योग्यताज्ञापके तर्के अधिकरणप्रत्यक्षस्यापि सहकारित्वात् न दोषः इति चेत्, न, अभावज्ञानस्य अनुपलब्ध्यधीनत्वेन, अनुपलब्धि-योग्यता-ज्ञानस्य उक्ततर्काधीनत्वेन, तर्कस्यच अभावसंसृष्टाधिकरण-प्रत्यक्षाधीनत्वेन अभावज्ञानाधीनत्वात् च चक्रकापत्तेश्च. नच *योग्यतायाः अज्ञातायाएव उपयोगः* इति वाच्यं, तर्कोपन्यासवैयर्थ्यापत्तेः. तज्ज्ञानार्थमेव तदुपन्यासाद्, अन्धकारेऽपि तद्ग्रहापत्तेः च. नच *तत्र योग्यता नास्त्येव* इति वाच्यं, हस्तेन तज्ज्ञानात्. अतो ''हस्ताभ्यां घटाभावं जानामि — चक्षुषातु न पश्यामि'' इति अनुव्यवसायाद् ऐन्द्रियकमेव घटाभावज्ञानम्. नच *इन्द्रियाणाम् अधिकरणज्ञानाद्युपक्षीणत्वं शंक्यम्, अधिकरणज्ञानोत्तरं नेत्रनिमीलनेऽपि योग्यानुपलब्ध्या घटाभावग्रहापत्तेः. नच *फलीभूतज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वानुरोधेन तत्कारणस्य प्रत्यक्षत्वं न युक्तिसहं, ''दशमः त्वम् असि'' इत्यादि-वाक्यजन्य-प्रत्यक्षस्थले व्यभिचाराद्* इति वाच्यं, तदसंगतत्वस्य शब्दपरिच्छेदएव उपपादितत्वात्. वृत्तिवैजात्यस्य प्रमाणवैजात्योपपादकत्वे, फलवैजात्यस्य तदनियतत्वाद् आकस्मिकत्वापत्तेः. वृत्तिनियतत्वांगीकारेण समर्थनेतु फलस्य वृत्तिनियतत्वेन, वृत्तेश्च प्रमाणनियतत्वेन, फलाद् वृत्तित्वद्वारा प्रमाणनिर्णयस्य अनपनोद्यत्वात्. उक्तवाक्याद् ''दशमो अहम्'' इति प्रत्यक्षोत्तरम् ''आत्मानं दशमं पश्यामि'' इति 'जानामि' इति शब्दात्, 'प्रत्येमि' इति वा विशेषवृत्त्युदये, यत्नं विनापि प्रमाणनिर्णयात्. शब्दे चक्षुरादिसहकारित्वस्य परोक्षवृत्तिजनकत्वस्य च निश्चयेन, शब्दात् प्रत्यक्षस्य सर्वथा अनुपपन्नत्वात् च. अतो वृत्त्यनुरोधेनापि कारणम् इन्द्रियमेव. यत् पुनः मध्याह्ने प्रतियोग्यस्मरणात् प्रातःकालीन-माथुराभाव-ज्ञानं शास्त्रदीपिकायाम् उक्तं, तदपि न युक्तिसहं, प्रातः प्रतियोगिनो बुद्ध्यनारूढत्वेन स्मरणाभावस्य ध्वंसरूपतायाः अशक्यवचनत्वात्. प्रागभावा-

त्यन्ताभावरूपत्वे प्रश्नात् प्रागपि तत्सत्त्वेन तदापि तदभावज्ञानप्रसंगाद्, भेदरूपत्वेऽपि तथात्वात् च. अभावत्वेन संसर्गाभावत्वादिना च तत्कारणतायाः दुर्घटत्वात् सहकार्यन्तरापेक्षयाम् उक्तदोषप्रसंगात् च. अतः प्रश्नेन प्रातःकालीनसंसर्गशाब्दे जाते तस्य बुद्धौ आरोहे विरोधसंसर्गेण अभावज्ञानं मानसं, मायाद्वारकं वा मानसम्-इति, न तेन स्मरणाभावस्य कारणत्वसिद्धिः. एतेनैव सहकारित्वमपि दत्तोत्तरम्. तस्माद् अभावज्ञानम् अभावयोग्यतया साधितम् ऐन्द्रियकमेव इति निश्चयः. इति अभाववादः.

सांख्यमतानुसारेण वृत्तिसामान्यस्वरूपनिरूपणं तत्र मायावादि-नैयायिकयोः च विप्रतिपत्तेः विमर्शः :

प्रकृतम् अनुसरामः : उक्तसन्निकर्षजन्यमपि सविकल्पकं ज्ञानं चाक्षुषादिभेदेन बुद्धिवृत्त्या जन्यतइति वृत्तिः विचार्यते.

तत्र, नेत्रनिमीलने कृते बहिर्दृष्टपदार्थस्येव कश्चिद् आकारो नेत्रान्तर् भासते. स आकारो न बाह्यवस्तुनः, आश्रयम् अतिहाय तत्र तस्य अशक्यवचनत्वात्. अतः स आन्तरस्यैव कस्यचन भवितुम् अर्हतीति तदाश्रयत्वेन सांख्यैः आहंकारिकं तत्त्वान्तरं 'वृत्ति' नामकं कल्प्यते.

यथाहि प्रवचनसूत्रद्वयं :—

> ''प्रमार्थप्रकाशलिंगाद् वृत्तिसिद्धिः'' (सां.प्र.सू.५।१०६) ''भागगुणाभ्यां तत्त्वान्तरं वृत्तिः....'' (सां.प्र.सू.५।१०७) इति. अर्थस्तु : 'प्रमा' पूर्वोक्तरीतिकम्-आकारज्ञानं, तत्सहितो यो 'अर्थप्रकाशो' विषयज्ञानं, एवम् उभयविधाद् 'लिंगाद्' ('वृत्तिसिद्धिः') वृत्तिसत्तानिश्चयः. यदि वृत्तिः न स्याद् उक्तः आकारो न प्रतीयेत अतैजसत्वाद्, अचलं चक्षुः विप्रकृष्टं विषयम् अप्राप्नुवत् तत्प्रकाशनं न कुर्यात्, जायतेच तद् उभयम् अतः सा अस्ति इति निश्चयः. एवं 'भागो' विभागो अहंकाराद् विभज्य

विषयदेशावधिगमनं, 'गुणः' उक्ताकारः, 'ताभ्यां' कृत्वा आहंकारिकं "तत्त्वान्तरं वृत्तिः" इति. अभियुक्तोक्तिश्च "वृत्तयः प्रसादरूपा स्फारिताक्षस्य यत्र च अदृष्टानुग्रहात तत्तत्-(तत्र)सम्बन्धार्थावबोधिका" (   ).

(द्रष्ट. : सां.प्र.वृ.सार.५।१०७) इति.

अमूर्तायाः तस्याः कथं क्रिया इत्यतः तृतीयं सूत्रं :—

"न द्रव्यनियमः तद्योगाद्" (सां.प्र.सू.५।१०८) इति. अनियतत्वात् पदार्थानां 'न द्रव्य'एव क्रिया 'नियमः' किन्तु यत्र यत् प्रमाणतः सिध्यति तत्र तद् अनुमन्यामहे; अतो, दूरस्थवस्तुनः आकारग्रहणदर्शनात् सापि क्रियावती इति अर्थः.

इति (तत्रैव).

एवं **मायावादिनोऽपि** * अन्तःकरणविशिष्टस्य चैतन्यस्य प्रमातृत्वम् अंगीकृत्य तस्मिन् ज्ञानसूक्ष्मावस्थारूपं विषयसंस्कारम् आधातुं विषयेन्द्रिय-सन्निकर्ष-सामर्थ्य-जन्याम् अन्तःकरणपरिणामरूपां वृत्तिम् * **अंगीकुर्वन्ति.**

नैयायिकादयस्तु * नयनकिरणानां निर्गमनेन विषयसन्निकर्षाद् ज्ञानम्. तेनच भावनासंस्काराख्यं गुणान्तरं चरमस्मृतिनाश्यम् आत्मनि अंगीकुर्वन्तो वृत्तिपदार्थमेव न * **इच्छन्ति.**

अथ उक्तपक्षयोः आलोचनपूर्वकं स्वमतनिरूपणं च :

तत्तु नेत्रान्तरनुभवस्य सार्वजनीनत्वाद् अप्रयोजकमिति वृत्तिः सर्वथा अभ्युपेयैव परन्तु या बुद्धिवृत्तिः "संस्काराधानाद्यर्थं जन्यते" इति उच्यते, सा वृत्तिः बुद्धेः न तत्त्वान्तरं नापि अन्तःकरणपरिणामान्तरं किन्तु बुद्धितत्त्वस्य कालक्षुब्धसत्त्वादिगुणकृतो अवस्थाविशेषएव. नच * तस्य अवस्थाविशेषत्वे निर्गमाभावेन विषयासंसर्गात् तदाकारकत्वं वृत्तेः दुर्घटम् * इति शंक्यं, मायागुणस्य

रजसः चञ्चलत्वेन विक्षेपकत्वेन च दर्पणे मुखस्येव नेत्रगोलकेऽपि बाह्यविषयाकारसमर्पणे तदाकारकत्वस्य सुघटत्वात्. सएव मायिकः आकारो नयनकिरणेषु नेत्रमुद्रणे प्रत्यावृत्तेषु गोलकान्तर् अनुभूयते. एवमेव इन्द्रियान्तरेऽपि वृत्तिः ज्ञातव्या. यद्यपि सा न अनुभूयते तथापि तादृशसंस्काराधानात् निश्चीयते. ''एकादशा आसन् मनसोहि वृत्तयः आकूतयः पञ्च धियो अभिमानः मात्राणि कर्माणि पुरं च तासां वदन्ति हैकादश वीरभूमिः'' (भाग.पुरा.५।११।९) इति जडभरतवाक्यात् च. भूमिषु पञ्चानां ज्ञेयत्वेन विषयत्वं ततः पञ्चानां कार्यत्वेन. पुरस्य स्वकार्यत्वेन ज्ञेयम्. संस्कारस्तु ''जातस्य ज्ञानस्य सूक्ष्मावस्था'' इति उक्तम्. बुद्धिश्च कर्मज्ञानेन्द्रियानुग्राहिका इति वक्ष्यते. साच वृत्तिद्वारैव अनुगृह्णातीति इन्द्रियजन्यस्य विशिष्टज्ञानस्य नानाभेदाः अतो अवस्थयैव निर्वाहे सांख्याभिमतस्य अन्तःकरणातिरिक्त-पदार्थान्तरत्वस्य निष्प्रमाणकत्वात्. ''कामः संकल्पः'' (बृह.उप.१।५।३) इति श्रुतौ 'कामा'दि पदानि शक्तानि 'धी' पदं लाक्षणिकम्'' इति मायावादिकल्पनायाअपि वैरूप्यादिदोष-ग्रस्तत्वात् च तद् उभयमपि असंगतम्.

अतो बुद्धेः अवस्थाविशेषएव वृत्तिः इति निश्चयः.

ननु इन्द्रियार्थसम्प्रयोगोत्तरं सम्प्रयुक्तार्थाकारसमानो बुद्धौ आकारो जायतइति प्रमा भवतु, भ्रमादिकन्तु न भविष्यति शुक्त्यादौ तद्विरुद्धस्य रजताद्याकारस्य अभावेन बुद्धौ मायाकृततत्समर्पणायोगाद् अन्यथाख्यातिप्रभृतीनां च अनङ्गीकाराद् इति चेत्, न, स्वभावगुणानुग्रहादेव तस्यापि सिद्धेः, पूर्वोत्पन्नस्य रजताद्याकारकसंस्कारस्य रजसा बहिःक्षेपे, सम्प्रयुक्तार्थाकारस्य तमसा आवरणे च, भ्रमस्य सुखेन वक्तुं शक्यत्वात्. एवं नानाविधाद् गुणक्षोभज-वृत्ति-भेदादेव अन्येऽपि ज्ञानभेदाः उन्नेयाः.

जाग्रदवस्थायां षड्विधेन्द्रियसन्निकर्षमात्रजन्यं ज्ञानं निर्विकल्पकं तदेव संशयादिबुद्धिवृत्त्यनुगृहीतं सत् सविकल्पकं ज्ञानं भवति इति निरूपणम् :

यदा विषयेन्द्रियसंयोगात् निर्विकल्पकं तदा इन्द्रियदेशे बुद्धेः वृत्तिः.

तया इन्द्रियानुग्रहे सविकल्पकम्, अननुग्रहेतु न. वृत्त्यन्तरेण पूर्ववृत्तेः नाशे सविकल्पकस्य संस्काररूपेण अवस्थानं, तस्य उद्बोधकैः उद्बोधे मायोपस्थापित-मायिकार्थ-सहकृता स्मृतिः, राजसैः रागादिभिः संस्कारप्राबल्ये मायया विषयाकारावरणपूर्वकं मायिकपदार्थ-सहितस्य ज्ञानस्य गोलकाग्रभागे क्षेपे भ्रमः, किञ्चिदावरणे संशयः, सत्त्वेन सर्वथावरणभंगे विक्षेपस्यापि निवृत्तौ विशेषदर्शनम् इत्यादि.

वृत्तिविषयातु वृत्तिः न भवतीति अनुभवानुसारेणैव निश्चीयते. नच * वृतीनां गुणजन्यत्वे मानाभावः * शंक्यो, "जाग्रत्स्वप्नः सुषुप्तं च गुणतो बुद्धिवृत्तयः तासां विलक्षणो जीवः साक्षित्वेन विनिश्चितः" (भाग.पुरा.११।१३।२७) इति एकादशे हंसवाक्यात्, संशयादिवृत्तीनां तदवान्तरभेदत्वेन तदनतिरेकात्.

यत्तु "जाग्रद्भोगप्रद-कर्मोद्बोधे जागरणं, तदुपरमे निद्रया स्वप्नसुषुप्ती" इति मतं, तत्रापि कर्मोद्बोधोपरमहेतोः अवश्यवाच्यत्वेन लाघवाद् ईश्वरेच्छानुगृहीतानां परस्परोपमर्दकादिस्वभावानां गुणानामेव अवस्थाहेतुत्वं साधीयः.

तस्माद् बुद्धिगुणजन्या तदवस्था वृत्तिः. सा यदा अनुगृह्णाति तदा वक्ष्यमाणप्रक्रियया सविकल्पकं ज्ञानं जन्यते.

तथाहि :—

"अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥
शरीरं वाङ्मनोभिर्यत् कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥"

(भग.गीता.१८।१४-१५)

इति गीतायां कार्यमात्रं प्रति पञ्च हेतवः उक्ताः. तत्र : 'अधिष्ठानं'=शरीरं, 'कर्ता'=जीवः, 'करणं'=बा-

ह्याभ्यन्तरं. ‘चेष्टा’=प्राणादिवायुकर्माणि. ‘दैवं’=काल-कर्म-भगवदिच्छादिः.

“ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशे, अर्जुन!, तिष्ठति भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया” (भग.गीता.१८।६१) इति वाक्याद् अन्तर्यामी वा ‘दैव’पदवाच्यो “देवानां समूहो दैवम्”इति तत्तदिन्द्रियाधिष्ठातारो वा. एवं सति ज्ञानजनक-मनःसंयोगादि-हेतुभूत-क्रियायामपि एतान्येव कारणानि.

तत्र अयं क्रमो : दैवानुकूल्येन अन्तर्यामिणा मनः तत्तत्कार्यार्थं प्रेर्यते, तत् च इन्द्रियप्रेरणाय तत्तदिन्द्रियेण संसृज्यते. तत्र तत्तदिन्द्रियदेवतानुकूल्ये विषयसंसृष्टैः इन्द्रियैः स्वावच्छिन्ने मनसि पूर्वं निर्विकल्पकम् उत्पाद्यते. तदा इन्द्रियदेशे बुद्धेः वृत्तिः. ततो बुद्ध्यापि वृत्तिद्वारा तदनुग्रहे सविकल्पकं भवति.

चाक्षुषेतु नयनकिरणाः विषयपर्यन्तं गच्छन्ति, इन्द्रियान्तरेतु किरणाभावाद् इन्द्रियेण सह विषयं मनः प्राप्नोति तदा, क्रमेण सहैव वा, निर्विकल्पकं सविकल्पकं च तत्तदिन्द्रियसंसृष्टे मनसि उत्पद्यते. ज्ञानद्वयेऽपि विषयेन्द्रियस्पर्शादिकं व्यापारः.

नच *नयनानां किरणाङ्गीकारे चक्षुषो व्यापकत्वापत्त्या “अणवश्च” (ब्र.सू.२।४।७) इति सूत्रविरोधः* शंकनीयः, अर्चीरूपाणां किरणानां सूर्यमण्डलाद् भेदस्य “आदित्यो वा एषः” (महाना.उप.१२।२) इति अनुवाके श्रावणात्. तैः अखिलमेरूत्तरदेशान् व्याप्नुवानस्य आदित्यमण्डलस्य दश-सहस्र-योजन-परिमाण-स्मरणेन तेषां तत्परिमाणाबाधकत्ववत् सूर्याध्यात्मिकचक्षुषः किरणानामपि तथात्वेन सूत्राविरोधात्. यद्वा “तथा प्राणः”(ब्र.सू.२।४।१) इत्यत्र प्राणेषु जीवातिदेशस्य सिद्धान्ते अंगीकारात् सर्वशरीरे जीवस्येव सामर्थ्याद् वा गुणाद् वा व्याप्तिवत् तेषामपि देवतासामर्थ्याद् वा गुणाद् वा व्याप्त्यंगीकारस्य वक्तव्यत्वात् “गुणाद्वा आलोकवद्” (ब्र.सू.२।३।२५) इति सूत्रे आलोकस्य

गुणत्वांगीकारात् तैजसस्य चक्षुषः आलोक-रूप-गुण-व्याप्त्यंगीकारेऽपि अदोषः. एवमपि सूत्राविरोधः चाक्षुष-रूप-कार्य-सिद्धयोः सम्भवात्. अतएव त्वचः सकल-शरीर-व्यापित्वमपि देवता-सामर्थ्य-स्पर्श-गुणाभ्यां युज्यते. अन्यथातु सूत्रविरोध-सार्वत्रिक-स्पर्शानुभव-बाधयोः अन्यतरद् आपद्येतैव. तस्मात् नयन-किरण-गमन-द्वारिकैव प्रत्यक्षप्रक्रिया साधीयसी.

या पुनः *आलोकेन मायाकार्य-तमो-जनन-प्रतिबन्धे कृते, ज्योती-रूप-सूर्य-देवतया अण्वात्मकचक्षुषि सन्मुखाव्यवहित-देशस्थ-पृथुबुध्नोदराकारे विशिष्टरूपे प्रापिते सत्त्वप्रधानबुद्धेः अन्तरेव तदाकारतासम्पत्तौ अणुरूपं जीवं प्रति ज्ञानाश्रिताध्यात्मिक-घटाभिव्यक्तिरेव चाक्षुषं, दूरस्थगन्धशब्दयोस्तु वायुना घ्राण-श्रोत्र-समीप-प्रापणे अन्तःसत्त्वात्मकबुद्धेः तदाकारतासम्पत्तौ ज्ञानाश्रिताध्यात्मिक-गन्धशब्दाभिव्यक्तिरेव घ्राणजं श्रावणं च, प्रत्यक्षमिति आध्यात्मिकाधिभौतिकयोः अभेदात् न बाह्यघटाग्रहणनिबन्धनो दोषः* इति **केषाञ्चित्** प्रत्यक्षप्रक्रिया.

तत्र आलोकेन तमोजनन-प्रतिबन्ध-कथनम् अयुक्तं, "यथाहि भानोः उदयो नृचक्षुषां तमो निहन्याद्" (भाग.पुरा. ११।२८।३४) इति एकादशस्कन्धीय-भगवद्-वाक्ये तमोनिहन्तृत्वकथनात्. एवं ज्योतीरूप-सूर्यदेवतायाः पुरुषचक्षुषि विषयनिष्ठ-रूपप्रापकत्व-कथनमपि तथा, बहुषु पश्यत्सु तान्-तान् प्रति रूपे प्रापिते विषयस्य नीरूपताप्रसंगेन पाश्चात्यानां तददर्शनप्रसंगात्, तद्दर्शनार्थं तस्मिन् विषये पुना रूपान्तरोत्पादनानयनादिरूपाप्रामाणिक-कल्पना-प्रसंगात् च, सन्ध्यायाम् अस्तंगते सूर्य रूपप्रापकदेवतायाः गतत्वात् तदानीं घटाद्यदर्शनापत्तेश्च.

नच *"निशि नेति चेन्न सम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वाद् दर्शयति च" (ब्र.सू.४।२।१९) इति सूत्रे "अथ या एता हृदयस्य नाड्यः" (छान्दो.उप.८।६।१) इति नाडीः उपक्रम्य "अमुष्माद् आदित्यात् प्रतीयन्ते ता आसु नाडीषु सुप्ता आभ्यो नाडीभ्यो प्रतीयन्ते ते अमुष्मिन् आदित्ये सुप्ता" (छान्दो.उप.८।६।२) इति

दहरविद्यास्थश्रुत्या रात्रावपि आदित्यरश्मिसम्बन्धस्य उक्तत्वात् तदानीं सन्ध्यायाञ्च नाडीसृप्तरश्मिभिः विषयरूपप्रापणात् न घटाद्यदर्शनप्रसंगः * इति वाच्यं. नाडीसृप्तरश्मिनां हृदयाग्रप्रद्योतन-जीवोत्क्रमण-मात्र-कार्यार्थतायाएव श्रावणेन तद्रश्मीनां रूपप्रापकतायाः वक्तुम् अशक्यत्वात्. तदानीमपि रूपप्रापकत्वाङ्गीकारे तदानीं नश्यत्वाद् अस्तमिते आदित्ये "किञ्ज्योतिः अयं पुरुषः" (बृह.उप.४।३।२) इत्यादिज्योतिर्ब्राह्मणविरोधस्य प्रत्यक्षविरोधस्य च दुष्परिहरत्वात्. अतो "नेतृत्वं द्रव्यशब्दयोः"(भाग.पुरा.३।२६।३७)इतिवद् आदित्यादिरश्मीनां रूपप्रापकत्वस्य अशब्दगोचरत्वात् सूर्यरूपदेवतायाः रूपप्रापकत्वाङ्गीकारः सर्वथा न युक्तः.

किञ्च चक्षुषि रूपप्राप्तिश्च प्रतिबिम्बभवनरूपैव, सातु मायया "ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत" (भाग.पुरा..२।९।३३) इति वाक्यात्, तस्याः विक्षेपकत्वात् च.

एवञ्च बुद्ध्याकारसमर्पकत्वमपि प्रतिबिम्बस्यैव. आध्यात्मिकरूपमपि मायामयं मनोमयत्वात्. तस्यच न सत्यता — अर्थक्रियाकारित्वमात्रम्. परम् आधिदैविकन्तु शब्दैकनिष्ठं भगवदात्मकं तत् सत्यमेव. आधिभौतिकन्तु प्रपञ्चात्मकम्. तस्यतु कार्यरूपत्वेऽपि कारणरूपेणैव सत्यत्वं, नतु स्वेन रूपेण, विकाराणां वाचारब्धत्वात् सदसद्ग्रन्थिरूपत्वात् च; तदेव च लौकिकव्यवहारविषयः.

सविकल्पकज्ञानजन्य-हानोपादानोपेक्षाबुद्धिस्वरूपाणि :

तत्र सविकल्पकं प्रमेयानन्त्याद् अनन्तविधं भवति. तत्रापि कारणान्तरसमवधानेन संशय-विपर्यास-निश्चय-स्मृति-भेदाः जाग्रति भवन्ति, यथासम्भवं स्वप्नेऽपि ते.

सविकल्पक-जन्य-हानोपादान-बुद्धौतु विशेषः :

"इन्द्रियैर्विषयाकृष्टैराक्षिप्तं ध्यायतां मनः चेतनां हरते बुद्धेः स्तम्बस्तोयमिव ह्रदाद्"

(भाग.पुरा.४।२२।३०)इति वाक्याद् विषयैः इन्द्रियाकर्षः. ततः तैः मनसः. तच्च अशुद्धमिति तत्र कामोत्पत्तौ उपादानबुद्धिः. तादृशे मनसि द्वेषोत्पत्तौतु हानबुद्धिः. नच इदम् अप्रयोजकं कामिनी कुचकुम्भदर्शनादौ चक्षुषः. शीतादिकालेषु उष्मादिना त्वचो, रागादियुक्तगीतेन श्रवणस्य, चन्दनादिगन्धेन घ्राणस्य, भक्षितस्यापि दध्यादेः पुनः आस्वादनेन रसनस्य, तैश्च मनसः आकर्षस्य अनुभवसिद्धत्वात्.

मनसश्च रूपद्वयं : बाह्यम् आन्तरं च इति तृतीयस्कन्धे तत्त्वस्तुतौ "पराहतान्तर्मनसः" (भाग.पुरा.३।५।४४) इत्यस्य सुबोधिन्यां स्थितम्. तत्र आन्तरं येन विषयेण इन्द्रियद्वारा कृष्यते तद्विषयिणी हानोपादानबुद्धिः भवति, येनतु न आकृष्यते तद्विषयिणी उपेक्षाबुद्धिरिति युगपत् नानाबुद्धिसत्त्वम्. नच *तत्र वेगाद् यौगपद्याभिमानएव* इति वाच्यम् ऐकाग्र्यदशायां पुस्तकदर्शने युगपत् नानाक्षरापेक्षाज्ञानस्थले वेगांगीकारस्य अनुभवविरुद्धत्वाद्. अतो रूपद्वयमेव युक्तम् इति. यदा मनसो अनाकर्षः तदा उपेक्षाबुद्धिः. अतएव तस्याः न स्थिरत्वम्, अभ्यासाद्यभावात्.

स्वसिद्धान्ताभिमतसविकल्पकज्ञानजननप्रणाडी :

इदञ्च सर्वं ज्ञानम्, अन्तःकरणाद्यध्यासाद्, जीवात्मा स्वस्मिन् अभिमन्यतइति अस्य ज्ञानस्य लौकिकानाम् आत्मधर्मत्वप्रवादः इति. अन्तःकरणाध्यासस्तु, हृदयदेशे जीवस्य अन्तःकरणानां च स्थितत्वात्, तेषु तत्प्रतिबिम्बः; तस्य प्रतिबिम्बस्य इन्द्रियेषु प्रतिबिम्बान्तरे इन्द्रियाध्यासः, तस्य देहे प्रतिबिम्बे देहाध्यासश्च भवति. प्रतिबिम्बश्च तत्प्रकाशस्य तेषु संक्रमेण भवति सूर्यस्येव, नतु मुखस्येव सन्निधिमात्रेण, इति निर्णीतं "यथा जलस्थ आभास"(भाग.पुरा.३।२७।१२) इत्यत्र तृतीयस्य सप्तविंशे अध्याये.

स्वप्नात्मिकायाः बुद्धिवृत्तेः स्वरूपम् :

एवञ्च पूर्वकृतस्य प्रारब्धकर्मणः पक्वस्य जाग्रति फलभोगो भोगे क्रियमाणे आहारश्रमादिभिः यदा निद्रा भवति, तदा 'स्वापः' - स्वप्नवृत्तिः.

तत्र अयं हृदयदेशात् निःसृत्य ‘हिता’भिधानासु शुक्ल-नील-हरित-लोहित-पीत-रसभृतासु केशसहस्रभागवद् अण्वीषु नाडीषु द्वासप्तति-सहस्र-संख्याकासु तस्यान्तस्याञ्चिद् ईश्वरेच्छादिवशेन अन्तर्बहिःकरणानि आदाय परिवर्तते, तदा चैतन्यसंकोचनेन बहिरिन्द्रियेषु मनसि च प्रकाशासंक्रमात् प्रतिबिम्बो न भवति, बुद्ध्यहंकारयोरेवतु भवति. तदा बुद्धिसहितो अहंकाराध्यासेन स्वाप्नं सुखदुःखादि भुङ्क्ते. तत्र प्रकाशो भगवतो, विषयश्च मायिको, भोगे बुद्धिः करणं, भोगश्च अहंकारे. यदा पुनः निद्रायां तमसः उद्रेकः ईश्वरेच्छादिवशात्, तदा अयं तैः सर्वैः सह पुरीतति प्रविशति. पुण्डरीकाकारो मांसपिण्डो हृदयं, तद्वेष्टिताः नाड्यः ‘पुरीतत्’—शब्देन उच्यन्ते. तदा सुषुप्तिः. कदाचिद् भगवदिच्छया तस्य हृदयस्य अन्तर्, यः ‘आकाश’ शब्दवाच्यः परमात्मा, तत्र सम्पद्य शेते. द्विविधायामपि सुषुप्तौ कर्मासंसर्गाद् दुःखाभावः. द्वितीयस्यां परमानन्दः इति विशेषः. ततः पुनः भगवदिच्छादिवशेन परमात्मनः सकाशात् सर्वेषां प्राणादीनाम् आत्मान्तानां व्युच्चरणं ततो जागरणे स्वस्थानस्थितिः पूर्वोक्तरीत्या तत्तदनुभवादिः च इति.

सविकल्पकज्ञानजनने नैयायिकाभिमत-संयोगसम्बन्ध-घटित-प्रणाडी-विमर्शः :

नैयायिकास्तु *“आत्मा मनसा संयुज्यते, मनः इन्द्रियेण, इन्द्रियम् अर्थेन, इतिक्रमेण आत्मन्येव ज्ञानम् उत्पद्यते” इति आत्मधर्मत्वं जन्यज्ञानस्य * आहुः.

तत्तु श्रुतिविरोधादेव अपास्तं, विभोः निरवयवस्य आत्मनः संयोगं प्रति कर्तृत्वायोगात् च. नच *अन्यतरकर्मजएव संयोगः तत्र अस्तु* इति वाच्यं, मनसएव कर्तृत्वापातात्, तस्यैव क्रियाश्रयत्वाद्, जीवे गुणाधीनत्वेन कर्तृत्वायोगाद् इति.

उक्तविषये मायावादाभिमत-प्रतिबिम्ब-प्रणाडी-विमर्शः :

मायावादिनस्तु *ब्रह्मात्मकम् एकमेव ज्ञानं स्वीकृत्य बुद्धौ तस्य प्रतिबिम्बं, तस्यैव व्यावहारिकज्ञानत्वं च अंगीकृत्य, चिदुपरागावरणभंगाभेदाभिव्यक्तिपक्षान् जीवस्य किञ्चिज्ज्ञत्वाय * आहुः.

तदपि असंगतं, प्रतिविम्वस्य वक्तुम् अशक्यत्वात्. ब्रह्मणो नीरूपत्वात्. बुद्धेश्च अस्वच्छत्वात्. दर्पणवत् किञ्चिद्देशावच्छिन्नस्वच्छत्वम् अंगीकृत्य आकाशस्येव ब्रह्मणः प्रतिविम्वांगीकारेऽपि ब्रह्मणः सच्चिदानन्दरूपत्वेन सदानन्दयोरपि प्रतिविम्वापातात्. नच इष्टापत्तिः, ज्ञानवत् तयोरपि भानापत्तेः, सर्वदा सर्वेषाम् अन्तःशरीरस्थ-सर्वज्ञानापत्तेः च; प्रतिविम्वाधारत्वयोग्यायां बुद्धौ ज्ञानस्येव आन्तराणां नाड्यादीनां सन्निहितत्वेन तत्प्रतिविम्वेऽपि बाधकाभावात्. किञ्च अविद्यायां ब्रह्मप्रतिविम्वभूतानां जीवानां व्यापकतया स्वतः सर्वपदार्थसंसृष्टत्वाद् बाधकाभावेन अविद्यायामपि सर्वप्रतिविम्बसम्भवेन तत्तत्संसर्गं द्विगुणीकृत्य जाते सर्वतादात्म्यापन्नस्य ब्रह्मणइव तेषामपि सर्वसंसृष्टत्वात् साक्षित्वात् च वृत्तिं विनैव स्वरूपचैतन्येन सर्वावभासकतायाः शक्यवचनत्वेन ब्रह्मवत् सर्वेषां सर्वज्ञता स्यात्. नच *अन्तःकरणभेदेन प्रमातृभेदात् तदनापत्तिः, व्यापकत्वेन सर्वेषां सर्वान्तःकरणसंसृष्टतया प्रमातृभेदस्यापि अकिञ्चित्करत्वात्. संसर्गतौल्ये एकस्यैव एकान्तःकरणवैशिष्ट्यं न अपरस्य इत्यत्र हेत्वभावात्. अदृष्टादीनां हेतुताकल्पनस्यापि अनेनैव न्यायेन निरसितुं शक्यत्वात्.

ननु दूषणग्रासात् मा अस्तु व्यापकानेकजीववादः किन्तु व्यापकैकजीववादो अस्तु. तथाच तस्य सर्वज्ञतायाम इष्टापत्तिः इति चेत्, सत्यम् इष्टापत्तिः स्याद् यदि एकत्रैव सर्वज्ञता स्यात् नच एवम्, अविशेषण एकस्यैव सर्वशरीराधिष्ठाने सर्वत्र अविद्योपहितस्य साक्षिणः एकत्वात् सर्वत्र उपाधौ सर्वप्रतिबिम्बेषु संसृष्टत्वात् च, ब्रह्मणइव जीवस्यापि सर्वेषु प्रतिबिम्बेषु सर्वज्ञतायां बाधकाभावात्. नच *ब्रह्मापि एकत्रैव सर्वज्ञं न सर्वत्र* इति वाच्यं, ब्रह्मविष्णुशिवादि-शरीरावच्छेदेन सर्वज्ञताप्रतिपादक-शास्त्रविरोधापातात्. नच *अविद्योपाधौ सर्वप्रतिबिम्बेऽपि अन्तःकरणभेदेन प्रमातृभेदात् तन्निकटस्थस्यैव ज्ञानं प्रमातुः भविष्यतीति न सर्वत्र सार्वज्ञ्यापत्तिः* इति वाच्यं, प्रमात्रभेदे करणभेदस्येव साक्ष्यभेदे प्रमातृभेदस्यापि अप्रयोजकत्वात्, सर्वत्र साक्षिणएव भासकत्वात्. नच *तस्य अविद्योपहितरूपेण न साक्षित्वं किन्तु अन्तःकरणोपहितरूपेण, तथाच रूपभेदेन साक्षिभेदात् न सार्वज्ञ्यापत्तिः*

इति वाच्यम्. अप्रयोजकत्वात्. तथासत्यपि हृदयनाडीप्रभृतीनाम् आन्तराणां अन्तःकरणे प्रतिबिम्बितानां ज्ञानन्तु अस्य निर्बाधमिति आन्तरसर्वज्ञतायाः दुर्वारत्वात्. *ननु सर्वेषां प्रतिबिम्बो न अस्माभिः अंगीक्रियते* इति चेत. मा एवं, यद् अयं न स्वीक्रियते, कः तत्र हेतुः? न तावद् असन्निधिः, अविद्यायाः व्यापकत्वात्. नापि बिम्बालोकसंयोगाभावः, सूर्यादिः विद्यमानत्वाद्, अन्तःकरणस्थलेऽपि अन्तःकरणस्य अन्तःसन्निहितत्वाद्, अन्तर्गृहगतदर्पणप्रतिबिम्बित-सूर्यप्रकाशेन आन्तरवस्तूनां प्रतिबिम्बदर्शनाद्, इहापि जीवचैतन्य-प्रकाशितान्तःकरण-संसृष्टे आन्तरबिम्बे आलोकान्तर-संयोगानपेक्षणात्. जीवचैतन्येन आन्तरप्रकाशानंगीकारे साक्षात् संसृष्टान्तःकरण-तद्धर्मादीनामपि अनवभासप्रसंगात्. मतेच तदवभासे तद्वदेव तत्संसृष्टानामपि अवभासाद् अहंकारादिवद् हृदयनाडीप्रभृतीन्यपि अनुसन्धीयेरन्, संस्काराधायकस्य अवभासस्य तुल्यत्वात्. अथ एकप्रतिबिम्बावरुद्धे दर्पणादौ अन्यस्य प्रतिबिम्बादर्शनाद् व्यापकजीवावरुद्धे अविद्यादौ इतरेषां प्रतिबिम्बो न भविष्यतीति अवरोधएव प्रतिबिम्बाभावे हेतुः इति विभाव्यते, तदपि असंगतम् एकप्रतिबिम्बावरुद्धे अन्यप्रतिबिम्बः तदा न भवति यदा बिम्बान्तरं पूर्वबिम्बव्यवधेयं भवति इहतु ब्रह्मणो व्यापकत्वेन परिच्छिन्नानां सर्वेषां ब्रह्मान्तर्वर्तित्वेन तद्व्यवधेयत्वाभावात् न जीवेन तत्प्रतिबिम्बावरोधइति दुर्वारएव सर्वेषां प्रतिबिम्बः इति. *ननु भवतु सर्वेषां प्रतिबिम्बः तथापि न जीवस्य सर्वज्ञतापत्तिः भवित्री, जीवसाक्षिवादस्य अनङ्गीकारात्. तथा सति कूटस्थचैतन्यं वा जीवाभिन्नं सर्वप्रत्यग्भूतं शुद्धं ब्रह्मैव वा परमेश्वरस्यैव रूपान्तरं वा साक्षी भविष्यति तस्यतु सर्वज्ञत्वेऽपि अदोषः. जीवस्तु, यथा सर्वगतं गोत्वसामान्यं स्वभावाद् अश्वादिसंगित्वाभावेऽपि सास्नादिमद्व्यक्तौ संसृज्यते, तथा विषयादौ सन्नपि जीवस्वभावाद् अन्तःकरणएव संसृज्यते. यदाच अन्तःकरणपरिणामो वृत्तिरूपो नयनद्वारेण निर्गत्य चक्षूरश्मिवद् झटिति दीर्घप्रभाकारेण परिणम्य विषयं प्राप्नोति, तदा तम् उपारुह्य जीवः तं विषयं गोचरयति. केवलाग्न्यदाह्यस्य तृणादेः अयःपिण्ड-समारूढाग्नि-दाह्यत्ववत् केवलजीवचैतन्याप्रकाश्यस्यापि घटादेः अन्तःकरण-वृत्त्युपारूढ-तत्प्रकाश्यत्वं युक्तमिति चिदुपरागार्थत्वेन वृत्तिनिर्गमम् अपेक्ष्य वृत्तिसंसृष्टविषय-

मात्रावभासकत्वात् तस्य किञ्चिज्ज्ञत्वम् उपपत्स्यते* इति चेत्. मा एवं. एवं स्वभाववादेन समाधानेऽपि जीवस्य प्रकाशप्रतिबिम्बत्वाद् अवच्छिन्नत्वे च ज्ञानरूपत्वात् स्वप्ने 'स्वयञ्ज्योतिष्ट्व' (बृह.उप.४।३।९)प्रतिपादनात् च प्रकाशरूपत्वेन स्वप्नइव परोक्षवृत्ताविव च पूर्वपूर्वानादि-संस्कारवशादेव इन्द्रियं विनैव वृत्त्युपपत्तेः ज्ञानेन्द्रियाणि वृथैव स्युः.

किञ्च अयःपिण्डसमारोहेण दाहकस्य अग्नेः साक्षात्संसृष्ट-दाहकत्व-दर्शनाद् वृत्त्युपारोहेण प्रकाशकस्य जीवस्य साक्षाद् अन्तःकरण-संसृष्ट-प्रकाशकत्वं सुतरां सुवचमिति अन्तःकरणे प्रतिबिम्बितानां प्रकाशो अस्य स्यादेवेति अधिकं तत्र अनुप्रविशेत्.

वस्तुतस्तु एवमपि गोत्वस्य सकलगोव्यक्तिष्विव एकस्यैव जीवस्य सर्वान्तःकरणसंसर्गस्य वक्तव्यत्वात्. तथा सति तत्तदन्तःकरणवृत्तिनिर्गमेण तत्तद्विषयप्राप्तौ तत्तद्वृत्त्युपारूढस्य जीवस्यापि तत्तद्विषयोपरागसम्भवात्, सर्ववृत्तिसंसृष्टविषयाणां गोचरीकरणे बाधकाभावेन किञ्चिज्ज्ञत्वस्य अनुपपन्नत्वमेव. अतो विषयविषयिभावो वा, विषयसन्निहित-जीवचैतन्य-तादात्म्यापन्न-वृत्तिविषय-संयोगद्वारको जीवविषययोः परम्परासम्बन्धो वा, अन्तःकरणवृत्त्युपादनस्य जीवस्य वृत्ति-विषय-संयोग-जनितः कार्याकार्यसंयोगात् कारणाकारणसंयोगात्मा साक्षात् संयोगो वा अन्तःकरणोपहितस्य विषयावभासकचैतन्यस्य विषय-तादात्म्यापन्न-ब्रह्म चैतन्याभेदाभिव्यक्तिद्वारा विषय-तादात्म्य-सम्पादनं वा, अन्यद् वा यत्किञ्चन चिदुपरागत्वेन अभिधित्सितं तस्य सर्वस्य वृत्तिसंसर्गजनितत्वेन वृत्तिजनकानां च अन्तःकरणानां सर्वशरीर-व्यापक-जीव-संसृष्टत्वेन, सर्वेषां सर्वज्ञतापत्तिः अनिवार्यैव. तत्रापि अनुपदोक्ते विषय-तादात्म्य-सम्पादन-पक्षे मैत्रस्य चैत्रदर्शने ''अहं चैत्रः'' इत्याद्याकारकज्ञानापत्तिः अधिका आयातीति फल्गून्येव एतानि कल्पनानि.

अथ जीवः सर्वगतोऽपि अविद्यावृतत्वात् स्वयम् अप्रकाशमानतया विषयान् अनवभासयन् विषयविशेषे वृत्त्युपरागादौ आवरणतिरोधानेन तत्रैव

अभिव्यक्तः तमेव विषयं प्रकाशयतीति आवरणभंगपक्षः किञ्चिज्ज्ञत्वार्थम् आलम्ब्यते. तदापि आवरणस्य वृत्त्युपरागतिरोभाव्यत्वाद् जाते वृत्त्युपरागे तेन आवरणभंगे सर्वान्तःकरणसंसृष्टो जीवः तत्तद्विषयेषु अभिव्यक्तः तं-तं विपयं प्रकाशयेदेवेति न किञ्चिज्ज्ञत्वोपपत्तिः. एवञ्च चैतन्यमात्रावरकाज्ञानस्य खद्योतप्रकाशेन महान्धकारस्येव ज्ञानेन एकदेशाज्ञाननाशो वा, पटवत् संवेष्टनं वा, भीतभटवद् अपसरणं वा, चैतन्यमात्रावरकस्यापि अज्ञानस्य तत्तदाकार-वृत्ति-संसृष्टावस्थ-विषय-चैतन्यानावरकत्व-स्वाभाव्यं वा, मूलाज्ञानावस्था-भेद-रूपाज्ञानान्तर-नाशो वा, अन्यो वा, यः कश्चनावरणभंगो निरुच्यतां स सर्वोऽपि वृत्त्युपरागजन्यएवेति जाते वृत्त्युपरागे पूर्वोक्तरीत्या सकलान्तःकरणसंसृष्टस्य जीवस्य सर्वज्ञतैव आयातीति न एतेऽपि रोचिष्णवः पक्षाः.

ननु एकस्मिन्नपि जीवे जन्मान्तरम् आपन्ने पूर्वजन्मानुसन्धानादर्शनात् शरीरभेदस्य सुखाद्यननुसन्धान-प्रयोजकत्वं क्लृप्तमिति सएव किञ्चिज्ज्ञतायाअपि प्रयोजको भवतु. तथाच व्यापकस्यापि जीवस्य शरीरान्तरे शरीरान्तरीयान्तःकरण-वृत्त्यादिभिः ज्ञानं न भविष्यतीति न सर्वेषां सार्वज्ञ्यापत्तिः इति चेत्, न, शरीरभेदस्य अननुसन्धानप्रयोजकतायाः योगिकायव्यूहे जातिस्मरे भूतादौ च व्यभिचारेण तस्य किञ्चिज्ज्ञतायामपि अतन्त्रत्वात्.

एतेनैव भोगायतनभेदस्य विश्लिष्टोपाधिभेदस्य च अननुसन्धानप्रयोजकत्वं परास्तं बोध्यम्, "उद्यदायुधदोर्दण्डाः पतितस्वशिरोक्षिभिः पश्यन्तो पातयन्ति स्म कबन्धाः अप्यरीन् युधि" (महाभा.   ) इति भारते भूतार्थवादात् च. नच *योगिप्रभृतिषु प्रभावविशेषेण अनुसन्धानेऽपि पूर्वोक्तोपाधीनाम् उत्सर्गतः तथात्वात् न अननुसन्धान-प्रयोजकत्व-हानिः* इति वाच्यं, बहुषु व्यभिचारदर्शनात्. एकत्र तथा दर्शनेहि औत्सर्गिकाननुसन्धान-तन्त्रत्वाविघातः प्रभाव-विशेष-समवधान-वशात् कल्पयितुं शक्यते, नतु बहुषु तथादर्शने. अतो मनुष्यविशेषेषु भूतेषु, मनुष्याद् उत्कृष्टयोनिषु सर्वेषु च, पूर्वजन्मीनज्ञानस्य तत्रतत्र उक्तेः शास्त्रस्य प्रामाण्यात् च, न पूर्वोक्तोपाधीनाम् अननुसन्धानतन्त्रत्वं साधीयः.

नापि अन्तःकरणभेदस्य तथात्वं, दृष्टिसृष्टिवादे पूर्वपूर्वस्य अन्तःकरणस्य नष्टत्वेन अग्रिमाग्रिमस्य तस्य भिन्नत्वात् पूर्वदृष्टानुसन्धानाभावप्रसंगात्. साक्ष्यैक्यैन तत्समर्थनेतु अन्तःकरणभेदस्य अप्रयोजकत्वात्, तत्तदन्तकरणे अस्य सर्वज्ञतायाएव आपत्तिः. अन्तकरणवैजात्येन समर्थनन्तु मज्जत-फेनावलम्बन- कल्पत्वात् कदर्यमेव. ''पादेन स्पृशामि''-''कर्णाभ्यां शृणोमि''-''चक्षुषा पश्यामि'' इति बाह्यकरणभेदेऽपि एकस्य ज्ञानवत् ''तेन-तेन अन्तःकरणेन तत्तद् जानामि'' इत्यादिज्ञानस्य अन्तकरणवैजात्येऽपि सुवचत्वात्. सृष्टिदृष्टिवादम् आलम्ब्य अन्तःकरणैक्यांगीकारेण समर्थनेऽपि बहिःकरणवैजात्यस्येव अन्तःकरणभेदस्यापि अप्रयोजकत्वाद् उक्तदूषणं निर्बाधमेव. नच *फलबलात् न अन्तकरणभेदस्य अप्रयोजकत्वम्* इति वाच्यं. फलबलस्य साधनभेदकल्पनामात्रप्रयोजकत्वेन अन्तःकरणभेदकल्पने अप्रयोजकत्वात्. फलबलेन जीवभेदकल्पनेऽपि दोषाभावात्. अतो व्यापकः एकः प्रतिबिम्बो जीवः इतिपक्षे कथमपि न सर्वज्ञतापत्तिपरिहारः.

ननु तर्हि अस्तु नानाणुजीववादः. तथासति अन्तःकरणे प्रतिबिम्बित-चैतन्य-रूपस्य जीवस्य परिच्छिन्नत्वेन सर्वसंसर्गाभावात् न सर्वज्ञतापत्तिः भवित्री. विषयप्रकाशस्तु विषय-संसृष्ट-वृत्ति-द्वारा, तडागसलिलस्य कुल्याद्वारा केदारसलिलैक्यवद्, जीवस्य विषयावच्छिन्न-ब्रह्मचैतन्याभेदाभिव्यक्तौ भविष्यतीति किञ्चिज्ज्ञत्वम् उपपत्स्यते इति चेत्, न इदं युक्तं भाति, ''सलिल एको दृष्टा(ऽद्वैतो) भवति'' (बृह.उप.४।३।३२) इति श्रुत्या सुषुप्तावेव जीवब्रह्मणोः एकीभावश्रवणात् तदितरत्र तदुपगमे श्रुतिविरोधाद्, जाग्रदादौ व्यावतर्कोपाधेः विद्यमानत्वात् च, दर्पणसत्त्वे बिम्बप्रतिबिम्बयोरिव जीवब्रह्मणोः अभेदस्य अशक्यवचनत्वात्.

किञ्च जीवब्रह्मणोः इदानीम् अभेदे अन्योऽन्यधर्म-विनिमयाद् ब्रह्मणो अल्पज्ञता अन्यस्य सर्वज्ञता च आपत्स्यत-इति न उक्त-दूषणोद्धार-सम्भवः. यदिच बिम्बभूतं विषयाधिष्ठान-चैतन्यमेव साक्षाद् आध्यासिक-सम्बन्ध-लाभाद् विषयप्रकाशकमिति आध्यासिक-सम्बन्धोपलक्षित-चैतन्यात्मना जीवैकीभावो,

नतु बिम्बत्व-विशिष्टरूपेणेति भेदस्यापि सद्भावात् न उक्तदूषणापत्तिः* इति विभाव्यते, तदापि विषय-तादात्म्यापन्न-ब्रह्मणातु एकीभावो अस्य जातएवेति ''अहं घटः'' इत्याकारक-ज्ञानापत्तिः, अध्यासेन अन्तःकरणतादात्म्यापत्त्या 'अहम्' इति ज्ञानवद्, अन्तःकरणधर्माणां सुखादीनां स्वस्मिन् अभिमानवद् विषयधर्माणामपि अभिमानप्रसङ्गो, ''अयं घटः'' इत्यादिज्ञानाभावः च स्यात्.

यदिच *विषयावच्छिन्नं ब्रह्मचैतन्यं विषयसंसृष्टायाः वृत्तेः अग्रभागे विषयप्रकाशकं प्रतिबिम्बम् अर्पयति, तस्य प्रतिबिम्बस्य जीवेन एकीभावे अभेदाभिव्यक्तिः, तस्यां सत्यां विषयप्रमितिः* इति विभाव्यते, तदातु सुतराम् असङ्गतं, वस्त्वन्तरावरुद्धे दर्पणादौ प्रतिबिम्बादर्शनाद्. विषयसंसृष्टे अग्रभागे ब्रह्मप्रतिबिम्बायोगात् विषयप्रकाशस्यैव अभावप्रसक्तेः. किञ्च प्रतिबिम्बार्पकं चैतन्यं यदि विषयाद् बहिः तदा तस्य वृत्तिसंसृष्टत्वात् प्रतिबिम्बायोगः? यदिच विषयान्तः तदापि विषयेन व्यवधानात् तथा. यदि विषयाद् दूरवर्तिनः तदा विषयावच्छिन्नत्वस्यैव अयोगः. किञ्च अन्तःकरणोपाधि-परिच्छिन्न-प्रतिबिम्बस्य अणुत्वाद् ऊर्ध्वदर्शने वृत्तिद्वारा तस्य निर्गमात् प्राणानामपि निर्गमापत्तिः, ''तमुत्क्रामन्तं प्राणानूत्क्रामन्ति'' (बृह.उप.४।४।२) इति श्रुतेः. किञ्च एवं कल्पनैकशरणत्वे गोलकद्वारा तैजसस्य वेगवतो वृत्तिरूप-परिणामस्य निर्गमादेव प्रमातृ-वृत्ति-विषय-चैतन्याभेद-सिद्ध्या विषय-प्रकाश-सम्भवे गोलकातिरिक्तेन्द्रिय-कल्पनापि वृथा स्यात्. तस्माद् अनादरणीयाएव एते पक्षाः.

एतेन प्रमाणचैतन्यस्य विषयावच्छिन्न-चैतन्याभेदः ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वप्रयोजकः इत्यपि निरस्तम्.

किञ्च यत्र भ्रमद्घटो गृह्यते तत्र वृत्त्युपरञ्जकस्य भ्रमणस्य विषयनिष्ठत्वाभावेन ततः चिदुपरागायोगात् तदग्रहणापत्तिः. नच *तत्र अर्निवचनीयं तज्जन्यतइति सुखेन तद्ग्रहणसम्भवः* इति वाच्यं, वृत्त्या घटाकारिकया आवरणाभिभवेन भ्रमणांशे विक्षेपस्य अशक्यवचनत्वात्.

किञ्च वृत्त्या विषयचैतन्याभेदाभिव्यक्तावपि विषयप्रकाशके ब्रह्मचैतन्ये तदभावात्, नयनप्रदेशे तदननुभवेन इन्द्रियेऽपि तदभावाद्. वृत्तिमात्रजनकस्य इन्द्रियसम्प्रयोगस्य विषयकारणत्वात्. क्लृप्तेश्च सम्प्रयोगेणापि विषये तदाधानायोगाद्, अन्तःकरणावच्छिन्नेऽपि "अहं भ्रमामि" इति अननुभवात् स भ्रमः सर्वत्र अलब्धसत्ताको घटेऽपि न स्याद्. यस्मात् स्वापि असन् घटदेशे अनुभूयते, तस्मात् तद्देशावच्छेदेन जायमाने मनोधर्मरूपे ज्ञाने अस्ति. तत् चेत्, प्रमातृविषय-चैतन्याभिन्नं स्यात्, तदा स भ्रमः सर्वानुभवगोचरः स्यात्. यस्मात् न एवं तस्मात् तज्ज्ञानं कार्यरूपं भिन्नमेव इति निश्चयः. नच *शुक्ति-रजतादिस्थले इदमाकारवृत्तौ सत्यामपि रजताध्यासदर्शनात् अंशतएव आवरणनाशइति, अंशान्तरेण भ्रमविक्षेपोऽपि भविष्यतीति, न तदननुभवानुपपत्तिः* इति वाच्यं, (क) विषये तत्सत्त्वे अन्येषामपि तदनुभवापत्तेः, (ख) अन्येषां घटद्रष्टृणां प्रमाणवृत्त्या तदंशावरणनाशाद् अस्यापि तदनुभवापत्तेश्च विषयाश्रितावरणपक्षस्यैव दुष्टत्वात्, (ग) पुरुषाश्रितपक्षेतु, उक्तरीत्या, प्रमातरि प्रमाणे प्रमेये च वक्तुम् अशक्यत्वेन घट्टकुटीप्रभातवद् अननुभवस्य सर्वानुभवगोचरत्वस्य वा आपातात् शुक्तिरजतस्यापि एतत्तुल्यत्वाद्, (घ) एवंमूलाज्ञानावस्थारूपाज्ञानानां नानात्वं अङ्गीकृत्य, घटावरकाज्ञानस्य घटाकारकवृत्त्या निवृत्तावपि, नैश्चल्यावरकस्य अनिवृत्त्या भ्रमविक्षेपादरणेऽपि, पूर्वोक्तरीत्या पुरुषनिष्ठतैव तस्य वाच्येति चैतन्याभेदस्य पूर्ववदेव असिद्धेः, वृत्तेः ज्ञानात्मकत्वमात्रकल्पनया तस्य उत्पत्तिनाशशालित्वमात्रेण निर्वाहे विषयावरण-तन्नानात्व-कल्पनयोः गुरुत्वाद् अप्रमाणिकत्वात् च.

एतेनेव घटावरकाज्ञानगतावरण-शक्तिमात्रनिवृत्तिः नतु विक्षेप-शक्ति-निवृत्तिरपि इति पक्षो निरस्तो बोध्यः, नैश्चल्यावरणम् अन्तरेण भ्रमणविक्षेपासम्भवाद् आवरण-शक्ति-निवर्तकतायाः अप्रयोजकत्वात् च, जलप्रतिबिम्बित-वृक्षाधोग्रत्व-भ्रमेतु प्रतिबिम्ब-पदार्थस्य अतिरिक्तत्वेन, मूलसमीपवर्तिनि जले मूलस्य — ततो विप्रकृष्टे अग्रस्य — प्रतिबिम्बाद् प्रतिबिम्बत्वेनैव अवगाहाद् भ्रमत्वस्यैव दुर्वचत्वेन तत्र आवरणादि कल्पनायाएव अयोगात् च इति दिक्.

अतो जन्यज्ञानस्य इन्द्रियान्वय-व्यतिरेकानुविधान-दर्शनात्, शक्तिग्राहकेषु कोशादिपु ''प्रेक्षोपलब्धिः चित् संविद्'' (अम.को.१।५।१) इति 'चिदा' दिभिः सह 'बुद्धेः' ऐकार्थ्येन वृत्तेः ज्ञानात्मकत्वनिश्चये तत्र ज्ञानोपचारपक्षस्य अयुक्तत्वात् च जन्यज्ञानम् अतिरिक्तमेव तदुत्पत्तिप्रणाडी च पूर्वोक्तरीतिकैव इति निश्चयः

भगवत्साक्षात्कारप्रणाडी :

भगवत्साक्षात्कारेतु न एषा प्रणाडी. तस्य प्रमेयबलादेव भवनात् ''नायमात्मा...'' (मुण्ड.३।२।३) इति श्रुतौ इतरसाधननिरासेन उपलक्षणविधया निरस्तत्वाद्, उत्तरार्धे (द्रष्ट.''यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्'' इत्यस्मिन्नंशे : मुण्ड.३।२।३) वरणस्य लाभसाधनत्वकथने स्वस्यैव तनुविवरणसाधनत्वोक्तेः च. वरणञ्च अनुग्रहः. सच धर्मान्तरमेव नतु फलदित्सा, ''यस्य अनुग्रहम् इच्छामि'' (   ) इति वाक्यात्. सच भक्तिबीजभूतो अतो ''भक्त्या माम् अभिजानाति'' (भग.गीता.१८।५५) ''भक्त्यात्वनन्यया शक्यः'' (भग.गीता.११।५४) ''भक्त्या अहम् एकया ग्राह्यः'' (भाग.पुरा.११।१४।२१) इत्यादिषु न विरोधः. अवतारदशायान्तु ''मां सर्वे पश्यन्तु'' इत्याकारिकया सामान्येच्छयापि दर्शनं; तत्रापि, नानाविधाभिः यथा ''मल्लानामशनिः...'' (भाग.पुरा.१०।४३।१७) इत्यादौ.

एवञ्च भक्त्या सामान्येच्छया च इति द्वेधा दर्शनम्. उभयथापि प्रमेयबलमेव कारणमिति न विरोधः. स्वसाधनसामग्र्यादिभिः दर्शनज्ञानन्तु अभिमानमात्रात्. अतएव ''अविज्ञातं विजानतां विज्ञातम् अविजानताम्'' (केनोप.२।३) इत्यादिश्रुतिः सङ्गच्छते. ''मनसैवानुद्रष्टव्यः'' (बृह.उप.४।४।१९) इत्यादावपि प्रमेयबलानुगृहीतमेव तदभिप्रेतमिति श्रुत्यन्तराविरोधाय अनुसन्धेयम् इति शुभम्.

इति प्रस्थानरत्नाकरे प्रमाणपरिच्छेदे प्रमाकरणस्वरूपनिरूपके द्वितीये कल्लोले
प्रत्यक्षप्रमाकरणनिरूपको तृतीयः तरङ्गः
समाप्तः

‘Prasthānaratnākar’ Prstāvanā

by Goswami Sri Shyammnoharji

प्रत्यक्षप्रमाके करणका निरूपण

English Translation : Dr. Mrs. Sunanda Y. Shastri

Sense organs should be understood as the means of direct perception. The sense organs of six kinds viz. eye, skin, nose, tongue, ear and mind (मनस्). Mind is internal and external both, since it is connected with action and knowledge. These sense organs are atomic in size, beyond the grasp of gross sense organs and though they are not eternal, still they are long lasting and changing or subject to transformation.

As their objects, the manifested form, objects having manifested form, number, measurement, disjunction, conjunction, division, otherness, separateness, speed etc. qualities, action manifested in these, their category (जाति = universality) indicated by suffix (त्व) (Tva) and all these qualities, actions and properties with their substratum.

Qualities, actions and properties and their one ness with the substance, in which the manifested touch and (objects) having manifested touch are perceivable by the skin (tactual). Substance having manifested smell, and the qualities actions and properties of such substance and their oneness with substratum are perceivable by nose (olfactory). Taste, substance having taste, qualities, actions and properties of substance having manifested taste and their oneness with substratum are perceivable by tongue (Qustatory). Sound, substance having sound, qualities, actions and properties of substance having manifest sound and their oneness with substratum, are perceivable by ear (auditory).

According to some thinkers, nose, tongue and ear these organs do not perceive the substance, but only perceive qualities. But according to Vāllabha Vedānta, it is better to hold that these sense organs perceive the substance. It is because in the experiences of milk after drinking milk in the darkness of night, of flowers after smelling Campaka etc. fragrant flowers and of trumpet after hearing trumpet sound etc., objects are directly perceived by tongue, nose and ear respectively.

The Earth having manifested qualities, becomes object of the five sense organs. Water having manifested qualities becomes the object of four sense-organs, except nose. Fire becomes object of three sense organs except nose and tongue. Wind becomes object. of two sense, organs viz. skin and ear. The sky is formless therefore, not perceivable by the eyes, but by the power of object to be known (प्रमेयबल) space becomes visible to eyes. Similarly directions and time both are not perceivable by the sense organs, still they both being the adjectives of perceivable objects, are perceived.

Desire etc. are variations of mind are perceived by the mind

Soul, in its true form is perceivable only through the means prescribed in the scriptures and not by the worldly direct perception. Though the soul being one with the notion 'I' (ego) becomes perceivable by the intellect having notion 'I' (ego). Or perception of the soul, in its pure form, cannot be perceived by ordinary perception. Only through proper means, prescribed by the scriptures, the perception of soul is possible. The self can be experienced through the notion 'I'(ego) by an individual due to the identification of self with ego.

Reflections, illusory or ghost figures and hypnosis are experienced not because of the perceiving ability of sense organs, but because of the nature of that particular object, therefore, it is unnecessary to search cause and effect in appearance. Similarly, darkness is not accepted as the absence of light but it is Māyika (illusory) object. It is connected with the basic construction of human eyes. Hence other animals are able to see into darkness, since illusory (मायिक) darkness cannot cover their eyes. Human eyes become covered by the illusory (मायिक) darkness due to the lack of proper/enough light. Similarly, refrection also is accepted as one illusory (मायिक) object. This topic is discussed at length in Andhakāravāda and Pratibimbavāda.

Among the kinds of Abhāva (non-existence) accepted by Naiyākas prior non-existence (प्रागभाव)is condition of substance considered as (उपादान) (material cause) or (समवायी) coherent of the name form and actions of the effect with concealment (तिरोभाव) and favourable to the manifestation (आविर्भाव) of effect. Similarly. Posterior non-existence (प्रध्वंसाभाव) is unfavourable. State of the effect. Thus, by perceiving the material cause, the method of perception of prior non-existence and posterior non-existence can be understood. This topic has been explained in detail in 'Āvirbhāvatirobhāvavāda' chapter of Avatāravādāvalī, therefore, not discussed here in detail. As far as the 'Mutual non-existence' (अन्योन्याभाव)is concerned. It should be noted that it is in two wys. Viz. first of all, in the example of "Pot is not cloth". The absence of pot in the cloth is experienced and objected as "Can pot be cloth?" which is refuted as "Pot cannot be cloth". Thus, the mutual non-existence can be perceived. The point to be noted here is, the relation by which cloth is absent in the substratum pot, by the same controlling relation. Clothness is absolutely absent in the substratum pot. Accepting thus mutual-non-existence (अन्योन्याभाव) dose not remain as an independent variety of non-existence and it becomes 'Absolute non-existence' (अत्यन्ताभाव). As Pot exists in the pot by the relation of identity (तादात्म्य), it does not exist in the cloth, such kind of explanation is given about Mutual-non-existence. By imposing non-existence of cloth on the pot and then negating it, the total form of pot is revealed by the concealment of cloth. Therefore, it is proper to include the mutual non-existence of cloth and pot in the form of cloth and pot. The last kind of non-existence i.e. Absolute non-existence (अत्यन्ताभाव) should be understood as concealment(तिरोभाव). Because 'Absolute non-existence' cannot be deemed as essenceless like sky-flower (खपुष्प). The absence of anything in any place is called its 'Absolute non-existence', then definition of absence is formed through the experience of concealment of that object. Then only "Pot is not on the floor" such kind of perception of the floor associated with concealment of pot is perceived.

After the explanation of sense organs, their actions need to be explained. The action of sense organs is called (प्रत्यासत्ति)=contact. It is of two kinds, viz. (1) Ordinary actions and (2) Extra-Ordinary actions.

Ordinary actions are again of five kinds viz.:

(1) Contact (संयोग)
(2) Identity (तादात्म्य)
(3) Conjunction and identity (संयुक्ततादात्म्य)
(4) Conjunction-cum-adjectivity (संयुक्तविशेषणता) and
(5) Essence (स्वरूप).

Visual perception of substance takes place when the substance comes in contact with the eyes. The perception of emotions like determination, doubt, pleasure etc., which arise within through mind (मनस्), takes place through identity-contact. Perception of qualities, actions and properties in the substance is possible through conjunction and identity

(संयुक्ततादात्म्य)contact. Concealment(तिरोभाव) is always perceived in the form 'conjunction-cum-identity' (इन्द्रियसंयुक्त-विशेषणता) contact with sense organs. Similarly, to perceive mental states, form of those mental states themselves become contact.

Extraordinary activities are of three kinds viz. 1. Universal (Sāmānya); 2. Supra sensuous (Yogĵ) and 3. Māyā.

General properties in the persons are perceived by the universal contact. Therefore, universal contact is useful in the inherent knowledge of particular person. Future, past or extra sensory things are perceived by Supra sensuous contact. The Māyika contact creates perceptual error without manifesting non-existent or concealed objects presenting in the intellect in particular time-space.

After this discussion, the author has discussed in detail the Anupalabdhi Pramāṇa (non-apprehension), which is presented to define perception of non-existence of the object, according to those schools of thought, which accept object as existing and non-existing both. In this regard, after evaluating the views of ŚrīPārasanāth Miśra, Vedānta-paribhāṣākār, VaiṣesAesYikas and Naiyāyikas, the author has expressed his own view, stating that, it is not necessary to accept non-apprehension (Anupalabdhi) as an independent means of valid knowledge to perceive non-existence. Because, just as after perceiving particular object through the eyes, its knowledge is manifested. Similarly, we do not get knowledge of any object through non-apprehension (अनुपलब्धि).

Indeterminate knowledge created by the Sense object contact achieves its visual etc. determinate state through mental states. Therefore, discussion of nature of mental states becomes necessary.

Form of the objects seen outside, can be felt within after closing eyes. This form cannot be of the outer object, because abandoning outer substratum, entering of that form within seems impossible. So, that form has to be accepted as the form of some inner object within. Sāṅkhya school calls it Vṛtti (state) as different egoistic principle. Naiyāyikas believe that the rays of the eyes reach the object and there is sense object contact. Through this sense object contact some kind of impression is formed, which is inherent in the Ātman, accepting thus, they reject the Vṛttis (state).

It is necessary to note that, the form of the perceived object in the eyes is matter of experience (अनुभवगोचर), therefore, it is proper to accept internal state. It should not be deemed as different principle or different inherent properly of Ātman. Because, this is some particular state of intellect according to Vāllabha Philosophy. How can the internally set intellect take form of outer object; answer to such doubt is: When sense organs combined with the mind come in contact with outer objects, then form of the object is reflected in sense organs, just as one's face is reflected in the mirror. Continuous mixing and friction of the Sattva, Rajas and Tamas cause disturbance, and non-disturbance in the intellect; therefore, due to this disturbance, mental state, sometimes is transformed, partially or totally taking the shape of reflections in the sense organs of outer objects and sometimes it may not take any shape also. It happens so, because intellect helps cognitive organs and organs of actions, therefore, when intellect is in position of helping the organs determinate knowledge and favourable activity to that arise. Sometimes, when helping nature of intellect is obstructed due to increase of Rājas or Tamas, then doubt or determinate knowledge of error arises. Thus, all these mental states are particular state of intellect only. After intellect is shaped in the form of object supplied by sense object contact, then only direct perception takes place. Otherwise if intellect is shaped in the form different than the object then it is believed to be an error. Similarly, due to the various kinds of mental states, all other subdivisions of knowledge should be understood as an outcome of different mental states. As per the statement of Bhāgavata, *"Mental states, viz. awakening, dreaming and deep sleep are emerge from Guṇas and individual soul is definitely different from them as spectator"* proves that all kinds of knowledge is mental state only. When the enjoyment giving Karmas arise, that is waking state, when those Karmas become dormant then it is dream or state of deep sleep. Instead of accepting such kind of theory, it is proper to accept that the mixing and friction among three Guṇas, which are manifested for the sport of Lord, goes on according to will of God. Thus, it is better to accept that Gns are the nearest cause of different states of intellect. That is why, in the eighteenth chapter of Bhagavad-gītā it is said that body as substratum (अधिष्ठान), Jīva as agent(कर्ता), instruments(करण) such as sight etc. external sense organs, four kinds of internal instruments; action of Prāna etc. vital airs called Ceṣṭā; time and Lords will called destiny(दैव) or the inner controller(अन्तर्यामी) of all living beings described in the 61 verse in the 18 chapter of Gītā, become instrumental in all our activities.

The process of direct perception is like this : [1]Mind becomes ready for particular action inspired by inner controller (अन्तर्यामी). [2]Then mind inspires concerned sense organs. [3]When sense organs are in agreement with their preceding deities, then only sense organs come in contact with objects. [4]Then indeterminate knowledge is generated after object are reflected in sense organs. [5]Then, along with the mixing and friction of three Guṇas in intellect, intellect may grace the sense organs, partially of totally. [6]Then mental states accordingly manifest and different kinds of determinate knowledge arise. [7]Emotions like attachment, aversion or neutrality etc. become strong according to the different kinds of determinate knowledge, [8]from those emotions, inner and external activities, like will efforts etc. emerge [9]Then the activity of accepting or rejecting or neutral attitude takes place and [10]In the end, gain and loss which is cause of happiness and sorrow or indifference manifest.

According to the method described above, all the activities done through intellect are deemed by Jīva (individual self) as happening within due to superimposition of Antaḥkaraṇa (अन्त:करणाध्यास) imposition of Pāṇa (प्राणाध्यास) imposition of sense organs (इन्द्रियाध्यास) imposition of body (देहाध्यास) on it and due to forgetting one's own real nature(स्वरूपविस्मृति).

Consequently, they appear as the properties of the soul on one hand and on the other except these properties, the principle like soul is not even accepted. Really speaking, this happens because the consciousness of the soul is reflected in the inner organs, i.e. vital air, sense organs and body.

The process of dream knowledge takes place in some different way then the above mentioned method of direct perception. In this process, soul consciousness in the form of properties shrinks and is averted form body, sense organs and mind and only is reflected in the ego (अहङ्कार) and intellect. Therefore, soul-consciousness, due to super imposition of ego and intellect does the activity of creating happiness and sorrow by enjoying the objects in intellect according to Karma.

After sleeping due to the excess of Tamas, the soul in the form of pure consciousness, withdrawn from the happiness and sorrow producing Karmas, enjoys the Supreme bliss in the inner most heart (हृदयाकाश) with self knowledge through the enigmatic knot Citta (consciousness/intellect/mind)

After this discussion, the author has discussed and explained Naiyāyika's and Śaṇkara's view in this regard and explained the method of realization of God according to Vāllabha doctrine, in the end of this chapter.

Difference between the method of emergence of knowledge of direct perception and the method of realization of God is; the realization of God takes place by the power of the Lord/times/(प्रमेय) and not by the power of means of valid knowledge.

> ‘This self is not attained through study, nor through the intellect, nor through much hearing. The very self which this aspirant seeks is attainable through that fact of seeking, this self of his reveals his own nature’’.

(Muṇḍakopaniṣad. III ii-3)

—this statement from Muṇḍakopaniṣad. Supports that realization of God is possible by ‘His’ acceptance only. Meaning of the word (वरण) (Acceptance) should not be taken in the sense of desire to give fruit related to the mundane world or to liberation. It is to be taken in the sense of desire to give an experience of his own form ‘or’ to inculcate extreme love for ‘His Own form’. This acceptance (वरण) is only in the form of Grace (अनुग्रह).

The acceptance by the God Lord during the period of incarnation becomes the seed to sprout and bloom devotion towards the God, but during the period of non-incarnation (अनवतारदशा) acceptance by the God takes the form of desire of the God to manifest before, the devotee. Thus, a devotee or non-devotee, everyone can perceive the God. The method is same, i.e. through the power of object to be known, i.e. God's power this 'Darsana' (vision) is possible and not through the means of valid knowledge.

* * *

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

प्रत्यक्षप्रमाणके वारेमें कुछ पुरःस्फूर्तिक विचार

(वाल्लभ दृष्टिकोण)

गोस्वामी श्याम मनोहर

(उपक्रम)

वाल्लभ दृष्टिकोणके अनुसार यह सम्पूर्ण दृग्द्रष्टृदृश्यात्मक नाम-रूप-कर्मात्मक जगत् उस एकमेवाद्रितीय सच्चिदानन्द ब्रह्मकी सत्यसंकल्पता तथा सर्वभवनसामर्थ्य की इतिकर्तव्यतारूपा आविर्भाव-तिरोभावरूपा शक्तिओंद्वारा सम्पन्न होती एक लीला है. ब्रह्म तत्त्व लौकिक प्रत्यक्षानुमानादि प्रमाणोंसे गम्य कोई प्रमेय न हो कर एक शास्त्रीय प्रमेय ही है. अतः प्रत्यक्षग्राह्य नाम-रूप-कर्मोकी ब्रह्मात्मकता भी प्रत्यक्षका विषय न हो कर श्रुति-स्मृति-सूत्र-पुराण-तन्त्र-इतिहासरूप शास्त्रवचनैक-गम्य प्रमेय है. फिरभी उस ब्रह्मकी लीलाके रूपमें प्रकट हुवे ये नाम-रूप-कर्म तो प्रत्यक्ष अनुमान आदि प्रमाणोंसे गम्य बनते ही हैं. और अतएव अपने लीलार्थ परिगृहीत इन नाम-रूप-कर्मोके पहलुमें ब्रह्म भी प्रत्यक्षादि प्रमाणोंका प्रमेय भी बनता ही है. अतएव महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरण कहते हैं :

> “अनन्तमूर्ति तद् ब्रह्म कूटस्थं चलमेव च विरुद्धसर्वधर्माणाम् आश्रयं युक्त्यगोचरम्. ब्रह्मैव हि सर्वाधारं, यथा भूमिः सहजविरुद्धानामपि मूषकादिजीवानां, कारणगतधर्मः पृथिव्यां भासते. विशेषेण लौकिकयुक्तिः अत्र नास्ति, तदगम्यत्वात्... ननु अवतारेषु भगवत्त्वश्रुतेः लौकिकप्रमाणविष-

यत्ववद् लौकिकयुक्तिविषयत्वमपि कुतो न? इति आशंक्यय आह 'आविर्भावतिरोभावैः मोहनं बहुरूपतः इन्द्रियाणान्तु सामर्थ्याद् अदृश्यं स्वेच्छयातु तत्'... चक्षुः न स्वसामर्थ्येन भगवन्तं विषयीकरोति किन्तु भगवदिच्छयैव 'सर्वे पश्यन्तु!' इत्येतद्रूपया तद् दृश्यम्.''

(त.दी.नि.प्र.१।७१-७२)

✓अतः लौकिक विषयोंके शास्त्रीय स्वरूपके बारेमें लौकिक प्रत्यक्षादि प्रमाणोंका प्रामाण्य अवनसरपराहत होनेपर भी शास्त्रीय विषयोंके लौकिक स्वरूपके बारेमें प्रत्यक्षादि प्रमाणोंका प्रामाण्य वाल्लभ चिन्तनमें भी सर्वथा स्वीकारा ही गया है. क्योंकि अन्यथा ब्रह्म या ब्रह्मात्मिका लीला के प्रतिपादनार्थ, सर्वथा अदृष्ट या अश्रुत रहनेपर तो, ब्रह्मविषयिणी परोक्ष शाब्दी प्रमाके जननके व्यापारमें भी शास्त्रवचन अक्षम हो जायेंगे.

अतएव रूपसृष्टिके साथ-साथ तत्प्रतिरूप एवं तदन्तर्गत नामसृष्टिके प्राकट्यका प्रयोजन रूपलीलाद्वारा व्यामुग्ध एवं बद्ध चिदंशरूप जीवात्माओंका नामलीलाद्वारा उद्धार प्रतिपादित हुवा है.[१] जीवात्मचैतन्य अपने चिदंश होनेके रूपमें नतो रूपसृष्टिमें अन्तर्गणित होता है और न नामसृष्टिमें ही. फिरभी उसी चिदंशके जीवभावापन्न होनेपर वह अपने ज्ञानकर्मादि व्यापार रूपसृष्टि और नामसृष्टि के साथ संहत हो कर ही सम्पन्न कर पाता है. नामसृष्टि और रूपसृष्टि के बीच रहे इतरेतरविलक्षण स्वभावका निरूपण महाप्रभु यों करते हैं कि रूपसृष्टि अन्तवती स्थूल विकृत एवं जड़ात्मिका होती है जबकि नामसृष्टि अनन्तं सूक्ष्म अविकृत एवं बोधात्मिका होती है[२] यों बन्धनकारिणी रूपसृष्टि और मुक्तिदायिनी नामसृष्टि दोनों ही भगवल्लीलारूपा ही होती हैं. अतएव श्रुत्यादिशास्त्रैकगम्य तत्त्वस्वरूपोंकी प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे अगम्यता बन्धनकारिणी लीला होती है. क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे गम्य रूपरसगन्धस्पर्णशब्दादि विषय स्वयं

बन्धनकारी होते हैं. इन्हीं, किन्तु, प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे गम्य नाम-रूप-कर्मोके श्रुत्यादि शास्त्रोंके वचनोंमें प्रतिपादित या विहित स्वरूप मुक्तिसम्पादक भी हो पाते हैं. एतावता सिद्ध होता है कि बन्धनकी तरह मुक्ति भी उसी परम तत्त्वकी एक लीला है. और अतएव प्रत्यक्षादि प्रमाणोंका इस अर्धजरतीयन्यायसे प्रमाण और अप्रमाण होना दोनों ही भगवल्लीलाके ही दो विलक्षण अनुभाव हैं! अस्तु.

(विषय)

प्रत्यक्षके प्रामाण्यका, इस अर्धजरतीयन्यायसे, अभ्युपगम हमें सोचनेकी इस दिशाकी ओर अग्रसर करता है कि प्रत्यक्षानुभूति अपने किस स्वरूपमें प्रमाण होनेकी पदवीपर आरूढ़ हो नहीं पाती?

वाल्लभ दृष्टि इस विषयमें यों है कि प्रत्यक्षानुभूतिका केवल एक अनुभूतिके रूपमें प्रमाण होना नियत या अनिवार्य न होनेपर भी उससे पैदा होनेवाली बौद्धिकी निश्चिति, जिसके आधारतया बुद्धिका सात्त्विकी अवस्थामें होना एक अनिवार्य निकष माना गया है[3], इस रूपमें वह अनुभूति प्रमाणपदवीपर आरूढ़ हो पाती है.

(संशय)

स्पष्ट है कि प्रत्यक्षानुभूति निर्विषयकचैतन्यरूपा तो हो ही नहीं सकती. अतः प्रत्यक्षानुभूतिके घटक (विषय / कर्म; तथा, विषयी / बाह्याभ्यन्तरकरण तथा कर्ता या अधिष्ठान यों) न्यूनतम दो या तीन तो स्वीकारने ही पड़ते हैं. अतः इस जिज्ञास्यविषयके मूलमें कुछ विकल्प इस तरह संशयात्मना उभरते हैं यथा —

१.क्या प्रत्यक्षानुभूति निश्चेष्ट (passive) ग्राहक

बाह्याभ्यन्तर करण या कर्ता के ऊपर सचेष्ट (active) बाह्य विषयोंका कोई वास्तविक प्रभाव (real impression) है?

२.अथवा क्या यह प्रत्यक्षानुभूति विषयद्वारा विषयीपर आरोपित कोई मिथ्या प्रभाव (super-impossed impression) होता है?

३.अथवा क्या यह प्रत्यक्षानुभूति निश्चेष्ट (passive)बाह्य विषय, उसे द्रव्य (Matter) प्राकृत विषय (Natural object) , वस्तुका अकल्पित स्वरूप (Thing-in-itself=Noumenon) , स्वप्रयोजनक अभोग्य वस्तु (pour soi), परप्रयोजनक या अस्वप्रयोजनक भोग्य वस्तु (en soi) जिस किसी भी रूपमें देखा जाये, उसके बारेमें सचेष्ट (active) विषयी ज्ञानकरण अथवा ज्ञाता का कोई प्रतिभाव (reaction/expression) है?

४.अथवा क्या यह प्रत्यक्षानुभूति ज्ञानकरण / ज्ञाता द्वारा विषयपर किया गया कोई मिथ्या आरोपण (projection/superimposition) है?

५.अथवा क्या यह प्रत्यक्षानुभूति विषयीके गुणधर्मोका इकतरफा मिथ्यारोपण न हो कर विषय और विषयी दोनोंके गुणधर्मोंकि अन्योन्यारोपणात्मक अध्यासरूपा घटना है?

६.अथवा क्या यह प्रत्यक्षानुभूति इन दोनोंके बीच उभयत्र परस्पर घटित होती क्रिया-प्रतिक्रियारूपा कोई उभयविलक्षण घटना है?

७.अथवा क्या यह प्रत्यक्षानुभूति दोनोंमें निगूढ़ सम्भावनाके तोरपर रहे हुवे अनभिव्यक्त गुणधर्मोकी

अन्योन्यसहयोगवश उभरनेवाली कोई वास्तविकता या अभिव्यक्ति है ?

ये हैं : जिज्ञास्य विषयरूप प्रत्यक्षप्रमाणके बारेमें संशयकी विभिन्न कोटियोंके विभिन्न कल्प.

(पूर्वपक्ष)

१.हम देख सकते हैं कि जिज्ञास्यविषयके बारेमें संशयका प्रथम कल्प सांख्यसदृश निष्क्रिय पुरुषचैतन्य तथा सक्रिय जड़प्रकृति के द्वैतवादी चिन्तनमें मान्य होना शक्य होनेपर भी शुद्धाद्वैतवादी वाल्लभ वेदान्तमें मान्य नहीं हो सकता है.

२.द्वितीय कल्प उन दार्शनिक चिन्तनोंमें सम्भव है जो चैतन्यको सर्वथा निर्गुण निष्क्रिय निराकार या निर्धर्मक मानते हैं परन्तु वाल्लभ चिन्तन चैतन्यको उसके मूलस्वरूपमें तो निर्गुण निष्क्रिय निराकार या निर्धर्मक तो कथमपि नहीं मानता. अतःप्रत्यक्षकी ऐसी व्याख्या भी वाल्लभ चिन्तनमें पूर्वपक्षमें ही अन्तर्भूत होगी.

३.इसी तरह तृतीय कल्पमें भी मूलतः बाह्य विषय और विषयी के बारेमें एक तरहका द्वैतवादी पूर्वाग्रह तो भासित हो ही रहा है. क्योंकि बाह्य विषय प्रत्यक्षानुभूतिके जननव्यापारमें निश्चेष्ट सहयोगी (active partner) होते हैं या होता है. वाल्लभ वेदान्तकी दृष्टिके अनुसार जड़ द्रव्यका अकल्पित वास्तविक स्वरूप सच्चिदानन्दात्मक ही होता है, जो जीवचेतनाद्वारा सामान्यतया प्रत्यक्षग्राह्य नहीं हो पाता. सच्चिदाननन्द ब्रह्मके सत्यसंकल्प और सर्वभवनसामर्थ्य के वश सदंशमें चैतन्य और चिदंशमें आनन्द के तिरोभाववश प्राकृत सदंशोंमें

गृहीत होती जड़ताका कुछ विषयगत आधार (objective ground) होनेपर भी चिदानन्दांशके तिरोभाववश उन जड़ द्रव्योंमें चेतना या आनन्द के ऐकान्तिक अत्यन्ताभावकी प्रतीतिमें हेतु जीवात्माओंका अपना परिच्छिन बोधसामर्थ्य भी विषयिगत आधार (subjective ground) स्वीकारा गया है. अतः इस सन्दर्भमें वाल्लभ वेदान्त प्रत्यक्षानुभूतिके गोचर विषयोंको (nonmena/phenomena) के ऐकान्तिक वर्गोंमें विभक्त करनेको जर्मनीके अज्ञेयवादी इमानुएल कान्टकी तरह समुद्यत नहीं हो पाता. रही बात द्रव्यके बारेमें निश्चेष्टताकी तो, ऐसी (inertia) की धारणा भी पुनः शुद्धाद्वैत वेदान्तको रास नहीं आ सकती है. क्योंकि न्याय-सांख्यमतोंकी तरह जड़ प्राकृत द्रव्योंका भोग्यभावात्मना प्रकट होना तथा पुरुषचैतन्यका भोक्तृभावसे मण्डित होना, वाल्लभ वेदान्तमें भी, लीलार्थ प्रकट ऐच्छिक द्वैतके अनुरोधवश तो मान्य है ही. वाल्लभ वेदान्तमें, फिरभी, नतो न्यायमतकी तरह जड़ द्रव्यको सर्वथा निष्क्रिय और न सांख्यमतकी तरह पुरुषचैतन्यको ही सर्वथा निष्क्रिय माना गया है. और न केवल जड़ प्रकृतिको ही सक्रिय माना गया है. अतः पुरुषचैतन्यको केवल भोक्तृभावापन्न (en soi) मान लेने भी वाल्लभ वेदान्त समुद्यत नहीं है. क्योंकि उसके भोक्तृभावके घटक बाह्याभ्यन्तर करण स्वयं भोग्यभावापन्न जड़प्रकृतिसे उसे उधार मिले हुवे होते हैं. अंशी परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णको वाल्लभ वेदान्त **''क्रीडार्थम् आत्मनः इदं त्रिजगत् कृतं ते''** (भाग.पुरा.८।२२।२०) तथा **''अत्ता चराचरग्रहणात्''** (ब्र.सू.१।२।९) वचनोंके आधारपर मूलभोक्ता स्वीकारता होनेसे, उन्हें ही (primordial en soi) स्वीकारेगा. जीवात्माओंके तो ब्रह्मके चिदंश होनेके कारण उनका कर्तृत्व-भोक्तृत्वकी आंशिक अभिव्यक्ति ही होती है. यह हम देख सकते हैं कि ब्रह्मसूत्रगत 'चराचर' पद भी जड़जीवके प्रभेदका वाचक नहीं माना गया है. क्योंकि अक्षरब्रह्म कूटस्थचैतन्य अचर भी होता है और अंशभूत

जीवचैतन्य चर भी. इसी तरह आकाशको जड़ होनेपर भी अचर माना गया तो अन्य भौतिक तत्त्वोंको चर भी. अतएव जड़जीवात्मक उभयविध जगत्को ब्राह्मिक सन्दर्भमें वाल्लभ वेदान्त न तो ऐकान्तिकतया भोग्य ही और न ऐकान्तिकतया भोक्ता ही मान पाता है. व्यवस्थित विकल्पवश ब्रह्मके मदंशभूत जड़ द्रव्योंमें प्रकट भोग्यभाव तथा जीवात्माओंमें जड़ द्रव्योंद्वारा निरूपित प्रकट भोक्तृभाव होनेपर भी, पारमात्मिक भोक्तृभावनिरूपित प्रकट भोग्यभाव भी स्वीकार्य है ही.

४.इस प्रकारका मत भारतीय चिन्तनमें तो उपलब्ध न होनेपर भी पाश्चात्य चिन्तनमें अनुभववादिओंद्वारा प्रस्तावित किया गया है. इस अनुभववाद *विरु.* तर्कवाद के आपसी विरोधाभासके बारेमें वाल्लभ वेदान्तकी धारणा कुछ इस तरहकी सोची जा सकती है कि प्रत्यक्षगोचरतया अनुभूयमान सारेके सारे प्रत्यय न तो हमारी चेतनामें, तर्कवादी (Retionalistic) धारणाके अनुरूप अन्तर्निगूढ़ ही रहते हैं और नहीं अनुभववादी (Empiricistic) धारणाके अनुरूप केवल इन्द्रियार्थसत्सम्प्रयोग-जन्य ही. पुनश्च, अर्धजरतीयन्यायेन, चेतनाके भीतर बाह्य उद्‌बोधकसामग्रीवशात् उद्‌बुद्ध होते हैं और कुछ बौद्धिकी चेतना अपनी सात्त्विकी राजसी या तामसी अवस्थाओंके अनुरूप अपने भीतर घड़े प्रत्ययोंका बाह्यप्रक्षेपण भी करती है. ‘प्रस्थानरत्नाकर’ ग्रन्थके प्रमास्वरूपबोधोपयिकज्ञानभेदोपभेदनिरूपक कल्लोलमें दशविधज्ञानकी निरूपक आद्य तरंगमें[४] इस विषयका विस्तारपूर्वक भलीभांति उपपादन हुवा है.

५.भगवत्पाद श्रीशंकराचार्यने अपने शारीरकभाष्यके उपोद्‌घातमें इस तरहके अध्यासका[५] मनोरम निरूपण किया है परन्तु महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरण अपने भाष्यमें इस प्रक्रियाका प्रत्याख्यान इन शब्दोमें करते हैं :

(क)“वेदेनैव तावत् कर्तृत्वं बोध्यते. वेदश्च परमाप्तो

> अक्षरमात्रमपि अन्यथा न वदति. अन्यथा सर्वत्रैव तदविश्वासप्रसंगात्. नच कर्तृत्वे विरोधो अस्ति, सत्यत्वादिधर्मवत् कर्तृत्वस्यापि उपपत्तेः. सर्वथा निर्धर्मकत्वे सामानाधिकरण्यविरोधः. 'सत्य'-'ज्ञाना'दिपदानां धर्मभेदेनैव तदुपपत्तेः. नच कर्तृत्वं संसारिधर्मो देहाध्यासकृतत्वाद् इति वाच्यं, प्रापञ्चिके कर्तृत्वे तथैव नतु अलौकिककर्तृत्वे... प्रतीतञ्च निषेध्यं न अप्रतीतं न श्रुतिप्रतीतम्. सत्यत्वादयश्च लौकिकाः ततः सर्वनिषेधे तदज्ञानमेव भवेत्. नच सत्यत्वादिकं लोके नास्त्येव, व्यवहारमात्रत्वात् कारणगतमेव सत्यत्वं प्रपञ्चे भासते इति वाच्यं, तर्हि कर्तृत्वं तथा कुतो न अंगीक्रियते? स्मृतिश्च स्वीकृता भवति 'कर्ता कारयिता हरिः' इति. नच आरोपन्यायेन वक्तुं शक्यं तथा सति अन्यस्य स्यात्. तत्र न प्रकृतेः, अग्रे स्वयमेव निषिध्यमानत्वात्. न जीवानाम्, अस्वातन्त्र्यात्. नच अन्येषाम्, उभयनिषेधादेव. तस्माद् ब्रह्मगतमेव कर्तृत्वम् एवं भोक्तृत्वमपि''(ब्र.सू.भा.१।१।२).
>
> (ख)''कर्तृत्वं ब्रह्मगतमेव तत्सम्बन्धादेव जीवे कर्तृत्वं तदंशत्वाद् ऐश्वर्यादिवत् नतु जडगतम् इति''(ब्र.सू.भा.२।३।-४१).

अतः भगवत्पाद श्रीशंकराचार्यद्वारा प्रतिपादित आध्यासिकी प्रक्रिया प्रत्यक्षानुभूतिके बारेमें सर्वांशमें वाल्लभ वेदान्तमें अभिमत हो नहीं पाती है.

६. इसके बाद आते षष्ठ कल्पके मूलमें भी किसी तरहकी द्वैतवादी पूर्वधारणा ही सुस्पष्ट झलकती है. अतः लीलार्थ प्रकट विषय-विषयीके द्वैतवश प्रत्यक्षानुभूति इन दोनोंके बीच एक क्रिया-प्रतिक्रियारूप प्रकट

हुयी वास्तविक घटना है, इस अंशमें तो वाल्लभ वेदान्तको भी कोई आपत्ति न होनेपर भी, विषय-विषयीके बीच रहे मौलिक अद्वैतको भुलाया न जाये, तभी यह कल्प वाल्लभ वेदान्तमें मान्य हो पायेगा. अतएव श्रीमद्भागवतके द्वादशस्कन्धमें ‘‘**आसीद् ज्ञानम् अथोहि अर्थो एकमेव अविकल्पितं... तन्मायाफलरूपेण केवलं निर्विकल्पितं वाङ्मनोऽगोचरं सत्यं द्विधा समभवद् बृहद्. तयोः एकतरोहि अर्थो प्रकृतिः सा उभयात्मिका. ज्ञानन्तु अन्यतमो भावः पुरुषः सो अभिधीयते. तमो रजः सत्त्वम् इति प्रकृतेः अभवन् गुणाः. मया प्रक्षोभ्यमाणायाः पुरुषानुमतेन च... सञ्चोदिता भावाः सर्वे संहत्यकारिणो अण्डम् उत्पादयामासुः मम आयतनम् उत्तमं, तस्मिन् अहं समभवम् अण्डे सलिलसंस्थितौ**’’ (भाग.पुरा.११।२४।२-१०) कहा गया है. अतः यहां निरूपित एकका अनेकवद्भाव और उन अनेकवद्भावापन्नोंमें पुनः परस्पर संहत्य अर्थक्रियाकारिताके सिद्धान्तको न भुलाया जाय तो विषय-विषयीके बीच क्रिया-प्रतिक्रियारूपेण प्रत्यक्षानुभूतिको एक वास्तविक घटनाके रूपमें स्वीकार करनेमें वाल्लभ वेदान्तको कोई संकोच नहीं होगा. अन्यथा यह भी कल्प पूर्वपक्षकुक्षिमें निविष्ट ही स्वीकारना पड़ता है.

(उत्तरपक्ष / सिद्धान्तपक्ष)

अतः अवशिष्ट अन्तिम सातवां ‘‘*यह प्रत्यक्षानुभूति दोनोंमें निगूढ़ सम्भावनाके तोरपर रहे हुवे अनभिव्यक्त गुणधर्मोकी अन्योन्यसहयोगवश उभरनेवाली कोई वास्तविकता या अभिव्यक्ति है*’’ ऐसा कल्प ही हमारे सामने वाल्लभ सिद्धान्तके रूपमें प्रस्तुत होता है.

एतदर्थ कुछ मौलिक प्राग्धारणाओंको बुद्धिगत रखना जिज्ञास्यविषयके भलीभांति समाकलनके हेतु उपकारक हो सकता है.

प्रथम प्राग्धारणा :

उनमें सर्वप्रथम तो यह कि यहुदी-ईसाई-इस्लामी धर्मग्रन्थोंमें सृष्टिका

प्रादुर्भाव जैसे एक सीधी रेखाके रूपमें स्वीकारा गया है, वैसे वेदादि शास्त्र या वाल्लभ वेदान्तमें वह नहीं स्वीकारा गया है. यहां वह चक्रकाकार रेखामें स्वीकारा गया है. क्योंकि ब्रह्मकी परिभाषा "**यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत् प्रयन्ति अभिसंविशन्ति, तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म**" (तैत्ति.उप.३।१) में ही "**जायन्ते-जीवन्ति-प्रयन्ति-अभिसंविशन्ति**" यों चारों ही क्रियापदोंमें वर्तमानकालका प्रयोग इसकी गवाही देता है. अतः एकमेवाद्वितीय तत्त्वका अनेकवद्भावापन्न होना, उस सजातीय-विजातीय-स्वगत-भेदवर्जित तत्त्वका सजातीय-विजातीय-स्वगत-भेदवत्तया प्रकट होना, देश-काल-स्वरूपतो अपरिच्छिन्नका अपने-आपको देश-काल-स्वरूपके परिच्छेदोंमें प्रकट करना, उस विशुद्ध विज्ञानात्मक तत्त्वका अपनेसे पृथक् ज्ञेयार्थतया भी प्रकट होना, उस कृत्स्नप्रज्ञानघन एकरस तत्त्वका अज्ञान संशय भ्रम स्मृति स्वप्न निद्रा आदि अनेकरसभावोंमें प्रकट होना, यह सभी कुछ सकृद्घटित होनेवाली आकस्मिक घटना न हो कर कोई सनातन असकृदावर्तनोंके चक्रोंमें चलती रहनेवाली एक लीलाके रूपमें स्वीकारा गया है. अतएव उस आत्मरमणशील[६] चेतनामें अनात्मवत् जड़-जीवात्मिका सृष्टिका प्रादुर्भाव लीलारूप माना गया है. अतएव बृहदारण्यकोपनिषद्में इसे यों कहा गया है :

> **"सवै नैव रेमे तस्माद्-एकाकी न रमते. स द्वितीयम् ऐच्छत्- स ह एतावान् आस. यथा स्त्रीपुमांसौ सम्परिष्वक्तौ-स इममेव आत्मानं द्वेधा आपातयत्... स ह इयम् ईक्षाञ्चक्रे 'कथन्तु मा आत्मनएव जनयित्वा सम्भवति, हन्तः तिरोसानि' इति सा गौः अभवत्- ऋषभःइतरः तां समेव अभवत्...यदिदं किञ्चन मिथुनं...तत् सर्वम् असृजत. सो अवेद् 'अहं वाव सृष्टिः अस्मि'-'अहं हि सर्वम् असृक्षि' इति. ततः सृष्टिः अभवत्. सृष्ट्यां ह एतस्यां भवति य एवं वेद."**
>
> (बृह.उप.१।४।३-५).

एतावता सिद्ध होता है कि उस अखण्डबोधरूप परमतत्त्वका निजात्मद्वैधापादन, अर्थात् विषय और विषयी बनना, आंख-मिचौनीके जैसी कोई क्रीड़ा है. अर्थात् छिपे हुवे विषयको विषयी खोज रहा है और विषयीके छिप जानेपर उसे विषय खोजने लग जाता है! यह निरन्तर चक्रवत् चलती लीलामें उस एकमेवाद्वितीय तत्त्वका अनेकवद्भावापन्न होना और अनेकवद्भावापन्न हो जानेपर पुनः अपनी एकमेवाद्वितीयताको खोजने लग जाना ही सृष्टि-प्रलयके चक्रतया उपनिषदोंमें प्रतिपादित हुवा है.

हमारा जिज्ञास्यविषय प्रत्यक्षप्रमाण भी इस प्रक्रियामें अपवाद हो नहीं सकता. अतः विषयी चेतनामें प्रकट हुवा लीलात्मक अज्ञान विषयके बारेमें इच्छा-यत्न-उपलब्धिके अनुरोधवश परोक्षापरोक्ष अवभासोंसे निराकृत होनेकी एक क्रीड़ा है. उसी तरह विषयके इर्दगिर्द रहे आवरणोंमेंसे विषयकी भी झलक प्रकट करनेको कुछ न कुछ काल-कर्म-स्वभावके अनुरोधवश क्रीड़ा चलती रहती है. अन्यथा सर्वथा अनवगत अनाकांक्षित अद्भुत या अनिष्ट विषयोंके आकस्मिक परोक्षापरोक्ष विज्ञानकी सम्भावना ही प्रकट हो नहीं पाती! एतावता सिद्ध होता है कि प्रत्येक वस्तु ज्ञानविषय बन कर विषयी ज्ञानके साथ जुड़ना चाहती है और प्रत्येक चेतना आत्मरत रहनेके बजाय ज्ञेयार्थविषयिणी बनना चाहती है. यदि यह क्रीड़ा चक्रवत् नैरन्तर्य लिये हुवे न होती, तो सभीके लिये सीधी ऋजुरेखाके रूपमें निर्विकल्प समाधिकी अवस्थाको पा लेना एक सुलभ सिद्धि ही हो जाती! निष्कर्षतया *“प्रत्यक्षानुभूति विषय और विषयी दोनोंमें निगूढ़ सम्भावनाके तोरपर रह हुवे अनभिव्यक्त गुणधर्मोंकी अन्योन्यसहयोगवश उभरनेवाली कोई वास्तविकता या अभिव्यक्ति है”* यह सिद्ध हो जाता है.

द्वितीय प्राग्धारणा :

दूसरा महत्त्वपूर्ण पक्ष यह भी है कि ज्ञानके परोक्षावभासके

अन्यान्य सभी उदाहरणोंमें रूपसृष्टि (percept) और नामसृष्टि (concept) के बीच प्रकट ऐच्छिक द्वैतकी ही प्रधानता रहती है. प्रत्यक्षावभासमें, जबकि, इन दोनोंके बीच पुनः एक निगूढ़ तादात्म्यका अनुसन्धान सुलभ बन जाता है, क्योंकि प्रत्यक्षानुभूति अपनी आद्यावस्था निर्विकल्पानुभूति (sense datum) के स्तरपर विषयीकी इच्छा आकांक्षा या प्रयत्न से नियततया जन्य नहीं होती. अतः विषयीसे बाह्यार्थ न केवल अपरोक्षावभासेंगित दिशाके अनुरोधवश अपितु वैसे अवभासप्रयुक्त प्रवृत्तिहेतुक अन्यथानुपपत्तिके बलपर भी बाह्यार्थ और निर्विकल्पानुभूति के बीच जन्यजनकभाव सिद्ध होता है. यद्यपि बृहदारण्यकोपनिषद्में इन नाम-रूप-कर्मोंके तादात्म्यका निरूपण यों उपलब्ध होता है कि—

> **''त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म. तेषां नाम्नां वाग्...अतोहि सर्वाणि नामानि उत्तिष्ठन्ति... बह्म एतद्धि सर्वाणि नामानि बिभर्ति. अथ रूपाणां चक्षुः... अतोहि सर्वाणि रूपाणि उत्तिष्ठन्ति... बह्म एतद्धि सर्वाणि रूपाणि बिभर्ति. अथ कर्मणाम् आत्मा... अतोहि सर्वाणि कर्माणि उत्तिष्ठन्ति... ब्रह्म एतद्धि सर्वाणि कर्माणि बिभर्ति. तदेतत् त्रयं सद् एकम् अयम् आत्मा आत्मा उ एकःसन् एतत् त्रयम्.''**
>
> (बृह.उप.१।६।१-३).

तथापि यहां नाम-रूप-कर्मोंके उत्थानहेतु 'उत्तिष्ठन्ति' और आधारहेतु 'बिभर्ति' के सूक्ष्म प्रभेद ऐच्छिक द्वैत और स्वाभाविक अद्वैत के ही लिंग हैं. अतः स्पष्टतया नाम-रूप-कर्मके बीच रहे इस निगूढ़ एवं घनिष्ठ ब्राह्मिक तादात्म्यका अनुसन्धान प्रत्यक्षानुभूतिमें शक्य जो बन जाता है, वही इस प्रत्यक्षप्रमाणका असाधारण महत्त्व है. वाल्लभ वेदान्तमें नाम और रूप को, जर्मनीके सत्रहवीं सदीके चिन्तक लाइप्नीत्ज़के मोनाड्स्की तरह, आत्मपर्याप्त समानान्तर गवाक्षविहीन प्रकोष्ठोपम नहीं माना गया है. और न इन नाम-रूपोंको आविद्यक विकल्प ही अर्थात्

अविद्याकल्पित मिथ्याभास ही. क्योंकि इनकी त्रयीका आत्मतया एकत्व और एकात्माका नाम-रूप-कर्मतया त्रित्व कण्ठोक्त सिद्ध है. यह तादात्म्य, क्योंकि, विषयके परोक्षावभासमें यद्यपि सुबोध्य नहीं होता; फिरभी, प्रत्यक्षानुभूति एक ऐसा प्रयागराज है कि जहां नाम-रूप-कर्मकी त्रिवेणीका पवित्र संगम हो ही जाता है.

प्रस्तुत विमर्शके यहां इस मुकामपर पहुंचनेपर ही तैत्तिरीयोपनिषद्में निरूपित **“सो अकामयत ‘बहु स्यां प्रजायेय’ इति... स... इदं सर्वम् असृजत. यदिदं किञ्च... सच्च त्यच्च अभवत्, निरुक्तञ्च अनिरुक्तञ्च, निलयनञ्च अनिलयनञ्च, सत्यञ्च अनृतञ्च सत्यम् अभवत्. यदिदं किञ्च तत् ‘सत्यम्’ इति आचक्षते”** (तैत्ति.उप.२।६) उस परम तत्त्वकी विरुद्धधर्माश्रयताका सत्यापन शक्य बन जाता है.

तृतीय प्राग्धारणा :

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यके आत्मज श्रीविट्ठलनाथ प्रभुचरणद्वारा वाल्लभ वेदान्तके नामाभिधानार्थ प्रयुक्त ‘साकारब्रह्मवाद’ पदके अभिप्रायका विमर्श करनेपर ‘ब्रह्म’पद त्रिविध अपरिच्छिन्नताका भाव द्योतित करता है परन्तु ‘साकार’ पदसे विरुद्धधर्मका भाव द्योतित होता है. जैसा कि महाप्रभु स्वयं भी कहते हैं **“ब्रह्मणि विरुद्धधर्माः सन्तीति ज्ञापनार्थम् आह ‘अनन्तमूर्ति तद् ब्रह्म कूटस्थं चलमेव च विरुद्धसर्वधर्माणाम् आश्रयो युक्त्यगोचरम्’ अनन्ताः मूर्तयो यस्य (तद) ब्रह्म एकं व्यापकं च. तेन अनेकत्वम् एकत्वं च निरूपितम्”** (त.दी.नि.प्र.१।७१) अतः आधुनिक सूक्ष्मजैविकविज्ञानके (Microbiology) के एककोशीय जीवाणु (protoplasmic cell) मॉडलपर कुछ कहना हो तो यह कहा जा सकता है कि ‘साकार’ पदबोधित परब्रह्म भगवान् पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण Nucleus के जैसे होते हैं. इसी तरह ‘ब्रह्म’पदबोधित त्रिविध अपरिच्छिन्नता / व्यापकताको ‘अक्षरब्रह्म’ कहा गया है. यह एककोशीय जीवाणुमें Cytoplasm की तरह होता है. यहीं नाभीकीय सत्यसंकल्प

तथा सर्वभवनसामर्थ्य द्वारा आत्मद्वेधापादन (splitting of cell) की प्रक्रिया सम्पन्न होती है.[७] सच्चिदानन्दरूप अक्षरब्रह्मकी पञ्चविधता काल-कर्म-स्वभाव-प्रकृति-पुरुषतया निरूपित हुयी है. इनमें प्रकृति सत्त्वरजस्तमोगुणोंकी साम्यावस्थारूपा सदंश होती है. महद् (व्यष्टिचित्तोंकी समष्टि), अहंकार (व्यष्टिक्रियाशक्तिओंकी समष्टि). इस तरह ये हमारे भीतर प्रत्यक्षोपकरण मन बुद्धि इन्द्रिय तन्मात्रा पञ्चमहाभूतोंके अवान्तरोपादानकारणरूप बनते हैं. आनन्दांशके तिरोभावपूर्वक जीवचेतनाकी समष्टिको पुरुष माना गया है. यह साराका साराका आत्मविभाजन cytoplasm के जैसे अक्षरब्रह्मात्मक प्रकोष्ठमें सम्पन्न होता माना गया है. इनमें Nucleus स्थानीय पुरुषोत्तमको सर्वस्तुविषयक स्वाभाविक= अनौपाधिक ज्ञानसे सर्वदा युक्त माना गया है. यह स्वभावसिद्ध सर्वज्ञता, किन्तु, जीवचेतनामें आनन्दांशके तिरोधानवश तिरोहित हो जाती मानी गयी है. अतः ब्रह्मके चिदंशोंमें चेतनाका स्वरूप निर्विषयक चैतन्यवत् हो जाता है. बादमें ब्रह्मके ही सदंशभूत प्राकृत चित्त अहंकार मन इन्द्रिय तन्मात्रा बुद्धि आदि उपाधियों या उपकरणों के सहयोगवश ही वह जीवचेतना पुनः सविषयक ज्ञानवान् ज्ञाता बन पाती है. अतः जिसे हम 'विषयी' कहते-समझते हैं वह चेतनैकरस या बोधैकरस (homogeneously cognisant spitit) न हो कर चेतनाचेतन तत्त्वोंका संघात होता है. निष्कर्षतया जिसे हम प्रत्यक्षोपलब्धि समझते हैं, उसे भी चेतनाचेतनसंघातमें घटित होनेवाली एक विलक्षण घटनाके रूपमें निहारना आवश्यक होता है. अतः हमारी प्रत्यक्षोपलब्धि भी हमारा सहज सामर्थ्य न हो कर विषयीके घटक चेतनाचेतन उपादानोंका संघातोपाधिक सामर्थ्य ही होता है. अतः संघातोपादानभूत तत्त्वोंकी परिच्छिन्न सामर्थ्यके अनुरूप परिच्छिन्न सामर्थ्य भी वहां अनुक्तसिद्ध ही हो जाता है.

ये तो प्रत्यक्षानुभूतिके सिद्धान्ताभिमत स्वरूपके बारेमें तत्त्वमीमांसकीय या पराभौतिकी (metaphysical) प्राग्धारणाएं हैं. ज्ञानमीमांसकीय (episemological) प्राग्धारणोंपर भी थोड़ा सा दृष्टिपात अपेक्षित है.

चतुर्थ प्राग्धारणा :

यह समूचा निरूपण श्रीमद्भागवततृतीयस्कन्धके छब्बीसवें अध्यायके आधारपर ही प्रस्थानरत्नाकरकारने भी किया है. अतः विस्तारपूर्वक तो वहीं देख लेना उपकारक होगा. फिरभी थोड़ी सी रूपरेखा यहां भी दी जा सकती है.

हम देख चुके हैं कि जीवचेतनाका साक्षात् सम्पर्क जिस प्राकृतिक तत्त्वके साथ जुड़ता है, उसे 'महत्' या 'चित्त' कहा गया है. इसके बारेमें भागवतकारिकाकी सुबोधिनीमें महाप्रभु कहते हैं कि चित्त वह पदार्थ है जो सदंशमें प्रकटी प्रकाशोपम चिदंशके प्रति प्राथमिकी, दर्पण (या केमेरामें भरी जानेवाली (photosenstivie reel) के जैसी, चैतन्यका ग्रहण और उसे प्रकट करनेकी सामर्थ्य है. इसे ब्रह्माण्डकी अंकुरावस्थाके रूपमें निरूपित किया गया है. इस चित्तमें से जो द्वितीय तत्त्व प्रकट होता है वह क्रियाशक्तिमान् अहंकार है. इसमें निजोपादानके गुणके अलावा क्रियाशक्तिका भी वैशिष्ट्य उल्लेखनीय है. अर्थात् अब चित्त न केवल चैतन्यको अपने भीतर प्रतिफलित कर पाता है अपितु अहंकारात्मना परिणत चित्त प्रतिक्रिया भी प्रकट करने लग जाता है. हम देख चुके हैं कि चित्तको अंकुरोपम माना गया सो अहंकारात्मना सक्रिय हो पानेके कारण अब उसमें न केवल चैतन्य अपितु विश्वके मूलांकुरमें रही सूक्ष्मावस्थागत विविध नाम-रूप-कर्मोवाले मन इन्द्रिय और तन्मात्राओं के प्रति समानता तथा सचेष्टता भी प्रकट हो पाती है. और इस तरह वे स्थूलभावापन्न हो जाते हैं. शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध तन्मात्राएं ही घनीभूत हो कर आकाश वायु तेज जल और पृथिवी के रूपोंमें परिणत हो जाते हैं८. इसका सुविशद निरूपण तो आकर ग्रन्थमें ही अवलोकनीय है. फिरभी यहां उसके स्थालीपुलाकन्यायेन निरूपणका मुख्य प्रयोजन यह दिखलाना है कि कैसे एकमेवाद्वितीय सच्चिदानन्दके सदंश और चिदंश अपने मौलिक रूपमें एकरस (homogeneous) होनेपर भी

आत्मविभाजन (self-splitting) द्वारा भिन्नरस (heterogeneous) बन जाते हैं. इन भिन्नरसभावापन्न सदंश और चिदंश के परस्पर संहत हो कर एक-दूसरेके प्रति क्रिया-प्रतिक्रियाशील होनेपर जीवशास्त्रीय mitotic और meiotic आत्मविभाजनपूर्वक उत्तरोत्तर विकास भी शक्य बन जाता है.

एतावता सिद्ध होता है कि नामकी बोधात्मकता और रूपकी जड़ात्मकता आत्मविभाजनकी जीवशास्त्रीयक प्रक्रिया सदृश एक प्रक्रिया है. अतः इन दोनोंके बीच रहे वैरूप्यके तिलका ताड़ बना कर निर्विकल्पक प्रत्यक्ष और सविकल्पक प्रत्यक्ष में अन्यतरके पक्षपाती बन कर किसी एकतरके प्रत्याख्यानको वाल्लभ वेदान्ताभिमत प्राग्धारणाओंके विमर्श करनेपर अनावश्यक सिद्ध किया जा सकता है. अतएव विषयमें विषयी और विषयीमें विषय ओतप्रोत माने गये हैं. निष्कर्षतया बाह्य रूप आन्तर नामका उद्बोधक होता है और आन्तर नाम बाह्य रूपोंके विकल्पोंका अवगाहन कराता है. इस प्रक्रियाका सर्वाधिक प्रस्फुटन प्रत्यक्षानुभूतिमें ही सम्भव होनेसे ज्ञानमीमांसकीय प्राग्धारणाओंके आधारपर भी सदंश-चिदेशका, नाम-रूपका; एवं, अनुभूति तथा संस्कार का पवित्र संगमस्थल होनेके कारण ही प्रत्यक्ष प्रमाणतया भी आदरणीय होता ही है. अतः विशुद्धचैतन्य और नामरूपकर्म; अथवा तो, नाम या रूपके बीच भी किसी एकको अनावश्यक ही अविश्वसनीय, मिथ्या या असत् मानना वाल्लभ वेदान्तको श्रुत्यादि शास्त्रोंके अभिप्रेतार्थतया आवश्यक नहीं लगता.

पञ्चम प्राग्धारणा :

हम देख आये कि प्रथम ब्राह्मिक सदंश प्रकृति गुणत्रयीकी साम्यावस्था है. उन्हीं तीनों गुणोंकी साम्यावस्थामें कालकृत गुणक्षोभवशात् प्रकट हुवा वैषम्य यह समूचा महदादि पञ्चभूतान्त प्राकृत विकार है. अतएव प्रपञ्चकी छोटी हो या बड़ी प्रत्येक घटनाओंमें गुणत्रयीका

वैषम्य अनुस्यूत रहता है. परिणामतः निर्विकल्पकानुभूतिके बाद बुद्धिमें सात्त्विकावस्थाके प्रबल होनेपर अध्यवसायाकारक परोक्षापरोक्ष भान होता है. राजसावस्थाके प्रबल होनेपर संशयाकारक ज्ञान प्रकट होता है. और तामसावस्थाके प्रबल होनेपर अज्ञान निद्रा भ्रमाकारक ज्ञान प्रकट होता है[९]. इसका भी सुविशद विवेचन 'प्रमेयरत्नार्णव' नामक ग्रन्थके 'प्रपञ्चविवेक' और 'ख्यातिविवेक' नामक प्रकरणोंमें तथा प्रस्थानरत्नाकर के भी प्रमास्वरूपबोधौपयिक-ज्ञानभेदोपभेदनिरूपक कल्लोलके द्वितीय तृतीय तथा चतुर्थ तरंगोमें हुवा ही है. यहां इसके उल्लेखका प्रयोजन तो केवल इतना ही है कि प्रत्यक्षानुभूति स्वयं अनुभूतिके स्तरपर प्रमाकारिका संशयाकारिका या भ्रमाकारिका कुछ भी हो सकती है. क्योंकि बुद्धिका कार्य, श्रीमद्भागवततृतीयस्कन्धके पूर्वोक्त अध्यायमें, बुद्धिको परिभाषित करते हुवे यों कहा गया है कि *"समनस्केन्द्रियोंमें द्रव्यके स्फुरित होनेपर, अर्थात् सामान्यज्ञानके सम्पन्न होनेपर, उसे विशेषज्ञानमें पर्यवसित करनेवाली बुद्धि होती है."*[१०] अतः प्रत्यक्षप्रमा न केवल बुद्ध्याश्रिता घटना होती है और न केवल इन्द्रियाश्रिता ही; प्रत्युत, इन्द्रिय और बुद्धि उभयाश्रिता घटना है. अतएव जैसे सर्वथा इन्द्रियोंसे अगोचर वस्तुके बारेमें बुद्धि प्रत्यक्षप्रमा प्रकट नहीं कर पाती, वैसे ही बुद्धिसे सर्वथा अगृहीत अथवा सर्वथा अग्राह्य या असम्भाव्य वस्तुओंके बारेमें इन्द्रियां भी सहसा प्रत्यक्षप्रमा प्रकट करनेमें सक्षम नहीं हो पाती हैं. इसे आधुनिक मनोविज्ञानने भी अनेक प्रयोगोंद्वारा सिद्ध किया है. निष्कर्षतया पुनः दोहराना चाहेंगे कि *"प्रत्यक्षानुभूति दोनोंमें निगूढ़ सम्भावनाके तोरपर रहे हुवे अनभिव्यक्त गुणधर्मोंकी अन्योन्यसहयोगवश उभरनेवाली कोई वास्तविकता या अभिव्यक्ति है"* अस्तु.

[संगति]

प्रत्यक्षप्रमाके बारेमें इन सैद्धान्तिक प्राग्धारणाओंका विहंगावलोकन कर लेनेपर कुछ महत्त्वपूर्ण संगतिओंका विचार कर लेना इस विषयमें प्रसंगोपात्त होगा.

(१) श्रीमद्भागवतके पूर्वनिर्दिष्ट **"महत्-तत्त्वाद् विकुर्वाणाद् भगवद्वीर्यसम्भवात् क्रियाशक्तिः अहंकारः त्रिविधः समपद्यत, वैकारिकः तैजसश्च तामसश्च यतो भवो मनसश्च इन्द्रियाणाञ्च भूतानां महतामपि"** (भाग.पुरा.३।२६।२३-२४) इस वचनमें अहंकारको क्रियाशक्तिमान् माना गया है. तथा इसीमेंसे मन इन्द्रियों और तन्मात्राओं की उत्पत्ति स्वीकारी गयी है. वैसे तो सर्वत्र उपादानकारणके गुण उपादेय कार्यमें अनुगत होते हैं. अतः चित्तोपादानकतावश इन्द्रियोंमें ज्ञानशक्ति और अहंकारोपादानकतावश क्रियाशक्ति यों साक्षात् / परम्परया द्विविध शक्तियोंका अनुगम मन तथा इन्द्रियोंमें माना गया है. साथ ही साथ इन्द्रियोंमें पांच ज्ञानेन्द्रिय और पांच कर्मेन्द्रिय यों विभज्यानुगति भी निरूपित हुयी है. अतएव **"एकादशाः आसन् मनसोहि वृत्तयः आकूतयः पञ्च धियो अभिमानः"** (भाग.पुरा.५।११।९) वचनमें " 'आकूति'[५] + 'धी'[५] + 'अभिमान'[१] = ११ मनोवृत्तियां" ऐसा समीकरण भी कण्ठोक्त है. साथ ही साथ *"वाचनिके शास्त्रे वाचनिक्येव व्यवस्था"* उचित होती है, फिरभी मनको, क्योंकि ग्यारहकी ग्यारह इन्द्रियोंका प्रेरक अधीश्वर माननेके साथ-साथ भगवद्गीतामें **"मनःषष्ठानि इन्द्रियाणि"** (भग.गीता.१५-।७) वचनमें इन्द्रियरूप भी माना गया है. अतः अपेक्षित बारह संख्याका अनुल्लेख इस तथ्यकी और इंगित करता है कि संख्या अनियततया यथासन्दर्भ सापेक्ष होती है ऐकान्तिक नहीं. एतावता संघातस्वभाव, ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न के आधीन सभी इन्द्रियोंकी चेष्टा अनुभवसिद्ध होनेसे कर्मेन्द्रियोंमें भी किसी प्रकारकी अनुभूति और ज्ञानेन्द्रियोंमें भी किसी प्रकारका कर्म भी क्यों स्वीकारा नहीं जा सकता ?

उदाहरणतया वागिन्द्रिय और रसनेन्द्रिय केलिये मुखमें एक ही जिह्वा उभयविध शक्तिओंसे सम्पन्न रहती है. पाणीन्द्रिय वैसे एक कर्मेन्द्रिय होती है परन्तु द्रव्यके गुरुत्वके ज्ञानार्थ वह ज्ञानेन्द्रियका कार्य भी करती ही है. पायूपस्थेन्द्रियां भी कर्मेन्द्रियां है फिरभी मलमूत्रादिकी वेगबाधा और वेगोपशम के अभिज्ञानार्थ ज्ञानेन्द्रियोंका काम भी करती

ही हैं. इसी तरह चरण कर्मेन्द्रियां होनेपर भी धावनश्रम और श्रमोपशम के विज्ञानार्थ ज्ञानेन्द्रियोंका कार्य भी निभाते ही हैं. इसी तरह ज्ञानेन्द्रियोंके अन्तर्गत चक्षु वैसे रूपादि प्रत्यक्षकी करण है परन्तु पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण-ऊर्ध्व-अधो दिशाओंके निरीक्षणार्थ वह कर्मेन्द्रियकी तरह भी बरतती हैं. प्रकाशबाहुल्य तथा प्रकाशमान्द्य के अनुरूप नेत्रगोलकके भीतर अन्तर्पटलको (iris) संकुचित/विकसित करनेकी क्रिया कर्मेन्द्रियवत् ही चक्षु सम्पन्न करती है. नासिका एकाकिनी ही गन्धग्रहण तथा श्वसनीय वायुके पूरण-रेचनकी क्रिया भी करती ही है. यों दोनों ही कार्य करती है. कर्णेन्द्रियके कर्णशूर्प यद्यपि मनुष्ययोनिमें बाह्य कर्म नहीं करते परन्तु पशुओंमें तो स्पष्टतया ध्वनिस्रोतकी दिशामें कर्णेन्द्रियचालनद्वारा श्रवणोपकरण बनते उन्हें देखा जा सकता है. रसनेन्द्रियके लिये भी कहा जाता है कि लालारस उत्पन्न करनेकी क्रिया न करे तो आस्वादनार्थ भी समर्थ वह नहीं हो पाती. इसी तरह त्वगिन्द्रिय भी कट-फट जानेपर पुनःसन्धानकी क्रिया करती ही है. इससे सिद्ध होता है कि इन इन्द्रियोंके ज्ञानोपकरण तथा कर्मोपकरण होनेके प्रभेद "*प्राधान्येन व्यपदेशाः भवन्ति*" न्यायका अनुसरण है नकि किसी एकतरमें अन्यतरके आत्यन्तिक अभावके वश. एतावता सिद्ध होता है कि केवल कर्म ही इच्छातन्त्र नहीं होता अपितु प्रत्यक्षानुभूति भी इच्छातन्त्र होती है. वैसे भगवत्पाद श्रीशंकराचार्य कहते हैं कि—

> "कर्तव्ये हि विषये न अनुभवापेक्षा अस्तीति श्रुत्यादीनामेव प्रामाण्यं स्यात्, पुरुषाधीनात्मलाभत्वात् च कर्तव्यस्य. कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथा वा कर्तुं शक्यं लौकिकं वैदिकं च कर्म. यथा अश्वेन गच्छति पद्भ्याम् अन्यथा वा नवा गच्छति इति. तथा 'अतिरात्रे षोडषिनं गृह्णाति नातिरात्रे षोडषिनं गृह्णाति', 'उदिते जुहोति अनुदिते जुहोति' इति. नतु वस्तु एवं/नैवम् अस्ति/नास्ति इति वा विकल्प्यते. विकल्पनास्तु पुरुषबुद्ध्यपेक्षाः. न वस्तुयाथात्म्यज्ञानं पुरुषबुद्ध-

> ध्यपेक्षम्. किन्तर्हि? वस्तुतन्त्रमेव तत्, नहि स्थाणौ एकस्मिन् स्थाणुः वा पुरुषो वा इति तत्त्वज्ञानं भवति. तत्र पुरुषो वा अन्यो वा इति मिथ्याज्ञानम्. स्थाणुरेव इति तत्त्वज्ञानं वस्तुतन्त्रत्वात्.''
>
> (ब्र.सू.भा.१।१।२).

श्रुत्यादि शास्त्रोंमें जहां ''त्वं स्त्री त्वं पुमान् असि त्वं कुमारः उत वा कुमारी... त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः'' (श्वेता.उप.४।३) ''एकएव अग्निः बहुधा समिद्धः, एकः सूर्यो विश्वम् अनुप्रभूतः, एकैव उषाः सर्वम् इदं विभाति, एकं वा इदं विबभूव सर्वम्'', ''पुरुषएव इदं यद् भूतं यच्च भव्यम्'' (ऋक्संहि.८।५८।२, १०।९०।२) जैसे वचन उपलब्ध होते हैं वहां एवंकी अनेवंताके अथवा एककी अनेकताके प्रतिपादनको संशय या भ्रान्ति का जनक माना नहीं जा सकता. स्वयं भगवत्पाद श्रीशंकराचार्यके भी—

> ''दृष्टश्च लोके विवक्षातः शब्दप्रयोगः 'ग्रामः आगतः', 'ग्रामः शून्यः' इति. कदाचिद् 'ग्राम' शब्देन निवासमात्रविवक्षायां 'ग्रामः शून्यः' इति शब्दप्रयोगो भवति. कदाचिद् निवासिजनविवक्षायां 'ग्रामः आगतः' इति. कदाचिद् उभयविवक्षायामपि 'ग्राम' शब्दप्रयोगो 'ग्रामं न प्रविशेद्' इति.''
>
> ''तस्मात् तार्किकचाटभटराजाऽप्रवेश्यम् अभयं दुर्गम् इदम् अल्पबुद्ध्यगम्यं शास्त्रगुरुप्रसादरहितैः च 'तद् एजति तद् न एजति तद्दूरे तदु अन्तिके इत्यादिविरुद्धधर्मसमवायित्वप्रकाशकमन्त्रवर्णेभ्यः च.''
>
> (बृह.उप.भा.१।४।७, २।१।२०).

ऐसे उद्गारोंका विमर्श करनेपर ऐसा प्रतीत नहीं होता कि प्रमात्मक

बोध ऐकान्तिकतया वस्तुतन्त्र ही होता है. अन्यथा जीवात्मा और ब्रह्म के आत्यन्तिक भेदवर्जित होनेपर भी ब्रह्मके प्रमात्मक साक्षात्कारके हेतु श्रवण मनन निदिध्यासन जैसी इच्छातन्त्र क्रियाओंको अनावश्यक होना अधिक उचित होता.

श्रीमद्भगवद्गीताके, परन्तु, ''अदृष्टपूर्वं हृषितो अस्मि दृष्ट्वा भयेन **च प्रव्यथितं मनो मे तदेव दर्शय, देव!, रूपं**'' (भग.गीता.११।४५) वचनमें भगवान्‌के मानुष रूप और विराट् रूप दोनोंके दर्शन अर्जुनको अपनी इच्छा या अभ्यर्थना के आधारपर इतरेतरविकल्पतया हुवे. एतावता प्रत्यक्षानुभूतिको भी ऐकान्तिकतया वस्तुतन्त्र नहीं माना जा सकता है. अन्यथा योगिप्रत्यक्षको अप्रत्यक्ष मानना पड़ेगा. अतएव उन्नीसवीं सदीके जर्मनीके लुड्विग् विट्गन्स्टीन् भी निर्विकल्पानुभूति और प्रत्यय के बीच तारतम्य दिखलाते हुवे कहते हैं ''Sensation gives knowledge about external world... Images tell us nothing, either right or wrong, about external world (Images are not hallucination, nor yet fancies). While I am looking at an object I Cannot imagine it... Images are subject to will''[12] इसे वे अधोनिर्दिष्ट आकृतिद्वारा समझाते हैं :—

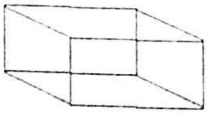

वाल्लभ वेदान्तकी दृष्टिके अनुसार परन्तु यह कहा जा सकता है कि अनिच्छातन्त्र कल्पनाके कारण उत्पन्न होती प्रतीति बहुधा मायिकी ही होती है. भावानुरूप प्रतीतिका, किन्तु, अवास्तविक होना आवश्यक नहीं, यदि वस्तुमें भावानुसरणसामर्थ्य हो तो. श्रीमद्भागवतमें, अतएव, आता है कि ''**त्वं भावयोगपरिभावितहृत्सरोज आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु, नाथ!, पुंसां यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति तत्तद्वपुः प्रणयसे**

सदनुग्रहाय'' (भाग.पुरा.३।९।११). संगीतशास्त्रके सप्तस्वरोंमें से किसी भी एक स्वरके बारेमें गायकके अपने कण्ठस्वभावके अनुरोधवश स्वेच्छया षड्जभाव स्थापित कर लेनेपर अवशिष्ट सभी ऋषभ गन्धार मध्यम पञ्चम धैवत निषाद स्वर श्रुतिगोचर होने लगते हैं, ''**षट्त्सु जायतइति षड्जः**'' व्युत्पत्तिके अनुरूप. इन्हें केवल इमेजके रूपमें अबाह्य मान कर खपाया नहीं जा सकता गायकेतर श्रोता इसे अपने कर्णोद्वारा साक्षात् सुन सकता है. अतएव कर्म और ज्ञान के बीच इच्छातन्त्र और वस्तुतन्त्र होनेका प्रभेद भी आत्यन्तिक नियति नहीं हैं. वाल्लभ वेदान्त कर्म और ज्ञान दोनोंको ब्रह्मात्मिका शक्तियोंका अनुभाव ही मानता है और परस्परोपकारक भी[१३] अस्तु.

(२) एक और विषय प्रत्यक्षानुभूतिकी चर्चाके अन्तर्गत यहां उल्लेखनीय लगता है कि श्रीमद्भागवतके उल्लिखित स्थलपर ही ''**द्रव्याकृतित्वं गुणता व्यक्तिसंस्थात्वमेव च तेजस्त्वं तेजसः... रूपमात्रस्य वृत्तयः**'' (भाग.पुरा. ३।२६।३९) कारिकाकी सुबोधिनीमें महाप्रभु कहते हैं :

> ''द्रव्यस्य घटादेः या आकृति सैव रूपस्य, पृथुबुध्नोदराकारं रूपमपि आतानवितानात्मकं च. 'द्रव्यस्येव आकृतिः' इति द्रव्यस्य न उपमेयत्वम् अतो रूपस्यैव लक्षणम्. 'गुणता' इति सर्वदा उपसर्जनतया प्रतीतिः. नैवं शब्दादिषु, स्वतन्त्रतयापि प्रतीयमानत्वात्. व्यक्तेः संस्थेव संस्था यस्य. यदि व्यक्तिः वक्रा भवति रूपमपि वक्रं भवेदिति. उपविष्टे रूपवति रूपमपि उपविष्टं भवति. आतानवितानात्मकसंकुचीकरणयोः भेदात्. तेजसश्च तेजस्त्वं रूपतन्मात्रत्वं सूक्ष्मावस्था... रूपतन्मात्रस्य सर्वगतरूपस्य वा चतस्रो वृत्तयः. तेजसो लक्षणानि आह 'द्योतनं पाचनं पानमदनं हिममर्दनं तेजसो वृत्तयस्तु एताः शोषणं क्षुत् तृडेव च' द्योतनं सूर्यादेरिव.''
>
> (सुबो.३।२६।३९-४०).

इस आचार्यवचनके विमर्श करनेपर ऐसा नहीं लगता कि रूपके चाक्षुष प्रत्यक्षार्थ नेत्रकिरणोंका नेत्रोंसे बहिर्निःसरण और विषयदेश पर्यन्त गमन कर प्राप्यकारी होना अनिवार्य हो. आधुनिक युगमें एकीकृत इलेक्ट्रोमेग्नेटिक तरंगविस्तारके सिद्धान्त (The unified theory of electromagnetic field) के अनुसार चक्षुर्ग्राह्य प्रकाश तो रूपद्योतनक्षम किरणोंके प्रभेदोमें एक अतीव क्षुद्रांश होता है. आधुनिक युगमें मानवचक्षुसे अग्राह्य एक्सरे इन्फ्रारेड् अल्ट्रावायोलेट् ध्वनितरंग के ग्राहक उपकरणों अलावा उष्णताग्राहक उपकरणोंसे भी रूपाकृतिका ग्रहण शक्य हो गया है. अतः न तो सूर्यके चक्षुर्ग्राह्य प्रकाशकिरणोंकी और न तथाकथित नेत्रकिरणोंकी ही कोई अनिवार्य आवश्यकता अब रूपग्रहणार्थ स्वीकारी जा सकती है.

असकृत् स्वीकृतिद्वारा हम यह तो स्पष्ट कर ही चुके हैं कि वाल्लभ वेदान्त शास्त्रव्याख्यारूप चिन्तन है नकि तार्किक उत्प्रेक्षारूप. और प्रस्थानरत्नाकरकारके शास्त्रावगाहनसे अधिक या तत्सम शास्त्रावगाहनकी कथा तो दूर, उनके शास्त्रावगाहनकी तुलनामें अपना एकचतुर्थांश भी शास्त्रावगाहन प्रस्तुत लेखकका हो तो अपने-आपको कृतकृत्य मान लेता! फिरभी ''नभःपतन्ति आत्मसमं पतत्त्रिणो'' न्यायेन ऐसा लगता है कि कदाचित् चाक्षुषकिरणोंके बहिर्निर्गमनका सिद्धान्त श्रुत्यादि शास्त्रसिद्ध न हो कर प्रस्थानरत्नाकरकारकी एक कामचलाउ उत्प्रेक्षा ही है. अतः प्रस्थानरत्नाकरकार भी न्याय आदि मतोंकी तरह उसीके सहारे चाक्षुष प्रत्यक्षकी व्याख्या करनेमें कल्पनालाघव मान कर अग्रसर हुवे हैं. अन्यथा दर्पणमें तो नयनकिरणोंका परावृत हो कर स्वमुखग्रहण करना शक्य भी हो, तावता केमेरामें बाह्य दृश्यका प्रतिफलित हो जाना सूर्यकिरणोंकी रूपवाहकताके बिना कथमपि उपपन्न हो नहीं सकता. ग्रन्थकारकी यह युक्ति कि सूर्यकिरणोंद्वारा रूपनयन स्वीकारनेपर द्रव्य रूपविहीन हो जायेगा[१४] महाप्रभुके इस विधान कि ''घट आदि द्रव्यकी जो आकृति होती है वैसी ही रूपकी भी. रूप भी घटकी तरह

पृथुबुध्नोदराकार होता है. रूप पट द्रव्यकी तरह आतानवितानात्मक होता है. ‘द्रव्यके जैसी आकृति’ ऐसे कहनेके कारण द्रव्यको उपमेय नहीं मान लेना चाहिये. इसे रूपका लक्षण जानना चाहिये. ‘गुणता’ कहनेके कारण रूपकी सर्वदा उपसर्जनतया प्रतीति होती है... तेजका लक्षणोंका निरूपण ‘द्योतन आदि तेजस्की वृत्तियां होती हैं.... सूर्य जैसे द्योतन करता है’’ इसके साथ मेल खाती हुयी नहीं गलती है.

अतएव चक्षुर्ग्राह्य रूपवद् वस्तुके प्रत्यक्षमें चक्षु और सूर्यकिरण का संयोग, तत्तादात्म्यापन्न रूप, तज्जनक सूर्यकिरणोंका रूपवद्द्रव्यके साथ संयोग; और, वहां उस रूपवद्द्रव्यमें रूपकी तादात्म्येन विद्यमानता यों परम्परया अनेकसम्बन्धोंका ऊह अकाम गले पतित होता है. अतएव ऐसे सम्बन्धोंकी भी अपरिगणना प्रस्थानरत्नाकरमें यत्किञ्चित् संशोधनकी अपेक्षा रखती है, यदि ये परिगणित सम्बन्ध स्वयं श्रुत्यादिशास्त्रसिद्ध या आचार्यवचनसिद्ध न हों तो. अन्यथा ‘‘वाचनिके शास्त्रे वाचनिक्येव व्यवस्था’’ भी हमें सर्वदा स्वीकार्य होनी ही चाहिये. प्रत्यक्षतः उपपन्न न होनेपर प्रत्यक्षतोग्राह्य लौकिक वस्तुओंके किसी अलौकिक आध्यात्मिक या आधिदैविक स्वरूपविषयक ऐसी प्रक्रिया भी स्वीकारी जा सकती है. उदाहरणतया शिवपुराणमें यह उल्लेख मिलता है कि ‘‘**ततः सम्प्रेक्ष्य मदनं हसन् देवः त्रियम्बकः नयनेन तृतीयेन सावज्ञं तम् अवैक्षत. ततो अस्य नेत्रजो वह्निः मदनं पार्श्वतः स्थितं अदहत् तत्क्षणादेव**’’ (शिवपुरा.१।१०१।४०-४१). अतः कोई मापक यन्त्र हो तो प्राणीके नयनोंमेंसे भी निःसृत होती उष्णताका मापन सर्वथा अशक्य कथा नहीं. फिरभी सुदूर दृश्यवस्तुदेश पर्यन्त उनका गमन कुछ क्लिष्टकल्पना लगती है. ऐसे ही किसी असामान्य या अलौकिक सन्दर्भमें नेत्रोंसे भी किरणोंकी उपपत्ति सोची जा सकती है.

[उपसंहार]

अन्तमें आधुनिक विज्ञानने भी प्रकाशकी तरंगरूपता और कणगुच्छरूपता

यों विरुद्धधर्माश्रयता मान्य की ही है तावता हमारी चेतनामें प्रत्यक्षानुभूतिका उद्‌भव भी ब्रह्मांशभूत चेतनामें अनुस्यूत ब्राह्मिकी विरुद्धधर्माश्रयताका ही आंशिक अनुभाव है. अतएव महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणके एक उद्‌गार —

अचिन्त्यानन्तशक्तेः तद् यद् एतद् उपपद्यतेः।
अतएव श्रुतौ भेदाः सृष्टेः उक्ताः हि अनेकधा॥
(त.दी.नि.१।४०)

अपने इस आलेखनका उपसंहार करना चाहेंगे कि प्रत्यक्षानुभूति भी उस सच्चिदानन्द परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णके मूलस्वरूपकी अनुभूति न भी हो तो क्या हुवा? है वह उसके लीलाविहारकी अनुभूति ही! इति शम्.

……+……

सन्दर्भ

[१](क)“रूपप्रपञ्चकरणाद् आसक्तस्वांशवारणे श्रुतिम् आत्मप्रसादाय चकार आत्मानमेव सः. विचित्रो रूपप्रपञ्चो, जीवाः च अंशाः, अल्पानां विचित्रे भ्रमो भवत्येव. अतः निवारणार्थं श्रुतिं चकार. तस्याः स्वरूपम् आह ‘आत्मानम्’ इति. ननु अन्तर्यामिणैव कथं न निवार्यते तत्र आह ‘आत्मप्रसादाय’ इति, अन्तःकरणप्रसादाय. जीवान्तर्यामिणौ पूर्वमेव हृदये प्रविष्टौ, भोगभोजनार्थं, तदनुभोगेन मालीन्यं चित्ते जातं न अन्तःस्थितेन दूरीकर्तुं शक्यम्. अतो बहिःस्थितेन प्रवेशसमर्थेन तद् दूरीकर्तव्यमिति श्रुतिनिर्माणम् इति अर्थः”(त.दी.नि.प्र.२।१८-१९).

(ख)“शब्दएव प्रमाणं तत्रापि अलौकिकज्ञापकमेव. तत् स्वतःसिद्धप्रमाणभावं प्रमाणं वेदाः सर्वएव त.दी.नि.प्र. … तथाच प्रत्यक्षादिषु भ्रान्तत्वस्यापि दर्शनात् तेषु नैकान्तिकं प्रामाण्यम्. अतः तानि विहाय आप्तवाक्यत्वाद् वेदादयएव आद्रियन्ते इति अर्थः. ननु वेदादीनां चेत् शब्दत्वेन प्रामाण्यं तर्हि लौकिकेऽपि तुल्यं

प्रत्यक्षोपजीवकत्वात् प्रमाणान्तरतौल्यं च इत्यतः आहुः 'तत्रापि' इत्यादि. नहि अस्माभिः शब्दत्वेन वेदानां प्रामाण्यम् उच्यते अपितु अलौकिकज्ञापकशब्दत्वेन, औत्पत्तिकसूत्रानुरोधात्. तथा सति यथा धर्मे सपरिकरे चोदनैव प्रमाणम् अत्र (सपरिकरे ब्रह्मणि) वेदादिरेव मानम् इत्यतो न तौल्यं नवा प्रत्यक्षोपजीवकत्वं, नहि वेदोदितो धर्मो वा ब्रह्म वा अन्येन प्रमातुं शक्यते, तयोः तदेकवेद्यत्वस्यैव तन्मीमांसासिद्धत्वाद् (त.दी.नि.प्र.आ.भ.१।७).

[२] ''रूपसृष्ट्यपेक्षया नामसृष्टिः विलक्षणा. अन्तवती रूपसृष्टिः अनन्ता नामसृष्टिः. स्थूला रूपसृष्टिः सूक्ष्मा नामसृष्टिः. विकृता रूपसृष्टिः अविकृता नामसृष्टिः. जडरूपा रूपसृष्टिः बोधरूपा नामसृष्टिः. एवं चतुर्धा वैलक्षण्यम् उक्तम्'' (सुबो.१०।१३।४३).

[३] (क)''सर्वयोनिषु, कौन्तेय!, मूर्तयः सम्भवन्ति या तासां ब्रह्म महद् योनिः अहं बीजप्रदः पिता, सत्त्वं रजः तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः निबध्नन्ति, महाबाहो!, देहे देहिनम् अव्ययम्. तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकम् अनामयं, सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन च, अनघ!, रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासंगसमुद्भवं तद् निबध्नाति, कौन्तेय!, कर्मसंगेन देहिनं, तमस्तु अज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनां प्रमादालस्यनिद्राभिः तद् निबध्नाति भारत!'' (भग.गीता.१४।४-८).

(ख)''सर्वभूतेषु येन एकं भावम् अव्ययम् ईक्षते अविभक्तं विभक्तेषु तद् ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्. पृथक्त्वेनतु यद् ज्ञानं नानाभावान् पृथग्विधान् वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तद् ज्ञानं विद्धि राजसम्. यत्तु कृत्स्नवद् एकस्मिन् कार्ये सक्तम् अहेतुकम् अतत्त्वार्थवद् अल्पं च तत् तामसम् उदाहृतम्.'' (भग.गीता.१८।२०-२२).

[४] ''१.सर्वात्मभूतम् अविकृतं स्वस्वरूपात्मकं नित्यं २.धर्मरूपं नित्यं ३.वेदात्मकं नित्यं ४.सृष्टिबीजताभावापन्नानेकशब्दरूपं नित्यं ५.ततः तादृशद्विविधशब्दात्मकशरीरविशिष्टमेव लोके प्रकटीभवितुं लौकिकं प्रमातारं प्रमेयं च आश्रयते. तत्र शब्दशरीरविशिष्टस्य प्रमात्राश्रयणं 'पश्यन्त्या'ख्यया शब्दावस्थया तद्बोधकश्रुत्या च अवसीयते. तथाच आनुभविकोक्तिः 'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमाद् ऋते अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्दने भासते'. तत्र प्रमेयाश्रयं प्रमेयानन्त्याद् अनन्तमेव... प्रमातरितु अन्तःकरणेन्द्रियाश्रयणात् पञ्चधा. तत्र इन्द्रियेषु (निर्विकल्पकत्वेन) एकधा. अन्तःकरणेतु चतुर्धा...''(प्रस्थानरत्नाकर पृ.२-७).

[५] “‘युष्मद्’ - ‘अस्मत्’ प्रत्ययगोचरयोः विषयविषयिणोः तमःप्रकाशवद् विरुद्धस्वभावयोः इतरेतरभावानुपपत्तौ सिद्धायां तद्धर्माणामपि सुतराम् इतरेतरभावानुपपत्तिः. इत्यतो ‘अस्मत्’प्रत्ययगोचरे विषयिणि चिदात्मके ‘युष्मत्’प्रत्ययगोचरस्य विषयस्य तद्धर्माणां च अध्यासः, तद्विपर्ययेण विषयिणः तद्धर्माणां च विषये अध्यासो मिथ्या इति भवितुं युक्तं; तथापि, अन्योन्यस्मिन् अन्योन्यात्मकताम् अन्योन्यधर्मान् च अध्यस्य इतरेतराविवेकेन अत्यन्तविविक्तयोः धर्मधर्मिणोः मिथ्याज्ञाननिमित्तः सत्यानृते मिथुनीकृत्य ‘अहम् इदं - मम इदम्’ इति नैसर्गिको अयं लोकव्यवहारः”(ब्र.सू.शां.भा.१।१।१).

[६] “आत्मरतिः आत्मक्रीडः”(छान्दो.उप.७।२५।२).

[७] तुलनीयः“The cell has main two parts a nucleus, containing the genetic material deoxyribonucleic acid (DNA), and a surrounding cytoplasm... The nucleus-cell headquarter governs the major activities of the cytoplasm; its finest hour, however, comes at reproducting time, when chromosomes containing DNA split. It is in the cytoplasm that the cell's day-to-day business is carried on.” pp.14 The body by Alan E. Nourse.

[८] द्रष्टव्य : सुबोधिनी ३।२६।१-७२.

[९] द्रष्टव्य : सुबोधिनी ३।२६।३०-३१.

[१०] द्रष्टव्य : प्रस्थानरत्नाकर प्रमास्वरूपबोधोययिकज्ञानभेदोपभेदनिरूपककल्लोल तरंग तृतीय.

[११] “वैकारिकाद् विकुर्वाणाद् मनःतत्त्वं... यद् विदुः ‘अनिरुद्धा’ख्यं हृषीकाणाम् अधीश्वरम्” (भाग.पुरा.३।२६।२८).

[१२] pp.174 The Wittgenstein Reader=Aspect and Image Ed.by Anthony Kenny. Pbl. Black well. USA.

[१३] द्रष्टव्य : तत्त्वार्थदीपनिबन्ध १।११-१२ तथा तत्त्वार्थदीपनिबन्धप्रकाश २।२८.

[१४] द्रष्टव्य : प्रस्तानरत्नाकर पृ.१४८-१५०.

चर्चा

गोस्वामी श्याम मनोहर

सिद्धेश्वर भट्ट : आपने दो प्रकारकी प्राग्धारणायें प्रस्तुत कीं : १. सत्ताशास्त्रीय और २. ज्ञानशास्त्रीय. क्या मूल्यमीमांसीय प्राग्धारणा प्रस्तुत नहीं की जा सकती थी? क्योंकि प्रत्यक्ष ही नहीं, ज्ञानकी सारी प्रणालियें मूल्योन्मुखी होती हैं. प्रत्यक्षमें भी, जिसको हम देखना चाहते हैं उसीको देखते हैं, नहीं देखना चाहते हैं उसको हम तिरस्कृत कर देते हैं. तो प्रत्यक्षविषयक मूल्योन्मुखी प्राग्धारणापर भी आप प्रकाश डालें.

दूसरी बात. सदंश और चिदंश के विषयमें तो आपने बात की पर आनन्दांशको क्यों छोड़ दिया? यह इसलिये पूछ रहा हूं क्योंकि मूल्यकी चर्चामें हम परिणति तो आनन्दमें ही करते हैं. क्योंकि ज्ञानपिपासा भी केवल बौद्धिक क्रीड़ा तो नहीं है! अन्ततो गत्वा उससे आत्मरञ्जन भी होता है और निःश्रेयसकी प्राप्ति भी होती है. अतः आनन्दांश भी महत्वपूर्ण है. और यदि इन तीनोंको हम एकीभूत मान लें तो अद्वैतवेदान्तकी चिन्मात्र ब्रह्मकी, जिसकी अभिव्यक्ति बादमें त्रिविध चैतन्यके रूपमें होती है, अवधारणा और शुद्धाद्वैत ब्रह्मवादकी अवधारणमें क्या फर्क होगा?

गो. श्या. म. : त्वरामें आलेख पत्र लिखनेके कारण मूल्यमीमांसाकी दृष्टिसे प्रत्यक्षके विषयमें मैं कुछ लिख नहीं पाया हूं. चर्चाके बाद मेरे आलेख पत्रमें कुछ परिवर्धन कर दूं तो वह हो जायगा. आनन्दके प्रत्यक्षकी मीमांसा मैंने इसलिये नहीं की क्योंकि श्रीपुरुषोत्तमचरणोंने प्रस्थानरत्नाकरमें उस सम्बन्धमें दिशानिर्देश किये हैं. अतः उस बारेमें विशेष

कथ्य मुझे अपनी इस त्वरामें प्रतीत नहीं हुवा. और प्रमाणचैतन्य और प्रमेयचैतन्य के बारेमें मैं यह कहना चाहूंगा कि वहां वह सारा विषय प्रमात्रोपाधिक विषयौपाधिक या अन्तःकरणौपाधिक चैतन्य, इस तरहका प्रभेद अद्वैतवेदान्ती करते हैं. इस तरहका प्रभेद हमारे दर्शनमें स्वीकार्य नहीं हुवा है. इसलिये अपने आलेखमें अद्वैतकी अध्यासभाष्यकी प्राक्रियाको पूर्वपक्षमें रखकर मैने यह दिखलानेका प्रयास किया है कि हमारे यहां केवल अध्यास नहीं है. वस्तुतः संयोग भी है. क्योंकि सदंश और चिदंश ब्रह्मकी इच्छासे संयुक्त हुवे हैं. केवल अपने अध्यासके कारण संयुक्त नहीं हुवे हैं. ''**तच्छक्त्या अविद्ययातु अस्य जीवसंसारः उच्यते**''. अब संयुक्त हो गये हैं तो उसके बाद उनको भ्रम भी हो जाता है. इसलिये मैने अपने आलेखपत्रमें लिखा है कि ''सर्वांशमें मान्य नहीं है''. कुछ अंशमें मान्य है मगर अध्याससे हम सारी बातको उठाना नहीं चाहते हैं. उठाना चाहते हैं ब्रह्मकी इच्छासे, ब्रह्मसंकल्पसे. तो सदंश और चिदंश का संयोग अथवा शुद्ध चेतना और अन्त:करण और बाह्य करण का संयोग अपनी इच्छासे नहीं हुवा है परन्तु ब्रह्मकी लीलाके संकल्पके कारण हुवा है. अब ब्रह्मके संकल्पवशात् हुवा है और हमारी चेतना और हमारे उपकरण परिच्छिन्न हैं इसलिये हमको भ्रम भी हो जाता है—परन्तु केवल भ्रम ही नहीं होता है. यह हमारा सिद्धान्त है. इसीको मैने अपने आलेख पत्रमें ''सर्वांशमें मान्य नहीं है'' यह लिख कर जताया है (द्रष्टव्य : संगोष्ठ्युत्तरलेखन).

कश्चित् : (प्रश्नो ध्वनिमुद्रणयन्त्रे न श्रूयते)

गो. श्या. म. : अरूपस्य प्रतिबिम्बो न भवति इत्येतस्मिन् विषये महाप्रभुश्रीवल्लभाचार्यचरणैरेव निबन्धे तादृक् प्रतिपादनं कृतम्

अस्ति. तस्माद् बिम्ब-प्रतिबिम्वभावेन अध्यासो नास्ति अस्माकं मते. अयोगोलकन्यायेन चैतन्यस्य आवेशो भवति अन्त:करणेषु देहेन्द्रियादिषु च. तदावेशेन अध्यासो भवति, बिम्ब-प्रतिबिम्वभावेन अध्यासो न भवति. तस्माद् रूपम् अस्ति चेद् भवतु. नास्ति चेद् मा भूत् न तेन कोपि ...

कृष्णमूर्ति शास्त्री : ... और नीरूप प्रतिबिम्बको ग्रहण भी कर सकता है. यह श्रीवल्लभाचार्यजीको मान्य हो सकता है ऐसा मुझको लगता है. क्योंकि ''आभासएव च'' सूत्रके भाष्यमें जीव तो परमात्माका प्रतिबिम्ब है यह सिद्धान्त है. इस विषयमें श्रीवल्लभाचार्यजीका सिद्धान्त तो देखा नहीं है. लेकिन अद्वैतमें तो ऐसा ही है. ''रूपं रूपं प्रतिरूपं बभूव:'' ऐसी श्रुति है. इसी तरह ''यथा हि अयं ज्योतिः आत्मा विवस्वान् अपो भिन्नात् क्रियते भिन्नरूप:, देवा: क्षेत्रेषु एवम् अजो अयम् आत्मा''. तो श्रुति - सूत्रके अनुसार जीवको प्रतिबिम्ब माननेमें इनको कोई विरोध नहीं होना चाहिये. इसीलिये १५५ पृष्ठपर उसे पहले कह कर वे कहते हैं कि ''अय:पिण्डसमारोहेण दाहकस्य अग्ने: साक्षात्संसृष्ट-दाहकत्वदर्शनाद् वृत्युपारोहेण प्रकाशकस्य जीवस्य साक्षाद् अन्त:करण-संसृष्टप्रकाशकत्वं सुतरां सुवचमिति अन्त:करणे प्रतिबिम्बितानां प्रकाश:''. अन्त:करण तो नीरूप यहां वाल्लभ मतमें भी है. यहां अयोगोलकका दृष्टान्त उन्होंने ... यह भी कहते हैं ''अन्त:करणे प्रतिबिम्बितानां''. प्रतिबिम्बाधारत्वम्... (द्रष्टव्य : संगोष्ठ्युत्तरलेखन).

देवनाथन : अप्रत्यक्षेऽपि हि आकाशे बालाः तलमलिनताम् अध्यस्यन्ति इति अध्यासभाष्ये उक्तं तस्य का गतिः ?

गो. श्या. म. : अस्मिन् विषये पुरुषोत्तमचरणानाम् एतादृशो अभिप्रायो वर्तते. आकाशस्तु न इन्द्रियसामर्थ्येन प्रत्यक्षो भवति किन्तु पिशाचवत् स्वसामर्थ्येन प्रमेयबलसामर्थ्येन प्रत्यक्षो भवति. तस्मात्

प्रतिबिम्बोऽपि तस्य वक्तुं शक्यते. पिशाचादीनां स्वसामर्थ्येनैव प्रत्यक्षयोग्यता वर्तते, इन्द्रियसामर्थ्येन नास्ति. अस्माकं मते प्रमेयबलं प्रमाणबलम् इत्यादिरूपेण बलभेदः कश्चन स्वीकृतो ...

डॉ. कृष्ण.शास्त्री : आकाशस्य बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वं वा मानसप्रत्यक्षत्वम्? आकाशको प्रत्यक्ष मानते हैं?

गो. श्या.म. : न इन्द्रियसामर्थ्याद्.

कृष्णमूर्ति शास्त्री : आकाश तो प्रत्यक्ष ही नहीं है. अतएव ''अप्रत्यक्षेऽपि हि आकाशे... अध्यस्यन्ति'' इति अध्यासभाष्ये भगवान् शंकराचार्यजी आकाशका प्रत्यक्ष नहीं मानते. वल्लभाचार्यजीका सिद्धान्त तो मुझको ज्ञात नहीं है.

यज्ञेश्वर शास्त्री : वाल्लभैः अनुपलब्धिप्रमाणं न अंगीकृतं परन्तु अभावस्य प्रत्यक्षं स्वीकृतम्. कथम् अभावस्य प्रत्यक्षम्? नैयायिकैः विशेषविशेष्यभावसन्निकर्षः स्वीकृतः प्रत्यक्षस्य कृते वाल्लभमते कीदृशः सम्बन्धः पुरस्क्रियते? (द्रष्टव्य : संगोष्ठ्युत्तरलेखन).

कृष्णमूर्ति शास्त्री : उनका पूछना ऐसा है कि सभी ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों दोनोंके काम करती हैं ऐसा आपने अपने पत्रमें लिखा है. इसपर उनका प्रश्न है.

गो. श्या.म. : मैने इसीलिये अपने पत्रमें 'रसनेन्द्रिय' शब्दका प्रयोग नहीं किया है. मैने लिखा है कि एक जिह्वा रसेन्द्रियका कार्य भी करती है और शब्दोच्चारणका कार्य भी करती है. मैने 'एक जिह्वा' कहा है 'रसनेन्द्रिय' नहीं कहा है.

बलिराम शुक्ल : जिह्वा इन्द्रिय नहीं है. वह शरीरावयव है.

गो. श्या. म. : मेरा प्रतिपिपादयिषित इतना ही है कि जिह्वारूपी अवयवमें, आप उसको 'इन्द्रिय' न कहें, ज्ञानेन्द्रियत्व और कर्मेन्द्रियत्व दोनोंकी समानाधिकरणता है.

बलिराम शुक्ल : वह तो ठीक है.

कृष्णमूर्ति शास्त्री : गुरुत्वं ज्ञायते चेत् कर्मेन्द्रियेण न गृह्यते. अनुमानके सहयोगसे ही कर्मेन्द्रिय गुरुत्वको गृहीत करती है (द्रष्टव्य : संगोष्ठ्युत्तरलेखन).

गो. श्या. म. : मैने पहले ही इसीलिये कह दिया है कि मूलकारोंने कहीं इस तरहसे प्रतिपादन नहीं किया है. मुझको ऐसा लगता है कि इन्द्रियोंमें ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय के रूपमें इस तरहका ऐकान्तिक विभाजन प्राधान्येन व्यपदेश है. मूलतः सभी इन्द्रियां ज्ञान और कर्म दोनों कार्य करती हैं.

कृष्णमूर्ति शास्त्री : हो सकता है. क्योंकि इन्द्रियोंकी उत्पत्तिके बारेमें शास्त्रमें चर्चा हुयी है. सत्त्वगुणके प्राधान्यसे जो इन्द्रियें उत्पन्न हुई हैं वो ज्ञानका ग्रहण करती हैं. रजोगुणके प्राधान्यवाली इन्द्रियें क्रियाको करती हैं. उपादानके गुण उपादेयमें आते हैं. इस तरह उपादान-उपादेयभावको सोचनेसे. अलग-अलग जब कहते हैं तब तो सामान्येन व्यपदेशाः भवन्ति इस न्यायको नहीं चला सकते हैं. ...उच्यते. आहंकारिकत्वे सर्वैः इन्द्रियैः सर्वं कार्यं कर्तुं शक्यते वा अविशेषात्? न (द्रष्टव्य : संगोष्ठ्युत्तरलेखन)..

शुक्लजीके कुछ कहने पर

गो. श्या. म. : नैमित्तिके सति निमित्तानुसरणं भवति नतु निमित्तमस्तीति नैमित्तिको अन्वेष्टव्यः.

कृष्णमूर्ति शास्त्री : वैयक्तिकरूपेण है त्वगिन्द्रिय. इससे वह स्पर्शका ग्रहण कराता है. इसीलिये व्यवस्थामें बाधा पड़ेगी.

वशिष्ठनारायण झा : 'कर्मेन्द्रिय' कहते हैं तो मतलब होता है कर्मजनक इन्द्रिय. 'ज्ञानेन्द्रिय' कहते हैं तो मतलब होता है ज्ञानजनक इन्द्रिय. दोनोंमें रहा हुवा जनकत्व भिन्न-भिन्न धर्मोंसे निरूपित है. एक जगह ज्ञाननिरूपकत्व है, दूसरी जगह कर्मनिरूपकत्व है. निरूपक धर्मोंके भिन्न होनेके कारण ये दो एक नहीं हो सकते हैं.

गोस्वामीजी! यहां विरुद्धधर्माश्रयत्व दिखलाना चाहते हैं. पर क्या यह यहां सम्भव है? हाथसे यदि चलनक्रियाकी उत्पत्ति होती है तो चलनक्रियाकारी ... क्रियानिरूपित धर्म वहां है. और 'ज्ञानेन्द्रिय' जब कहते हैं तो ... अब बात यह है कि दोनोंको इन्द्रिय कह दिया. यहां भी इसको इन्द्रिय कह दिया, वहां भी इन्द्रिय कह दिया. तो किसी एक को मुख्य मानकर दूसरेको गौण मानें तब ही इससे काम बनेगा. दोनोंको एकाकार करनेसे दिक्कतें होंगी ऐसी मेरी समझ है. यह एक बात हुई.

दूसरी बात, मैं यह जानना चाहता हूं कि जैनियोंके अनेकान्त और आपके विरुद्धधर्माश्रय के बीच क्या अन्तर है?

गो. श्या. म. : निरूप्य-निरूपकभावके भेदसे धर्मभेद तो होता है. उन धर्मोंमें हम संकीर्णता बताना नहीं चाहते हैं. पर भिन्न धर्म एक धर्मीमें या विरुद्ध धर्म एक धर्मीमें सामानाधिकरण्येन रह नहीं सकते हैं ऐसा हम नहीं मानते. विरुद्धधर्माश्रयता ब्रह्मका गुणधर्म है और ब्रह्म क्योंकि अभिन्ननिमित्तोपादान है अतः महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य कहते हैं कि चूहे-बिल्लीमें वध्य-घातकता होनेपर भी पृथ्वी उन दोनोंको धारण कर सकती है. इसी तरह इन्द्रियोंमें दोनों धर्मोंका सामानाधिकरण्य है. एतावता दोनों धर्म विरुद्ध नहीं हैं ऐसा नहीं है. निरूप्य-निरूपकभावमें जो विरोध आ रहा है वह तो विरोध ही है. अतः मैं उन धर्मोंमें संकीर्णता नहीं कहना चाहता हूं. और जैनमताद् विशेषो भवतु मा वा भवतु तत्र नास्माकं आग्रहः. श्रुत्यर्थः प्रतिपादितो भवति न वा? अविशेषोऽपि भवतु चेद् विशेषोऽपि भवतु. भवतु नाम. श्रुत्यादिप्रमाणैः सिद्धम् अस्ति न वा. नहि आर्हतैः महावीरः सर्वज्ञतया अभ्युपगतइति अस्माभिः परमेश्वरः सर्वज्ञो न भवति अवश्यमेव

अंगीकरणीयम्!

वशिष्ठनारायण झा : ...जैसे एक व्यक्ति पिता भी है, पुत्र भी है, स्वामी भी है. तो इतने सब धर्म होते हुवे भी उनमें विरोध नहीं है...

गो. श्या. म. : ''नहि विरोधः उभयं भगवति अपरिगणित-गुणगणे ईश्वरे अनवगाह्यमाहात्म्ये अर्वाचीन-विकल्प-वितर्क-विचार-प्रमाणाभास-कुतर्क-शास्त्रकलिलान्तःकरणाश्रय-दुरवग्रहवादिनां विवादानवसरे''(भाग.पुरा.६।९।३६). अस्माकम् अभिप्रायः एतस्मिन् विषये एतादृशोऽस्ति. यत्र सामानाधिकरण्यं तत्र विरोधो नास्ति. अन्यत्रतु तेषां विरोधः स्पष्टएव.

कृष्णमूर्ति शास्त्री : अतएव देवानाथाचार्यैः इदम् उक्तम् यत् प्रमाणेन गृह्यते विरुद्धमिति न स्वसम्प्रतिपन्नमिति यत्... प्रमाणेन अवगम्यते'' इति भामतिकारा वदन्ति. प्रमाणेन अवगम्यते ... विरुद्धता नास्त्येव. यत्रतु नावगम्यते तत्रैव विरोधः. अतएव वेदान्तिभिः मन्दान्धकारे प्रकाशस्यापि तद्विरुद्धस्य तमसः सामानाधिकरण्यं स्वीकृतम्.

गो. श्या. म. : यत्र विरुद्धयोः धर्मयोः ऐकाधिकरण्यं तत्र विरोधो नास्ति, अन्यत्र तेषां विरोधः.

कृष्णमूर्ति शास्त्री : बन्धनकारिणी रूपसृष्टिः मुक्तिदायिनी नामसृष्टिः ये दोनों ही भगवान्‌की लीलारूपा सृष्टि है. यहां नामसृष्टिको 'मुक्तिदायिनी' कहा है उसका तात्पर्य क्या है?

गो. श्या. म. : श्रीमदाचार्यचरणानां वचनमेव उद्धृतम् अस्ति. सन्दर्भे दृष्टिः प्रदीयताम्. ''रूपप्रपञ्चकरणाद् आसक्तस्वांशवारणे, श्रुतिम् आत्मप्रसादाय चकार आत्मानमेव सः'' (निबन्धकारिका १८)'-'विचित्रो रूपप्रपञ्चः. जीवाश्च अंशाः. अल्पानां विचित्रे भ्रमो भवत्येव. अतः तस्मिन् निवारणार्थं श्रुतिं चकार. तस्याः स्वरूपम् आह आत्मानम् इति. ननु अन्तर्यामिणैव कथं न निवार्यते? तत्र आह आत्मप्रसादाय इति. अन्तःकरणप्रसादाय.

जीवान्तर्यामिणौ पूर्वमेव हृदये प्रविष्टौ भोगभोजनार्थं तदनुभोगेन मालिन्यं चित्ते जातं, न अन्त:स्थितेन दूरीकर्तुं शक्यम्. अतो बहिस्थितेन प्रवेशसमर्थेन तद् दूरीकर्तव्यमिति श्रुतिनिर्माणम् इति अर्थ:"(निबन्धप्रकाश). इसका तात्पर्य यह है कि जीव आंशिकी चेतना है और आंशिक उपकरणोंके सामर्थ्यसे युक्त है. अत: किसी विचित्र वस्तुको देखनेपर हमको भ्रम होना स्वाभाविक है. अत: "जिह्वा एकतो, अच्युत!, विकर्षति मा अवितृप्ता, शिश्नो अन्यतः, त्वगुदरं श्रवणं कुतश्चिद्, घ्राणो अन्यतः चपलदृक् क्व च कर्मशक्तिः. बह्व्य: सपत्न्यइव गेहपतिं लुठन्ति" हर विषय हमारी इन्द्रियोंको इस तरह आकृष्ट करता है कि मोह उत्पन्न हो जाता है. अब यदि श्रुति न हो तो रूपोंमें आसक्त हमारी इन्द्रियोंको कौन छुड़ाये? इसलिये भगवान्‌ने नामसृष्टि की. सारी नामसृष्टि श्रुतिसे उत्पन्न हुई है ऐसे महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यने प्रतिपादन किया है. प्रस्थानरत्नाकरमें भी प्रारम्भमें ही वह बात बता दी है कि सारी नामसृष्टि श्रुतिपूर्विका है.

डॉ. कृष्ण.शास्त्री : इसपरसे एक प्रश्न उठता है कि जब नाम-रूप सब भगवान्‌का ही गृहीत रूप है... तब नाम-रूपका जो इन्द्रियोंसे... "परञ्चि खानि व्यतृणोत् स्वयम्भू: तस्मात् पराङ् पश्यति न अन्तरात्मन्" ऐसी हिंसा तो कहां होती है? रूपदर्शन और शब्ददर्शन भी तो परमात्माकी लीला है, परमात्माके रूपमें इनको देखते हैं. इसमें विषयज्ञान बन्धक है और आत्मज्ञान मोचक है इस तरहकी व्यवस्था कैसे हो सकती है?

गो. श्या. म. : भगवान्‌के विराट् स्वरूपमें भगवान्‌ने न केवल अपने मित्र अर्जुनका प्रदर्शन कराया परन्तु दुर्योधनका भी. तो भगवान्‌की विराटतामें ये सब मौजूद हैं. और इस तरहका प्रभेद लीलार्थ प्रकट हुवा है. इसीलिये "एको अहं बहु

स्यां प्रजायेय'' की व्याख्या करते हुवे महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य कहते हैं कि 'प्रजायेय' नाम प्रकर्षेण जायेय. प्रकर्षेण जननं कीदृग्? उच्चनीचभावेन जायेयम्. तद् उपलक्षणम्. उच्चनीचभावेन जायेयं नाम विरोधिभावेनाऽपि जायेयम्. सबसे बड़ी मजेदार बात यह है कि रावण हो या शिशुपाल हैं वे भगवान्के द्वारपाल.

कृष्णमूर्ति शास्त्री : शिशुपालको ही जल्दि मुक्ति होगी. वह कृष्णशरीरपर पहुंच गया. भीष्मके साथ ऐसा नहीं हुवा.

गो. श्या. म. : इसीलिये हम जल्दि मुक्ति नहीं चाहते हैं, भक्ति चाहते हैं. ''मम उत्तमश्लोकजनेषु सख्यं संसारचक्रे भ्रमतः स्वकर्मभिः त्वन्मायया आत्मात्मजदारगेहेषु आसक्तचित्तस्य न नाथ भूयात्''. भक्ति चाहते हैं, मुक्ति नहीं चाहते हैं.

.....+.....

संगोष्ठ्युत्तरलेखन

श्रीसिद्धेश्वर भट्टजीका यह कहना कि सत्ताशास्त्रीय और ज्ञानशास्त्रीय प्राग्धारणाकी तरह मूल्यमीमांसासम्बन्धी प्राग्धारणा भी मुझे दरसानी चाहिये थी. यह बात अंशतः सत्य है इस अर्थमें कि मैं विचार्यबिन्दुके निर्देशपूर्वक उन्हें दरसा नहीं पाया. अंशतः यह बात अनवधानताप्रयुक्त भी है जो स्वयं मुझे भी अपनी अनवधानताके कारण तब चर्चाकालमें स्फुरित नहीं हुवा. अन्यथा अंशी सच्चिदानन्द ब्रह्मके सदंशरूप जड़ और चिदंशरूप जीव के पृथक्तया आविर्भूत होनेपर भी परस्पर गाढ़भावेन सम्पृक्त हो जाना और वह भी उस सीमा पर्यन्त कि दोनोंका एक-दूजेमें तादात्म्याध्यास फलित हो जाये, इसे परब्रह्म परमात्मा भगवान्की विवेकविहीन कृति न माननी हो तो लीला ही माननी पड़ेगी. अन्यथा पृथक्तया प्रकट करने हों तो तादात्म्याध्यास नहीं होना चाहिये था और अन्तमें तादात्म्याध्यास ही अभीष्ट हो तो व्यर्थ पृथक्तया प्रकट नहीं करना चाहिये था. यह

मेरे आलेखपत्रगत ''स वै नैव रेमे...'' आदि बृहदारण्यकोपनिषद्के वचनके मेरे द्वारा लिखी गयी व्याख्याके आधारपर ध्वनित हो ही जाता है. वहां यह स्पष्ट शब्दोंमें निरूपण किया है : उस अखण्डबोधरूप परमतत्त्वका निजात्मद्वेधापातन, अर्थात्, विषय और विषयी बनना, आंख-मिचौनी जैसी कोई क्रीड़ा है... अर्थात् छिपे हुवे विषयको खोज कर चेतना विषयी बनना चाहती है और इसी तरह छिपी हुयी वस्तु चेतनाको खोज कर उसका विषय बनना चाहती है... हमारा जिज्ञास्यविषय प्रत्यक्षप्रमाण भी इस प्रक्रियामें अपवाद नहीं... अतः विषयी चेतनामें प्रकट हुवा लीलात्मक अज्ञान विषयके बारेमें जिज्ञासा लिप्सा प्रयत्न या उपलब्धि के अनुरोधवश परोक्षापरोक्ष अवभासोंसे निराकृत होता है. उसी तरह विषयके इर्दगिर्द रहे आवरणोंमें से विषय भी अपनी झलक देनेको कुछ न कुछ काल-कर्म-स्वभावके अनुरोधवश क्रीड़ोपम कुछ न कुछ क्रिया प्रकट करते ही हैं.

यह अंश प्रत्यक्षानुभूतिकी मूल्यमीमांसकीय विवेचना है. जहां तक आनन्दांशके प्रत्यक्षका प्रश्न है तो ''एतस्यैव आनन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्राम् उपजीवन्ति'' (बृह.उप.४।३।३२), ''कोहि एव अन्यात् कः प्राण्याद् यद् एष आकाशे आनन्दो न स्यात्'' (तैत्ति.उप.२।७), ''या प्रीतिः अविवेकानां विषयेषु अनपायिनी'' (विष्णुपुरा.१।२०।१९) जैसे वचनोंके आधारपर समस्त उपकरणोपेत आत्मचेतनामें विषयानुराग इतना प्रबल होता है कि विषयविरक्तका किसी न किसी विषयासक्तिमें फंस जाना उतनी अनहोनी बात नहीं लगती जितनी कि विषयानुरागीका विरक्त हो जाना! यह स्वभावसिद्ध परस्पराकर्षण ही जड़-चेतनाके बीच प्रत्यक्षानुभूतिके सारे मूल्योंका निर्वाहक होता है. वाल्लभ वेदान्त, अतएव, अयोगोलकन्यायेन प्रमात्रवच्छिन्न और अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य तो स्वीकारता है परन्तु विषयावच्छिन्न चैतन्यकी, विषयके अकल्पित होनेके कारण उसे प्रत्यक्षप्रक्रियामें अपेक्षा नहीं लगती. ब्रह्मको अभिन्ननिमित्तोपादानतया स्वीकारा गया होनेके कारण जड़-चेतना दोनोंका तिरोहित अंशी तो वह स्वीकारता ही है.

आदरणीय श्रीकृष्णमूर्ति शास्त्रीजीका प्रश्न कि नीरूप पदार्थ प्रतिबिम्बग्राही क्यों नहीं बन सकता है? वस्तुतः अप्रसक्तविमर्श है क्योंकि मीमांस्य मुद्दा

यह था कि नीरूप बिम्बका कहीं प्रतिबिम्ब पड़ सकता है या नहीं?. नीरूप उपाधिमें प्रतिबिम्ब पड़ सकता या नहीं यह मीमांस्य विषय ही नहीं था. फिरभी नीरूप आकाशमें तलमलिनताके उदाहरणको ले कर किसी तरहकी कोई चर्चा करनी हो तो जैसा कहा जा चुका तदनुसार नीरूप आकाश चक्षुःसामर्थ्येन अदृश्य होनेपर भी रूपवत् पदार्थोंके आधारभूतविशेषणतया अथवा स्वसामर्थ्येन प्रमेयबलद्वारा चक्षुर्ग्राह्य बनता स्वीकारा गया होनेसे उसमें अविद्यमान तलमलिनताका अधिष्ठान बन सकता है. एतावता वह तलमलिनता वहां प्रतिबिम्बित नहीं मानी जा सकती है. क्योंकि तब तो मलिनबिम्बको कहीं खोजना अनिवार्य हो जायेगा. रही बात अन्तःकरणमें विषयोंके प्रतिबिम्बकी तो वाल्लभ वेदान्त वहां यह स्पष्टीकरण देना चाहेगा कि अन्तःकरण ऐकान्तिकतया निरूप नहीं होता. क्योंकि वह स्वतः नीरूपप्रायः होनेपर भी विषयोपरागवश अपनी रूपग्राहिका वृत्तियोंके कारण अस्थायी फिरभी वास्तविक रूपग्रहण भी करता ही रहता है. मृत्तिकामें घटाकृति सहज न होनेपर भी कुम्भकारके प्रयत्नोंके वश वह वास्तविकतया प्रकट होती है. अथवा जैसे चित्रकारकी तूलिकाद्वारा कागज या भीत्ति वर्णाकृति धारण कर लेती है तद्वत्. रही बात एक ही इन्द्रियद्वारा बोध और क्रिया दोनों उत्पन्न हो सकती है या नहीं, इस ‘विवादकी तो इस विषयमें अवधेय है कि सृष्ट्युत्पत्तिकी प्रक्रियामें स्वयं त्रिगुणात्मिका प्रकृति क्रियाशक्तिमती और गुणातीत चेतनात्मक पुरुष बोधशक्तिमान यों इन दोनोंके परस्पर संयुक्तरूपेण ही महद् अहंकार मन ज्ञानेन्द्रिय कर्मेन्द्रिय पञ्चतन्मात्रा और पञ्चमहाभूतों का क्रमिक विकास हुवा माना गया है. अतः जहां क्रिया अनुभूतिगोचर होती हो पर बोध अनुभूतिगोचर न होता हो वहां वैसा स्वरूपप्राकट्य; अथवा जहां बोध अनुभूतिगोचर होता हो क्रिया अनुभूतिगोचर न होती हो वहां वैसा स्वरूपप्राकट्य, स्वीकारना उचित होता है. पर जहां दोनों निजानुभूतिगोचर होते हों वहां उभयरूपता स्वीकारनेमें क्या आपत्ति होनी चाहिये? ऐसा विशेषतः इसलिये कि धातु या शिला आदिमें बोध अनुभूत नहीं परन्तु सजीव प्राणिओंमें बोध एवं क्रिया दोनों प्रकट अनुभूतिगोचर होते ही हैं. अतः प्रकृति-पुरुषकी संयुक्तोपादानता स्वीकारनेमें संकोच क्यों होना चाहिये? वस्तुतः शिला-धातु आदिमें संयुक्तोपादानता है ही फिरभी पुरुषचैतन्यको वहां तिरोहित मानना पड़ता है, जबकि प्राणिओंमें अतिरोहित.

श्रीयज्ञेश्वरजीके प्रश्नका समाधान तो आधारपत्रमें ही समाहित होनेसे पिष्टपेषण अनावश्यक है. फिरभी संक्षिप्त सूचन इतना अवश्य ही दिया जा सकता है. चारों तरहके अभावकी व्याख्या वाल्लभ वेदान्त तिरोभावकी सैद्धान्तिकी प्रक्रियाद्वारा करता ही है. अतः अनुपलब्धिको प्रत्यक्ष अनुमिति शाब्द ज्ञानके तिरोभावके रूपमें स्वीकार कर तत्तत् प्रमाणोंमें ही अन्तर्भाव स्वीकारना उचित होगा. क्योंकि जहां पर्वतके बारेमें प्रत्यक्षगोचरतया अनुपलब्धि होती है अनुमितिसे उपलब्धि होती है. सृष्टिकी ब्रह्मोपादानकता या ब्रह्मकर्तृकता के बारेमें अनुमित्यात्मक अनुपलब्धि होती वहां शाब्दी उपलब्धि तो होती ही है. अतएव नैयायिकोंने प्रतियोगी और अभाव को समानेन्द्रियसे ग्राह्य माननेका ज्ञानशास्त्रीय प्रस्ताव प्रस्तुत किया है. स्वयं शांकर वेदान्तमें भी मूलतः अनुपलब्धि प्रमाणतया मान्य थी कि नहीं, यह विचार्य विषय है. ऐसा सहज सम्भव है कि ‘‘व्यवहारे भाट्टाः’’ नीतिके अन्तर्गत अनुपलब्धिको परवर्ती कालमें कभी प्रमाणतया मान्य किया गया हो.

TOWARDS UNDERSTANDING PERCEPTION

Prof. S.R.Bhatt, Delhi

Perceptual Cognition has been a basic and important factor in human life, in fact for all life in general. It may be regarded as pivotal to mental functions and physical behavior of human beings and its central and pervasive role needs no special mention.

The claim of primacy and significance of perception as a foundational mode of knowing can hardly be a matter of dispute and disagreement as all other modes of knowing like inference seem to originate in perception and find their ultimate validation in perception. It cannot be denied that all cognitive processes in the empirical sphere begin with perception but there may be difference of opinion whether they end up in perception.

There can again be no unanimity in regarding empirical perception as the sole variety of perception. In spiritual, mystical, religious and some schools of moral thinking there has been an acceptance of trans-empirical perception. In fact there have been claims that this alone is genuine and truly veracious perception. However as a worldly being our main concern in with empirical perception, which may be the subject matter of our deliberations, though some references to the trans-empirical may not be ruled out. Without denying the validity of trans-empirical perceptions that are intuitive realizations of a higher type available only to realized souls it must be pointed out that they are beyond the ken of our thought and language. They are to be experienced and not to be analyzed or deliberated upon.

The role of perception in cognizing the reality has always been regarded as inevitable and valuable. Through perception alone the reality is said to be directly apprehended. It has been a perennial human quest to know the reality as it is. That is why truth-claim is built in knowledge-claim. But the basic epistemological issue has been substantiation of truth-claim. The entire exercise of Pramana Sastra of epistemology has been undertaken precisely for this purpose. It has been argued that in perceptual cognition truth-claim can be self-substantiated but in the face of the possibility, or rather actual and painful experience, of perceptual errors this claim gets falsified. We do say 'Pratyakse kim pramanam?', i.e., what is the need for evidencing truth in perception as it is self-evidencing, but at the same time we do doubt the verdicts of our own perception.

With the rise of science and its phenomenal successes the attitude of scientism and positivism has cropped up in some quarters. It has not only been claimed that all perception is sense perception with or without the aid of external instruments and appliances technology has produced, it has also been maintained that 'scientific method generated perception' alone can guarantee of objectivity and reliability and, further, it alone can have the feature of being shared (shared-ness). In view of the proven hollowness of this claim the positivistic attitude has lost its creditability in the fields of natural sciences but its borrowed remnants in the social sciences still persist. There are many natural scientists that have the gradual realization of the limitations of the scientific method and consequent disenchantment from its absolute sway. They have come to maintain that even this knowledge can be subjective and falsifiable. Of course the impact of this conclusion is being felt in the field of social sciences as well but still old dogmatism is seen persisting in some quarters. It must, however, be accepted that no finality can be claimed in the sphere of human knowledge and these issues come up again and again as puzzles for our consideration.

PUZZLES OF PERCEPTION

There are several issues concerning its nature, process, types, extent, limits and their transcendence that pose problems and puzzles for our consideration. The phenomenon of perception in sub-human species has its own problems and puzzles but the complex biological structure constituting human organism and its intricate functioning through cognitive senses and brain is no doubt mind-boggling and equally wondrous is its cognizing capacity, potential or actualized, which is vast and variegated. Added to this is the availability of freedom of will and selectivity of attention, choice of the objects of perception and degrees of concentration. The macro and micro objects which are external to the cognizing consciousness as well as the subtle and sophisticated mental objects that are inherent in consciousness present innumerable riddles as they become percepts for human intelligence, natural or artificial. Perceptual cognitions do not remain simple sensations but get conceptualized and verbalized. The latter variety of perception is highly complex and intricate having a fine and subtle networking which is quite amazing. For a self-reflective mind it is both an amusement and a puzzle to observe and to analyze this astonishing fit of human mind.

In fact there are countless puzzles of multifarious and multi-dimensional perceptual cognition and only some of them can be indicated for our consideration. We may take up any or all of these or any other of our choice and interest in our deliberations. Some of the issues are as under:

1. Is perception a direct experience of the real? What is perceived—an independently existing object or its impression or just a mental projection? Is perception presentative or representative ?
2. Perception is usually taken to be self-evidenced. Is it really so ?
3. Is perception foundational or basic source of knowing ?
4. Perception with external aids is taken to be accurate. Is

it really so ?

5. It is believed that there are social, racial, individual's subconscious or previous birth's impressions that are operative and influencing perceptual process. Can this be regarded as tenable ?
6. Is 'Nirvikalpaka Pratyaksa' a psychological fact or a logical myth? How is it related to the 'Savikalpaka Pratyaksa' ?
7. Is perception both empirical and trans-empirical ?
8. Who is the perceiver? Consciousness, conscious self, or mind or senses and brain as parts of the body ?
9. What is the role of various physical and mental factors in generating, facilitating or influencing perceptions? They may pertain to structure of body, development of mind, circumstantial placement of object or any other type.
10. Can there be error-free or non-erroneous perception? What are the causes of error and can they be eliminated absolutely? Can we meaningfully talk of degrees of truth and error ?
11. Can there be objectivity in perception ?

These issues can be approached keeping the following points in view:

1. Relation between consciousness, mind, cognition and perception.
2. The conscious and the non-conscious aspects of perception.
3. Total experience and perception.
4. Perception of objects in normal people and those with handicaps.

5. Perception in the context of Media and Arts.
6. Perception and Artificial Intelligence.
7. Aeronautical perception.
8. Relation between language and perception.
9. Perception of abnormal people or biased people. Is there a secret self or a racial self?

The phenomenon of perception of perception is of concern to common human as well as to specialists in perhaps every field. In every discipline one comes across puzzles pertaining to it and they have been demanding our attention for all the times. Some of the problems may be age-old and some might be caused by the explosion in our knowledge. There is a need for an interdisciplinary dialogue drawing upon varied perspectives for mutual understanding and exchanges of ideas with the spirit of the ancient saying "Vāde vāde jāyate tattvabodhaḥ". In this Jnanayajna there can be alternative approaches to these issues from varied perspectives though the focal point can be Prasthānaratnākara.

चर्चा

प्रो. एस्. आर्. भट्ट

कृष्णमूर्ति शास्त्री : अद्वैतवेदान्ते ...

डी. प्रह्लादाचार : भट्टमहाभागानाम् आशयो यथा मया अवगतः तथा अनूद्यते. ममापि केचन संशयाः भवन्ति. भट्टमहाभागैः उक्तं यत् अद्वैतदर्शने अन्तःकरणं साम्प्रदायिकरीत्या यद्यपि चक्षुर्द्वारा बहिर् निर्गत्य विषयाकारं लभते. अन्तःकरणस्य यो विषयाकारो भवति सा वृत्तिः. When Antaḥkaraṇa goes out through the sense organ and takes the shape of the object that itself is called 'Vṛtti'. This is the view of the Advaita. But it seems that you explained in a slight different manner. The main intention of Advaita here is to say that the Antaḥkaraṇa becomes attentive to the object through the senses. I have some doubts here. A blind person also can be attentive to the object. So, according to you the Indriya is not 'Dvāra' here.

सिद्धेश्वर भट्ट : Some other Indriya will be the Dvāra.

डी.प्रह्लादाचार : तत्र अन्तःकरणस्य या विषयाकारता दर्शने प्रतिपाद्यते तत्र केवल आलंकारिकतया उच्यते वा अथवा वस्तुतः अन्तःकरणं बहिः गच्छति. अन्तःकरणं हि तैजसम् इति अंगीक्रियते. तैजसत्वादेव तस्य चक्षुर्द्वारा बहिर्गमनं युज्यते.

सिद्धेश्वर भट्ट : This is not to be taken literally.

डी.प्रह्लादाचार : That is the point. Whether this is it

to be taken literally or figuratively.

बलिराम शुक्ल : Antaḥkaraṇa is not a Jaḍa dravya like water. They are using metaphor.

प्रद्योतकुमार : We have here two alternative views. One is saying that it should not be taken literally and other is saying that it should be. Now think over what if we take it literally ?

कृष्णमूर्ति शास्त्री : मनसो बहिर्गमने को दोषः ? उच्यताम्. संकोचविकासशाली तैजसम् इन्द्रिय...

के.ई. देवनाथन् : गच्छत्येव. It literally goes out.

सिद्धेश्वर भट्ट : Generally we take a concrete tangible object to move. We do talk of the movement of the mind. But it is only figurative and not literal.

कृष्णमूर्ति शास्त्री : एवं चेत् तर्हि चक्षुषः प्राप्यकारित्वमपि न स्यात् नैयायिकमते. चक्षूरष्मयो गच्छन्ति, चक्षुषः श्रोत्रस्य च प्राप्यकारित्वम् इत्यादि यद् उच्यते नैयायिकैः. तत्र चक्षुः कथं गच्छति ? इति उक्तौ किम् उत्तरम् भवदपेक्षया ? अतिसूक्ष्मत्वाद् गमनमिव इत्येव उच्यते.

सिद्धेश्वर भट्ट : गमनमिव, नतु गमनम्.

कृष्णमूर्ति शास्त्री : नैव नैव, गमनमेव. इवकारः एवकारार्थे. अतएव संकोचविकासशाली.

प्रद्योतकुमार : अन्तःकरणस्य जडत्वं तैजसत्वं च. जडतया तैजसतया च अन्तःकरणस्य बहिर्गमनं सम्भवति. Since you said that all these views are depended basically on the... If this is so and that is a good point also... conception of Antaḥkarana is important. And there is no doubt about this that the Advaita Vedāntins are very categorical about two things that Antaḥkaraṇa is

Jaḍa and the Antaḥkaraṇa is Taijas. So because of this... Why they insist on these two ? And these accounts for its literal going out. Number one thing. And the second thing is that even when it goes out, Prahladachrji sometimes might be suggesting that only that... even that part which is in between that also is Vṛtti. So Antaḥkaraṇ is separated in three parts. One, Antaḥkaraṇa that remains inside. The other that is in-between the person and the object. And other is the object. All these three ...

बलिराम शुक्ल : ... अन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्य ...

सिद्धेश्वर भट्ट : In order to understand the perceptual cognition we have to take into account the psychological factors, the physiological factors, the optical factors and the epistemic factor. All these four must be taken into account. You can't just make epistemic analysis and say that this is the explanation of the perceptual process. You also have to go to an ophthalmologist, neurologist and explain. And I think the neurologist will laugh at it if you say that Antaḥkaraṇa goes out.

प्रद्योतकुमार : Let him laugh. We will laugh at his ignorance. Bring anyone.

डी.प्रह्लादाचार : Prof. Bhatt told that these views need not be considered as alternative views. They may be considered as complementary to each other. But I think it is not so. E.g. take Advaitin's view.

When Antaḥkaraṇāvacchinna caitanya i.e. pramaṇa-¯vacchinna caitanya, and pramatṛvacchinna-caitanya, viṣayavacchinna-caitanya these three Caitanyas becomes one. Then we perceive the object. This is the perception of the object. But the Nyāya view is altogether different here. They don't understand what is this Caitanya being reflected in this Antaḥkaraṇ-vṛtti. They don't have such concept at all. Antaḥkaraṇ Vṛtti is something doesn't exist as per the Nyạya school. Therefore, Antaḥkaraṇavṛtti-pratibimbita Caitanya and that Caitanya is going to manifest pramatṛviṣayavacchinna-caitanya etc. all those things are not at all acceptable to the Nyāya School. Similarly whatever is accepted by the Nyāya school is not totally acceptable to Advaitins.

कृष्णमूर्ति शास्त्री : ऐसा नहीं हो सकता है. क्योंकि ''इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षं'' इति न्यायशास्त्रेऽपि इदम् उच्यते. तत्र ज्ञानं नाम बुद्धेः वृत्तिः. एवञ्च 'वृत्ति'शब्देन यद्यपि न उक्तम्.

डी.प्रह्लादाचार : शास्त्रिमहाभागाः! शृण्वन्तु. न्यायदर्शने ज्ञानम् आत्मनो गुणः आत्मभिन्नो, नतु आत्मस्वरूपम्. चैतन्यमेव ज्ञानम्. इदञ्च ज्ञानं यदा अन्तःकरणवृत्तिप्रतिबिम्बितं भवति तदा प्रत्यक्षं ...

सिद्धेश्वर भट्ट : I understood your point. My brief replay would be that the reality is too complex to be approached in a strait jacketed manner such that one particular model will explain all gamut all aspects of reality. There are some aspects that Advaitic model will hold good, there are some other model that Buddhist model will hold good. There will be some other aspect of reality where ...

डी.प्रह्लादाचार : No, the point that I am making is that how can we consider them as complementary to each other ? That is the point.

सिद्धेश्वर भट्ट : Because one aspect is explained by one model. Another aspect is explained by another model.

डी.प्रह्लादाचार : That means they are alternative models.

सिद्धाश्वर भट्ट : No. Not alternative.

* * *

Infrequently Asked Questions on Perception And the Outlook of Vāllbha School of Philosophy

Achyutananda Dash

Perception, the principal and primary means for acquiring knowledge, perhaps is the only meeting ground of the śāstra and the science. The śāstra examines perception with reasoning whereas the science examines the same with experiments. The results brought about by both these processes are surprisingly very close, almost identical, and therefore the scientific nature of śāstra is left with little doubt. The process of acquiring perceptual knowledge in science and śāstra has been defined in clear terms, almost with certainty. At times science honestly confesses its inability to explain adequately many intriguing phenomena in perception whereas śāstras do not seem to be doing so. Is it because, there is no reason for reasoning to fail? Sense-Object-Contact (SOC), which is the very foundation of perception according to sastra, is generally accepted of two types: (a) empirical (laukika) and (b) transcendental (alaukika). The former is of six types depending upon six sense-organs including the mind and the latter is of three types depending upon three types of transcendental relations namely (i) universal, (ii) cognitive and (iii) yogic[1]. However, there remains ample scope for asking questions on the procedural as well as cognitive aspects of perception, which demands more reflections. For instance, the scientists still ponder on the questions like - 'how the brain interprets the inverted image it receives from the retina of the eyes', 'how the brain appreciates different tonal qualities' and 'how to fix the position of the source of sound' so on and so forth[2]. The śāstras, on the other hand appear to be seriously pondering on the cause-effect relationship between the SOC and the cognitive state. The śāstras also ponder on the justifiability as well as preferentiality of one cognitive state over the other in accordance with reasoning. The reasoning on the background of longstanding experience and logical principles is no doubt dependable, but it does not mean that that is not subject to verification. The tradition is always open to new ideas and it appreciates reasonable concepts coming from any corner of humanity. We, therefore, wish to investigate on some infrequently asked questions on perception and look into the answers in śāstras, especially in the Vāllabha school of Vedānta in this paper. This may give new insights to the richness of the śāstric world.

Primacy of Perception :

We know perception is the foremost of cognitive means, because, its causes are non-epistemic, non-epistemic in the sense that it is not caused by any other cognitive instance. Gaṅgeśa defines perception as 'jñāañkaraṇaka-jñānam' (knowledge, that is not caused by any other cognition), and that distinguishes it from other cognitive instances like those caused by inference, verbal testimony etc. The primacy of perception is undisputed for that is the beginning of cognition and other cognitive instances somehow or other depend upon perception. The Jains advocate in favor of primacy of perceptual cognition on account of 'clarity' (vaisadyam)[3]. The clarity is explained in terms of 'immediacy' since the perception is caused being independent of mediation of any other cognition[4]. This goes close to Gaṅgeśa's above said definition. The question is - 'is it enough to ascertain the primacy of perception only on the ground of it being independent of mediation of other cognitive instances'? Moreover, it further may be asked that whether the perception that is just caused by SOC is cognizable or describable or not.

Bhartṛhari the doyen of grammarian philosophers on the contrary advocates strongly that every piece of knowledge is intertwined with the 'word'[5] and there is no knowledge that is bereft of 'word'. This leads to the theory that perception is 'linguistic'. Vācaspati Miśra justifying the linguistic nature of perception says: 'It is linguistic not in the sense that it arises from 'word' as its means, but rather it arises in word. Word is here the cause only qua object, and there is an identity between the entity and the word'[6]. The grammarians essentially uphold this view and go to the extent that the relation between 'word' and 'meaning' is identity (tādātmya)[7].

Buddhists, however, think that it would be too wide of perceptual cognition if it were accepted to be incorporating 'word'. To them the perception should be strictly reflexive and exclusive of the object (artha-mātra-nirbhāsam), free from name (nāma) and generic property (jāti). Dharmakīrti goes a step foreword and defines perception to be free from 'conception' (kalpanā) and 'error'[8]. The term kalpanā here refers to every input cognitive instance that either is related to linguistic expression or otherwise to the subjective imagination. According to Dharmakīrti perception can present bare particular which is of 'its own nature' (svalakṣaṇa) and which is radically different from that which is related to that of the common in many (sāmānya-lakṣaṇa).

In view of the radical opposition between Bartṛhari and the Buddhists, most schools of Hindu philosophy sought to accommodate both by admitting two types, or rather two levels of perception: one non-linguistic and non-conceptual (nirvikalpaka) and the other linguistic, conceptual and thus judgemental (savikalpaka). It is of course, unanimously accepted that the savikalpaka perception is useful as far as the cognitive behavior is concerned. This language centric perceptual cognition, to my mind, questions the primacy of perception in one hand and its upajīvakatā of the other cognitive instances on the other.

Modern scientists add more doubt on the primacy of perception when they say that we start with 'simple perception' and then go further to reconstructing 'full perception' by mind (past experience). To quote H. S. Subrahmanyam:

> "We often begin with simple perception and then work backwards to reconstruct the full perception out of its elements. When we look we are not looking with our eyes, we are looking with our mind (past experience). Perception is not passive. It is an active construction. It is multidisciplinary - physical, physiological, psychological and metaphysical.[9]

This observation though rejects the exclusivist theory of the Buddhists, it equally questions the validity of Gaṅgeśa's definition viz. 'jñāañkaraṇaka-jñānam pratyakṣam', for scientifically speaking perception includes many more aspects beyond just bare sense object contact. This need more elaboration and we shall deal on this issue while discussing on the jñāana-lakṣaṇa-pratyāsatti. Before coming to that let us see what else the modern thinkers say on perception.

'Attention' according to scientists 'is another basic factor in perception'[10]. Attention is intentional. J. N. Mohanty, therefore, argues in favour of intentionality of conception of knowledge[11]. The intentionality can further be extended to the 'selective nature' as far as the perceptual cognition is concerned. For instance, while watching a football match, we focus only on the ball and the ball carrier and the rest is in the background. With that we have full satisfaction of watching the entire match. But is it so? It further may be argued that - does 'the background' refers to the 'past experience' that gives a satisfaction of watching the 'whole match' as such? If 'yes', then the question again may be asked: 'what is the role of 'past experience' (smṛti) in perception'? Any way, if the reconstruction theory of modern science is accepted than the primacy and supremacy of perception will remain questionable.

Gosvāmī Śrī Puruṣottama seems to be thinking in the same direction while arguing in favor of establishing the primacy of Śabda in his Prasthanaratnakara. Though he agrees to accept the subordination of śabda to perception as far as the empirical knowledge is concerned, still he thinks that the perception of transcendental, psychological and metaphysical aspects are not possible without śabda, and thus he advocates that primacy be given to Veda or śabda alone amongst the pramāṇas. To quote Gosvāmī Śrī Puruṣottama:

> “अतो लोकानधिगतार्थ-गन्तृत्वात् तदर्थस्य प्रमाणान्तराबाध्यत्वेन नित्यम् अर्थेन सह सम्बद्धत्वेन च वेदात्मकशब्दस्यैव मूर्धन्यत्वम् उचितम्, न अन्यस्य इति निश्चयः”[१२]

This indeed is a challenge to the tradition on the primacy of perception and possibly Gosvāmī Śrī Puruṣottama supports the theory of 'reconstruction' when he argues for the primacy of Śabda. According to Prof. J. N. Mohanty -'the thesis of primacy of perception is to be understood at least in the sense that all pramāṇas begin with perception[13]. It neither necessarily refers to the supremacy of perception nor advocates that the perception is independent of other cognitive instances. Therefore, we need to reinvestigate whether 'jñānākaraṇakam jñānam pratyakṣam' the definition of perception given by Gaṅgesa is still valid or not. Moreover, empirically speaking if the theory of reconstruction can be incorporated into the śāstric tradition or not?

Perceptual Mechanism In Śāstra and Science:

The causal mechanism of perceptual cognition (pratyakṣa), which is almost unanimously proposed by all, that first of all, the soul is connected with the mind, the mind is connected with the sense organ, and then the sense organ is connected with the object which produces the perceptual cognition[14]. Here, I suggest a formula of cognitive mechanism that may be treated as a 'skeletal causal model' for any cognitive event[15]:

'(I + F) → R'

Here I stands for 'Instrumental cause', F stands for 'Function or Auxiliary action' and R stands for 'Result' or the 'end product'.

This is the standard mechanism of the causation of any cognitive event. For instance, in the **'(I + F) → R'** model of visual perception, I is the eye, F is 'the connection' which is technically called sannikarṣa (perceptual functional relation[16]) or vyāpāra (function) in Nyāya system of Philosophy. The R is the result namely the cognitive structure.

The result or the cognitive structure can be presented in the PSV-model. Here P stands for prakāra, S stands for saṃsarga and V stands for viśeṣya in the cognitive structure.

If we take an example like:

A. 'Parvato vahnimān' (The hill is fire-possessive) as an instance of perceptual cognition, the P in that case will be vahni (fire), and the V is parvataḥ (the hill). The relation, i.e., the S between P and V is saṃyoga (contact). Let us see how the causal mechanism of the perceptual cognition functions. First of all, the viewer sees the fire (or may be the hill first, the order does not matter) through his eyes, (the causal instrument of perception). The perceptual functional relation (sannikarṣa) between the eye and the object is saṃyoga (contact). It may be underlined here that the 'connection' between the instrument (eye in the present case) and the object (the fire / hill in the present case) does not function as the relation in the qualifier-qualificand structure of the perceptual cognition of 'parvato vahnimān'. The connection between the eye and the fire / hill, which is F of I, first of all present the perceptual cognition of the fire and the hill independent of their mutual relation. The perceptual knowledge at that stage is 'ayam parvataḥ'(this is a hill) and / or 'ayam vahniḥ'(this is fire) in which the eye acts as the instrument of single object perception and the connection between the 'eye' and the 'object' is the 'operator' (vyāpāra = function), without which no instrument can be an instrument[17]. Thereafter, the viewer perceives the 'contact' (saṃyoga) by his eye only through the perceptual functional relation (sannikarṣa) called saṃyukta-samavāya (inherence in what is connected). This is S in the PSV-model of the cognitive structure, which acts as the vyāpara between the 'contact' and the eye. (It may be recalled here that the eye is in contact with the hill and the fire in which the 'contact' (saṃyoga) inheres being a guṇa (a separate category called 'quality' in the Nyāya-Vaiśeṣika system). This 'contact' (saṃyoga) functions as the relation between the fire and the hill making it a compact cognitive state as 'saṃyoga-saṃbandhena parvato vahnimán', (the hill is possessed of fire through the relation of 'contact'). In the objective structure, or in the empirical reality, there is in fact a 'contact' between the objects, which now in the cognitive state of the viewer functions as the relation. In other words, all the entities in the perceptual state of 'parvato vahnimān', i.e., both the relata (the P = fire and the V = hill) and the relation (S = 'contact') are seen / perceived by the viewer. Technically speaking, thus, the perceptual cognitive relation is called 'sannikarṣa-bhāsya' i.e., the relation that is apparent through sannikarṣa (perceptual functional relation) in the system of Navya Nyāya, which distinguishes the perceptual cognitive episode from other cognitive episodes of the same objective structure. We must understand that this 'cognitive relation' is different from the 'objective relation' as well as 'functional relation'. There are only two types of primary 'objective relations' generally accepted in Navya-Nyāya, saṃyoga (contact) and samavāya (inherence)[18]. The saṃyoga and samavāya, when function as relations between the sense-organ and the object concerned, they are called 'functional relations'. These two are simple functional relations. These two functional relations conjunctively make further three complex functional relations, namely, 'saṃyukta-samavāya' (inherence in what is connected), saṃyukta-samaveta-samavāya (inherence in what is inherent in what is connected) and samaveta-samavāya (inherence in what is inherent) which function as vyāpāra for different perceptions. Gaṅgeśa gives an account of how the perceptual functional relations (sannikarṣa) function. According to him, by 'saṃyoga' (contact) matter (dravya) is seen, by 'saṃyukta-samavāya' (inherence in what is connected) quality and action are seen, by saṃyukta-samaveta-samavāya (inherence in what is inherent in what is connected), the universal or generic properties belonging to the qualities like colour-ness etc. (rūpatva etc.) are seen, by samavāya (inherence) the 'word' (śabda) is cognised, and by samaveta-samavāya (inherence in what is inherent) the invariable property of word (śabdatva) is cognised[19]. There is another type of functional relation accepted in Navya-Nyāya called 'indriya-sambaddha-viśeṣaṇatā-sannikarṣa' (the perceptual functional relation of sense-organ-connected-qualifier-ness) for the perceptual cognition of abhāva (absence) and samavāya (inherence)[20]. Thus there are in total six types of perceptual functional relations, which act as the function i.e., F, in the causal mechanism of perceptual cognition. The author of Prasthāna Ratnākara, however, accepts five types of empirical functional relations as: (a) saṃyoga (contanct), (b) tādātmyam (identity), (c) saṃyukta-tādātmyam (identity in what is connected), (e) saṃyukta-viśeṣaṇatā (the qualifierness in what is connected) and (f) svarūpa (self-linking or reflexive relation). There are reasons for accepting these functional relations and we wish not to delve into them now.

The pertinent question in present context is, if there is an instance of a cognitive state like:

B. "ghaṭavad bhūtalam" "The ground is pot-possessive" then what would be the cognitive mechanism? The relational structure of perceptual cognition of (B) would be "saṃyogena ghaṭa-viśiṣṭam bhūtalam" (the ground is pot-possessive through the relation 'contact'). Here 'the ground' and 'the pot' both are seen by the perceptual instrument eye through the functional relation (vyạpạra) called 'contact' (saṃyogȧ-sannikarṣa). The cognitive relation between 'the ground' and 'the pot' is also 'contact', i.e. S, in our PSV-model. This relation 'S' is also seen by the eye itself, through the functional relation called 'inherence in what is connected' (saṃyukta-samavạya), which is F of I in the causal mechanism. Therefore, the saṃyoga saṃbandha that is apparent in the cognitive relational structure of perceptual cognition of 'ghaṭavad bhūtalam' is called sannikarṣa-bhāsya (apparent by perceptual functional relation).

Now let us see if we can see:

With this background, now let us see if we can see the objective structures of the phenomena like:

C. "bhūtale ghaṭaḥ" (The pot is on the ground),

D. "parvate vahniḥ" (The fire is on the hill).

When we are talking of seeing, it obviously mean that these situations are instances of perceptual cognition (pratyakṣa) itself. The question may be asked that - is there any difficulty in seeing (C) or (D)? Well, one can perceive the ground as the locus of the 'pot' or the 'hill' as the locus of fire. The perception of (C) or (D), that gives a different cognitive structure, is certainly different from the perception of (B) 'ghaṭavad bhūtalam' or (A) 'parvato vahnimān'; because, in this case, the viewer sees the ground or hill as the location of pot and fire respectively, but not just as 'the ground is pot-possessive' or 'the hill is fire possessive'. The question in other words is - how to see the 'location' (adhikaraṇatā)? It further may be asked that - how the perception of (D) 'parvate vahniḥ' cause the cognitive structure that is different from that of (A) 'parvato vahnimān'? In these two cases of perception, the objective structure of the cognitive events, of course, do not differ from one another. In both the cases the eye-object contact remains the same and the objective relation, namely, 'contact' (saṃyoga) remain the same. However, everybody realises that the perceptual cognition of (A)'parvato vahnimān' is different from that of (D) 'parvate vahni', since in one case he sees the hill as fire-possessive and in the other the fire as located on the hill. The question again arise is - if the perceptual relation namely 'contact' remains the same in both these instances of cognitive structure of perception then how these two be treated as different instances of perception? We can solve the problem in the following argument. The cognitive structure of both these instances of perceptual cognition, namely 'parvato vahnimān' and 'parvate vahni', ought to be different from each other depending upon their different perceptual cognitive relations, and they are 'contact' in one case and 'location' / 'substratum' (adhikaraṇa) or 'super-stratum' (ādheya) in the other. The way, in which, the perceptual cognitive relation 'contact' plays its role in the cognitive structure of (A) 'parvato vahnimān' by perception itself through the functional relation namely saṃyukta-samavāya-sannikarṣa, has already been explained above. Now in the cognitive structure of (D) 'parvate vahni', where the hill is perceived as the location (of fire), the perceptual relation namely 'location' or 'substratum' is also perceived, is to be explained. The question is what is the perceptual functional relation between the eye and the 'location' (adhikaraṇa)? Can we see 'location or substratum' (adhikaraṇa) directly through our eyes? The answer will be 'yes' if and only if it belongs to one of the seven basic categories (sapta-padārthas) of the Nyāya-Vaiśeṣika system. However, we do not find it in the standard list. Therefore, none of the standard six empirical perceptual functional relations will be useful for seeing 'location'. May we think that the 'location' is perceivable through the mind, which also functions as an instrument in perceptual cognition? This may be called 'jñāna-lakṣaṇa-sannikarṣa (or jñāan-lakṣaṇā-pratyāsatti[21]), where the prior knowledge of location functions as the perceptual functional relation (sannikarṣa) with the mind. That gives rise to a special kind of perceptual cognition, which is otherwise called mānasa pratyakṣa (mental perception or perception through past experience)[22]. This amount to saying that jñāna-lakṣaṇa-pratyāsatti is accepted when the six empirical functional become inapplicable and still the perceptual cognition takes place.

E. "Surabhi-candanam" "The sandalwood [is] fragrant" is given as a śāstric example for jñāna-lakṣaṇā-pratyāsatti. Here only the sandalwood comes in contact with the eye and then the fragrance of the sandalwood is remembered, because, the fragrance that invariably is related to the sandalwood from a prior knowledge. In the same manner, when the hill is intended to be perceived as location of fire and of course if the hill as well as fire are directly found in the range of the eye, then through jñāna-lakṣaṇa-sannikarṣa the 'location-hood' of the hill is perceived giving rise to the cognitive structure of 'parvate vahniḥ'. Similarly (C) 'bhūtale ghaṭaḥ' can be explained where the prior knowledge of 'location-hood' (adhikaraṇatā) of the ground is remembered in the event of eye-contact with the pot which is on the ground, giving rise to the said cognitive structure where 'location' plays the role of perceptual cognitive relation. Therefore, it can be said without any hesitation that it is through jñāna-lakṣaṇā-pratyāsatti, that the perception of the kāraka-relations function as perceptual relations. The kāraka relations like kartṛtva (agency), karmatva (object-hood), karaṇatva (instrumentality) or adhikaraṇatva (locus-hood) etc. are perceptible through the jñānalakṣaṇā-pratyāsatti, if and only if the cognitive structure demands these properties to be instances of perceptual cognition. The situations like 'pacantam paśyati', 'pacamānam paśyati' (sees someone who is cooking), are perceptible, where the performer of the main action becomes the object of seeing. Gaṅgeśa accepts anuvyavasāya (introspective cognition) for the perception of kartṛtva (agency), karmatva (object-hood), dhātv-arthatva / kriyātva (action-hood) etc.[23]. He further says that, since it is otherwise not possible to perceive the kāraka relations they are perceived through the mind.

Similarly one can see a royal official (rāja-puruṣa) even when someone is just seeing the person (puruṣa). The royalty (rāja-saṃbandhitva = belonging to the royalty) if known earlier, is remembered in this case and thus the perception of rāja-puruṣa can be an instance of jñānalakṣaṇa-sannikarṣa. We may take another instance like: 'I saw the Prime Minister of India'. Here, it might be the case that I saw a person called Mr. Atal Bihari Vajpayee. However, I did not see Atal Bihari Vajpayee as a person, but as the Prime Minister of India. This perception is possible only through jñānalakṣaṇa-sannikarṣa, only if I have the prior knowledge of 'Premier-ship'. In fact, in some cases the transcendental cognitive relation is so strong that it suppresses the empirical sense object contact completely. We can take the example of 'I see my mother' or 'I see my teacher', where though the visual object is a person with a normal name and a form completely disappears from the sight and what is seen is 'the mother', 'the teacher', that is a 'feeling', a 'concept' heavily embedded with 'culture'. Therefore, such perceptual cognitive events can arise only through the mind that takes the 'given concept' into account. Needless to say that, such a perceptual cognitive structure would be different from sentential cognitive structure (śābdabodha), since the causal mechanism and the relation in the sentential cognitive structure will be totally different from that of the perceptual cognition.

Some scholars consider to accept the functional relation 'qualifier-ness what is connected with the sense organ' (indriya-sambandha-viśeṣaṇatā) for the above case of 'adhikaraṇa pratyakṣa'[24]. Adhikaraṇa, though is one amongst the kārakas it holds a special position as far as the perception of absence or inexistence (abhāva) is concerned. Naiyāyikas disagree with the Mīmāṃsakas to accept anupalabdhi as an independent pramāṇa for the perception of abhāva. They say one can see 'bhūtale ghaṭābhāvaḥ' by one's own 'eye' through the cognitive functional relation 'qualifier-ness that is connected with the sense organ'. The perception of samavāya an independent category in the system of Nyāya-Vaiśeṣika school of Indian philosophy is also seen by the same functional relation - opine some. Similarly adhikaraṇa being the very nature of bhūtala, can be seen by the same functional relation.

Śrīmad-Vallabhācārya accepts 'substratum' and 'super-stratum' (ādhāra- and ādheya) forming separate categories[25] and in that case the contact of eye with the object namely the ādhāra or ādheya would be possible through the self linking functional relation called svarūpa as accepted by the Vāllabha school of Vedānta. Goswāmī Puruṣottama Caraṇa appears to be suggesting the same in his Prasthāna Ratnākara.

Sententio-Perceptual Cognition :

Śabda is a distinct pramāṇa and any cognitive episode caused by śabda certainly is not an instance of perceptual cognitive event, for that is caused by a different cognitive means[26]. However, Advaitins cite an interesting situation claiming a cognitive episode caused by śabda to be perceptual. According to the Advaitins, the Upaniṣadic mahāvākya namely 'Tat tvam asi' [Thou art that] is a samāañdhikaraṇa type statement that establishes complete identity between the "individual self" with the "Supreme Self'. However, the point to underline is that this statement establishes the identity in a perceptible manner, as is the case in pratyabhijñā pratyakṣa, perceptual recognition of "so'yam devad0attaḥ" i.e., "this is the same Devadatta as that'. The sentence is used in the context of recognizing a person called Devadatta, when seen by two other persons, say A and B, who had seen him earlier at a different time and at a different place. Suppose A had forgotten Devadatta, and on seeing him, B recognizes him and reminds A, "this is the same Devadatta as that'. Essentially this is an identity statement like:

"that Devadatta = this Devadatta"

According to Advaitins, the identity is possible only if the 'this-ness' and 'that-ness' referring to spatiotemporal context is left out and only the cognitive referent Devadatta is retained. The recognition perception (pratyabhijñā pratyakṣa) is a fit case, according to Nyāya, of partly remembrance and partly perception (saṃskārendriyobhaya-janyam jñānam pratyabhijñā)[27]. However, the Advaitins believe in admitting immediate knowledge even from verbal testimony in this context. Dharmarājādvarīndra in his Vedāntaparibhāṣā goes on elaborating this point and rejects the contentions of the Naiyāyikas. He cites another example of "daśamas tvam asi" (Thou art the tenth one)[28]. According to Dharmarājādvarīndra, due to immediacy of an object, perception arises even from 'words'[29]. 'Tat tvam asi' (thou art that), the so called mahāvākya also causes perceptual / immediate (a-parokṣa) cognitive episode. This creates a peculiar situation for those who take up the epistemological issues seriously, for the verbal testimony causing the perceptual cognition goes beyond the convincing acceptability as far as the convention of pramāṇa-śāstra is concerned. The recognition perception (pratyabhijñā pratyakṣa) is a fit case of perceptual reconstruction where the cognitive apparatus (sāmagrī) for sentential cognition cause the perceptual cognition.

Goswāmī Puruṣottama argues in this context that that could either be an instance of sentential cognition or an instance perceptual cognition, but no sententio-perception as such is possible, for śabda can never be regarded as a cause for perceptual cognition. He says: In explaining the sentence "daśamas tvam asi', how can one get the cognitive episode of 'self' / 'I' (aham) from the word 'yuṣmat' (you)? Presentation of word-meaning through their signification function (vṛtti / śakti) of 'words' in the context of śābdabodha is the essential causal factor, and śabda can not present 'some / any meaning' that is not cognized from the word beforehand. The "invert secondary function" (vīparīta-lakṣaṇā) (even in some cases accepted) can not be accepted in this case, because it will lead to non-perceptual cognitive instance and that in turn will further lead to abandonment of ones' own position of establishing immediate knowledge[30]. According to Goswāmī Puruṣottamacara(a one has to accept in present case that though the eye etc. play as auxiliary factors that however do not cause a perceptual cognitive instance and thus no śabda can be accepted as causing perceptual cognition[31].

The story of "daśamas tvam asi" in fact can be explained by the 'mind-brain-gap' theory of modern science. According to this theory when we see, due to mind-brain-gap we see only partially because we are preoccupied with many things conditioned by society or burdened with belief, tradition and with past-experience. The brain and the sense-organs somehow put together a lot of information and the perception depends upon all aspects of this information. If we examine closely the present situation of "daśamas tvam asi" we may find the following psychological factors. It is possible that while crossing the stream, the current was very strong and everyone of the group of ten struggled to cross it. The fear that persisted in everyone's mind if someone is drowned. And that trauma is the cause of mind-brain-gap which played its role in mis-assessing the situation and when someone started to count the heads to confirm the number, he ended with nine only, forgetting to count to himself. One can overcome such traumatic situation only by consoling words of a trustworthy person and when such a person arrives and says the sentence "daśamas tvam asi" that causes a cognitive state that is as dependable as perception, which destroys the veil of ignorance completely about the 10th one. Similarly one gets the ātma-sākṣātkāra, perceptual cognition of 'self' through the Vedic statements like "tat tvam asi'. Thus, the Advaitins consider the cognitive episode arising from words to be perceptual. The explanation of the Advaitins in this case is certainly convincing and its nature of perceptibility is also appreciable. However, the question is - can we count for the 'mind-brain-gap' theory, which is more psychological, in the śāstras? Is there any reference to that in the śāstras also? If not, what harm will be there if it is incorporated into the śāstras?

Auditory Perception :

The followers of Nyāya-Vaiśeṣika schools of Indian philosophy almost authoritatively say— sound (śabda) is perceived by the 'ear' through the cognitive functional relation 'inherence' (samavāya), for śabda being a quality of space (ākāśa) and the space being delimited by the ear-canal is called the sense-organ 'ear'[32]. Physiologically speaking it appears to be little convincing. The question arises that how the sound is heard quickly and clearly in the direction of air and not so quickly or clearly from the opposite direction. If sound is an incorporeal quality (amūrta guṇa) of the all pervading ether (ākāśa), how can it be carried away by air? Moreover the other question is - how the contact of mind (being atomic) with an all-pervading entity (ākāśa), though being limited by ear canal, takes place? Is it partially or wholly? If partially then one has to accept parts of an all-pervading entity. Will it be acceptable? If wholly then ākāśa being all-pervading, a sound produced in anywhere in the space would be audible. To solve these problems there were two theories proposed in śāstras: (a) the wave theory of the sound (b) the reaching-out theory of auditory sense organ to the place of sound. The first theory is proposed and accepted in Nyāya-Vaiśeṣika school and the second in the Sāṃkhya-Vedānta schools. The Nyāya-Vaiśeṣika scholars think ear the auditory sense organ is passive (like the other sense organs of touch, smell and taste). The wave theory proposes that the initial sound produces another similar sound to it, which in turn produces a similar sound, the third one and the fourth one and so on and so forth in the manner of wave giving rise to another wave, till the last one is produced in the ear canal. It is the last sound in the series that is apprehended by the auditory organ. This is fine. However, there many questions remain unanswered that - why is the supposed series of sounds not produced in all directions and heard by everyone in the world? Why is the sound not able to cross the obstacles such as wall etc.? The Sāṃkhya and the Advaitins on the contrary accept the reaching-out theory. According to this theory, the ear is an active sense organ and they propose a typical vṛtti of the auditory sense like that of the visual sense organ eye, which goes out to its object. In this case also the same objection stands as - why the vṛtti of the auditory organ being non-corporeal (amūrta) cannot cross the material obstacles like wall as such ?

The Mīmāṃsakas especially Kumārila, however, contended that when a person speaks the air inside his body struck by his effort moves out of his mouth and this air is helped by conjunction and disjunction of his palate, tongue and throat etc. The extent the air goes is determined by its initial velocity, which depends on the intensity of the speaker's effort. When this air reaches the ear-canal it imparts a certain potency to the auditory organ, which produces certain modification (saṃskāra) in the latter. Different modifications are caused by different sounds and they are the cause of difference in sound perception. Sound is not heard everywhere because of obstacles such as wall etc. because those obstruct the passage of the air. When loud sounds are heard, some pressure is experienced upon the ear. This is caused by the air-current striking the ear with a great force. The initial velocity of the sound gradually decreases and hence the intensity of sound differs at different points of its passage till it disappears completely. That is why the sound is not heard everywhere. Thus the sequence, loudness, lowness etc. of the sound can fully be explained.

The theory that PR presents goes close to this theory. They also think that the air is the carrier of the sound and thus they consider 'contact' (as against 'inherence') is the functional relation between the sound and the auditory organ. According to them when the sound reaches the ear by the air, the eardrum being struck by the air enables to hear the sound through that contact. One does not experience the contact of the air because of the intensity of the apparatus of sound operation. However, if someone speaks close to the ear canal there is possibility of experiencing the contact of the mouth-air of the speaker as well. One listens the absence of sound through the ear itself but in that case, the functional relation will be ''qualifier-ness that is connected with sense organ'. Alternatively, the Goswāmī Puruṣttamacaraṇa suggest that the very nature of the sound itself may be regarded as the functional relation for sound perception that is carried by the air[33].

MM Ramavatar Sharma, a traditional scholar, who is the founder of a neo-school of philosophy namely

Paramārtha-darśanam also accepts the modern scientific theory that the sound is caused by air and it can not be the quality of the ether as proposed in the Nyāya-Vaiśeṣika school[34].

In modern science, B.V.A Rao, a professor in IIT, Madras, in his paper "A New Theory in Auditory Perception'[35] reports a hypothesis similar to that as has been proposed by Sāṃkhya-Advaita school of Indian philosophy, which has been put forward as recently as November 1983, in a prestigious journal (Hugo Zuccarelli, The New Scientist, 10th Nov. 1983, pp.438-440). It claims that the ear is an active organ, which transmits sounds and not just passive receiver. According to this theory, each ear in an individual produces a medium frequency sound wave (of about 1kHz). This is transmitted by the ear which itself acts like an antenna to propagate this energy. These sound waves and the incoming sound waves from external sources generate an interference pattern, which reaches the ears. This interference pattern, which depends on the direction of the incoming sound is analyzed by the cochlea - in a way analogous to an optical hologram - to locate the sound sources. The analysis, which is a pattern in the hair-cell in the organ of Corti recreating the interference pattern outside the ear, is recognized by the brain and so we are able to distinguish sounds of different tonal quality and also locate their sources. We do not hear the sound that is outside, but its recreated pattern inside. As is now known, each point in a hologram represents the amplitude and phase information of the original object in all its three

dimensional detail. The hypothesis of Zuccarelli is that the acoustic perception is achieved in a similar manner.
Concluding the discussion Prof. Rao remarks, and I quote:

> "It is an outstanding example of the potentiality of the views of ancient seers who have experienced the physical and physiological world in an objective and transcendental manner through intuitive insight. It is high time that scientists look into these aspects in an objective and sustained manner based on the insight contained in śāstras"[36].

In the conclusion, we only can re-ascertain this statement, for Goswāmī Puruṣuttamacaraṇa sets an example in this direction by looking at things differently as is evident in his Prasthāna Ratnākara. The sastrakaras had always an open mind to new ideas and it is for us to see everything in proper perspective.

Notes and References:

1. Sāmānya-lakṣaṇā-pratyāsatti, jñānalakṣaṇā-pratyāsatti, yogaja-pratyāsatti.
2. Eric A Lord, 1986, 'Sensory Perception Mechanisms', SENSE PERCEPTION IN SCIENCE AND ?(STRA, Ed. by T.M.Srinivasam and B. G. Shreelakshmi, Pub. Sri Sharada Trust, Sringeri.
3. Cf. 'viśadam pratyakṣam' Prameyakamalamārtaṇḍa, Nirnayasagar Press, 1941, p. 216.
4. 'avyavadhānena pramāṇāntara-nirapekṣatayā pratibhāsanam

vastuno'nubhavo vaiśadyam vijñānasya' ibid. p. 219.

5. 'na so'sti pratyayo loke yaś śabdānugamād ṛte / anubiddham iva jñānam sarvam śabdena bhāsate //' Vākya-Padīyam by Bhartṛhari.

6. Cf. 'na śabda-pramāṇakatayā śābdam, api tu śabde jātam śābdam, śabdaś cāsya viṣayatvena janako'rtha-tādātmyāt'. Nyāyavārttika-Tātparya-Ṭīkā on NSBh-Vā. 1.1.4, ND. p. 109-110.

7. We need not discuss the identity theory here because it is beyond the scope of this paper.

8. 'Pratyakṣam kalpanāpoḍham abhrāntam' Nyāya-Bindu 1.4.

9. H.S.Subrahmanyam, 1986, 'Physiology and Psychology of Perception', SENSE PERCEPTION IN SCIENCE AND ŚĀSTRA, Ed. By T. M. Srinivasam and B. G. Shreelakshmi, Pub. Sri Sharada Trust, Sringeri. p.70.

10. In śāstras also we find references to the saying 'anyatramanā abhūvam nāham kiñcid avediṣam', which essentially talk of the role of 'attention' in perception.

11. J. N. Mohanty, 1992, Reason and Tradition in Indian Thought (An Essay on the Nature of India Philosophical Thinking) Clarendon Press, Oxford p. 42.

12. Prasthāna Ratnākara (PR), ed. By Goswamī Shyām Manohar, Kolhapur, VS. 2056. p.53.

13. J. N. Mohanty, 1992: op cit. p. 240.

14. Cf. 'ātmā manasā saṃyujyate, mana indriyeṇa, indriyam artheneti' NS-B. ND. p. 94

15. Cf. Matilal, B. K. 1990, The Word and the World: India's Contribution to the Study of Language. Oxford University

Press. Oxford / New York, p. 51. and see my paper Dash, A, 1999, Śābdabodha, Cognitive Priority and the Odd Stories on PrakārataYCvāda & Saṃsargatāvāda, Journal of Indian Philosophy, Vol. 27, No. 4. Kluwer Academic Publishers, Dordrecht, The Netherlands, pp. 17-41.

16. This we call perceptual functional relation, because sannikaraṣa is a relation between the 'instrument' i.e., I or the "means of perception" with the 'object' at the same time it is a 'function' as well, because without the "function' of the instrument no perceptual cognition can be generated. The term sannikarṣa takes both these responsibilities and therefore, we call it a "perceptual functional relation'.

17. cf. 'vyāpāravad asādhāraṇa-kāraṇam karaṇam', i.e., the extraordinary cause, engaged in operation, is the instrumental cause.

18. cf. 'dvividhaḥ saṃbandhaḥ saṃyogaḥ samavāyaś ca' Tarka-Bhāṣā by Keśava Miśra (TB) P. 28.

19. cf. 'pratyakṣa-viśeṣe sannikarṣa-viśeṣo hetur anugata eva saṃyogena dravya-grahaḥ, saṃyukta-samavāyena rūpa-karmaṇor grahaṇam, saṃyukta-samaveta-samavāyena rūpatva-deḥ, samavāyena śabdasya, samaveta-samavāyena śabdatva-deḥ'. TC. Vol. I. pp. 572-574. See also TS. p. 31, TB. p. 34-36, KM. (kārikās : 59-62), NS-V. p. 94-95.

20. Cf. 'indriya-sambaddha-viśeṣaṇatayā samavāya-ghaṭābhāva-der yogya-sannikarṣād eva graho na sannikarṣamātrāt' TC. Vol. I. pp. 575-576.

21. Matilal, B.K. translates the jñānalakṣaṇā-pratyāsatti as

"presentation through revived memory'. See more on this issue in Matilal 1986, PERCEPTION (An Essay on Classical Indian Theories of Knowledge), Clarendon Press, OXFORD 286-291.

22. See Bhattacharya, Gopika Mohan, 1977, Śābdabodha as a separate type of Pramāṇa, Journal of Indian Philosophy, Vol. 5, Ed. B.K.Matilal, D. Reidel Publishing Company, Dordrecht Holland, pp. 73-84 73-84, for the details on jñānalakṣaṇa-sannikarṣa.

23. 'api ca kriyāyāḥ kṛter vā samavāyitvam kartṛtvam, para-samaveta-kriyā-phala-śālitvam karaṇa-vyāpāra-viṣaya-tvam vā karmmatvam, dhātvarthatvam anyad vā kriyātvam idam aham jāañmīti vyavasāye na bhāsate tad-bodhakendri-ya-sannikarṣābhāvāt kintv idam viṣayaka-jñānatva-viśiṣṭasya jñānasya vaiśiṣṭyam ātmani bhāsate na ca svaprakāśe vyavasāye tādṛśam svasya vaiśiṣṭyam bhāsitum arhati, púrvvam viśeṣaṇasya tasyājñāañt tasmāt idam aham jāañmīti na vyavasāyaḥ kintv anuvyavasāyaḥ' TC. Vol. I. , pp. 795-796.

24. Prof. D. Prahlladachar, Hon Vice chancellor of Rastriya Sanskrit Vidyapeetham, Tirupati suggested me this view over a personal discussion on this issue.

25. 'ādhārādheya-bhāvaś ca meyāntaram' Nyāya-Līlāvatī, (1st Part) ed. with Śāmbhavī and Candrakāntī by Rajendra Prasad Sharma, Department of Philosophy, Rajasthan University, Jaipur, 1996. p. 34.

26. Goswami Puruṣottama presents the idea in a very interesting manner saying that "difference of pramāṇa is established

by difference of functional relations of cognitive means; and in that case difference of cognitive structure alone is not necessarily required'. To quote him 'vṛttivaijātyasya pramāṇa-vaijātyopapādakatve phala-vaijātyasya tad-aniyatatvāt' PR. p. 143.

27. It may be noted here that pratyabhijñā is a verity of perception and the definition itself counts for 'memory input' in the case of perception recognition. This no doubt is direct reference to the reconstruction theory of modern science. Prtyabhjñā has been developed into a full-fledged school of Philosophy by Abhinavagupta. The perceptual reconstruction due to 'memory input' into perception might be the very foundation of their thought. More in depth study in the field is required in this direction.

The above definition of pratyabhijñā is quoted by Prof. Badarinatha Shukla, (Hindi Comm.) on Tarkabhāṣā, Motilal Banarasidass, Delhi. (Reprint 2000), p. 23.

28. The story is briefly and nicely narrated by Svami Madhavananda in his translation of Vedānta Paribhāṣā and I quote him in his languages. 'Ten rustics swam across a stream, and one of them counted their number to see if all had crossed. To their dismay, one was found missing. Then everyone took his turn at counting, but the result was the same. So they began to lament, when a kind passer-by inquired what it was all about. On being told what has happened, he readily understood the situation, and asked one of them to count again. When the man stopped at nine, the new-comer said to him 'You are

the tenth man'. This he repeated with the rest of them. Then they saw their mistake and went away happy".

29. 'daśamas tvam asi ityādau sannikṛṣṭa-viṣaye śabdād apy aparokṣa-jñanābhyupagamāt'; also 'so "yam devadattaḥ' iti vākyajanya-jñānasya pratyakṣatvam. Evam "tat tvam asi" ityādivākyajanyajñānasyāpi". Vedānta Paribhāṣā, Tr. By Svami Madhavananda, Advaita Ashram, Calcutta, 1989, p. 19, p. 33.

30. "yat tu "daśamas tvam asi" iti vākyād "daśamo'ham" ity ākārakam pratyakṣam kecid aṅgīcakruḥ. Tad api na. śabde yuṣmat pada-prayogeṇa tajjanye jñāne 'aham' ity ākrasya vaktum aśakyatvāt. padajanyopasthiteḥ śābdabodhe tantratvāt yuṣmat-padena svārtha-viruddha-pratyaktvasya upasthāpayitum aśakyatvāt. anyathā atiprasaṅgāpatteḥ. na ca tatra vīparīta-lakṣaṇayaiva upasthitiḥ iti yuktam. Tathā sati parokṣa-jñānasyaiva āpattyā pratijñāvādhāt". PR. p.123.

31. 'śabde cakṣurādisahakāritvasya parokṣavṛttijanakatvasya ca niścayena śabdāt pratyakṣasya sarvathā anupapannatvāt ca' PR. p. 143.

32. 'karṇa-śaṣkuly-avacchinnam nabhaḥ śrotram'. However, Raghunātha Śīromaṇi defines śrotram as 'karṇa-śaṣkulī-vīvarāvacchinna-Īśvara eva' Padārthatattvanirūpaṇa, ed. by Bisvambhara Pahi et al. Department of Philosophy, Rajasthan University, Jaipur. 1997. p. 3.

33. Cf. 'śrotreṇa śabda-grahaṇe saṃyoga eva vyāpāraḥ. śabdo hi vāyunā upanītaḥ śrotraparyantam yadā āyāti tadā śrotrāvacchinna tvacā vāhaka-vāyusaṃyoge tam eva saṃyogam vyāpārayitvā śrotrendriyeṇa śabdo gṛhyate.

śabda-grāhaka-sāmagrīprābalyena saṃyogāśrayasya vāyoḥ apratyakṣatvāt na tasya saṃyogasya grahaṇam. Saṃyogagrahakasāmagrīprābalye tu saṃyogasyāpi grahaṇam. Yathā karṇābhyarṇam āgatasya vārtāśravaṇe vaktṛmukhavāyusaṃyogasya. Abhāve viśeṣaṇateva. Śabdagrahe saṃyukta-vāyūḍha-śabda-svarūpam eva vā dvāram'. PR. p.138.

34. Cf. 'punar anyadā devadattaḥ paramārthajñam sukratum upāste. Pṛcchati cainam - bhagavan ! śabdaḥ kasya guṇaḥ. tau ha mantrayete. Vāyumaṇḍalād bhūmiveṣṭanād ūrdhvam candra-sūryādyaḥ. vāyumaṇḍale punar meghāḥ saṃplavante. Meghebhyo vaidyutaḥ prakāśaḥ pṛthivīm āgacchati. Tad anantaram stanitam śrotravidāraṇam ākarṇyate. Prakāśamatram tu sūryādiṣūpalabhyate na saṃbhavann api tatratyaḥ ko'pi śabdo'tra śrūyate. Tad etad gamayati vāyavīyāañm aṇūañm kampe śabdaśravaṇam. Tad abhāve śabdāśravaṇam. Ākāśas tu prakāśa-dharmā. Ittham mantrayamāṇau tau kañcid vaijñānikam upagamya tam eva viṣayam pṛcchataḥ. Sa ca tau vartulam pātram darśayati. Tasmiṃś ca ghaṇṭikām vādayati. Sarve tac chabdam ākarṇayanti. Atha vaijñāniko váyuniḥsāraṇa-yantreṇa pātram prāyo nirmārutam karoti. Punar asau ghaṇṭikām vādayati. Na kaś cic cchabdam śṛṇoti. Parīkṣāvasāne śabdasya vāyusaṃbandham sphuṭam pratyeti devadattaḥ. saharṣaś ca sukratum vadati. Prāmādikam kaṇabhakṣādīañm vacanam śabdaguṇam ākāśam iti''. Paramārthadarśanam, Motilal Banarasidass Pub. Delhi. 1994. p.7-8.

35. See Sense Perception in Science and Śāstra, op cit. pp.86-89.

36. Ibid. p.89.

……+……

चर्चा

डॉ. अच्युतानन्द दास

के.ई.देवनाथन् : In the case of ‘‘पर्वते वह्नि:’’ there is a problem in Nyāya theory. Because what is the Sambandha between Parvata and Vahni which is not included in six Sambandha. Then you said that there is a ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्ति there after you said अधिकरणता is ...

डी.प्रह्लादाचार : तेषाम् अभिप्राय: एवं वर्तते. ‘‘पर्वते वह्नि:’’ ‘‘पर्वतो वह्निमान्’’ इति प्रत्यक्षयो: वैलक्षण्यम् अस्ति. तत्र को विशेष: ? कथं वैलक्षण्यम्, तत्र सामग्र्यां को विशेष:, कुतो वा कार्यवैलक्षण्यं जातम् इति अन्य: प्रश्न:. अपरस्तु तै: उच्यते, अधिकरणता यदा प्रत्यक्षीक्रियते, अधिकरणताप्रत्यक्षन्तु ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्या भवति. तत्र तावद् सन्निकर्षो ज्ञानलक्षणा स्वीक्रियते स तु संयोगविषये न. पर्वत-वह्न्यो: य: संयोग: तद्विषये न. अधिकरणताप्रत्यक्षं प्रति ...

बलिराम शुक्ल : अधिकरणताया: ज्ञानं तस्मिन् प्रत्यक्षे कथं भवति इति तेषां प्रश्न:.

के.ई.देवानाथन् : मया तथैव स्वीकृतम्. ‘‘पर्वते वह्नि:’’ इत्यस्मिन् ज्ञाने सम्बन्ध: क: इति प्रथमत: प्रश्न: कृत:. ‘‘पर्वते वह्नि:’’ ‘‘पर्वतो वह्निमान्’’ इत्यत्र सामग्रीवैलक्षण्यम् कथम् इति प्रश्न:. सामग्रीवैलक्षण्यं तावत् सम्बन्धवैलक्षण्यम् सन्निकर्षवैलक्ष-

ण्यम् इति वक्तव्यम्. इति प्रथमतः प्रश्नः कृतः. तदनन्तरं तत्र एवम् उक्तम् अस्ति, तत्र तावद् एकत्र आधेयतासम्बन्धो भवति इत्यादिकन्तु लिखितम् अस्ति. तत्र कः क्लेशः भवताम् इति तु मया स्पष्टं न ज्ञायते. उभयमपि प्रत्यक्षं भवति. एकत्र पर्वतः विशेषणं भवति, अपरत्र वह्निः विशेषणं भवति. इदञ्च विशिष्ट-वैशिष्ट्यज्ञानम्. अत्रतु अधिकरणतायाः प्रवेशः किमर्थम् आनीतः इति न ज्ञायते. आधेयतायाः प्रवेशस्तु अस्ति.

अच्युतानन्द दास : ''पर्वते वह्निः'' इत्यस्य प्रत्यक्षं भवति. तत्र पर्वतः-अधिकरणता-वह्निः इति त्रयः पदार्थाः सन्ति. एकः सम्बन्धः पदार्थौ अन्ये ...

के.ई.देवानाथन् : नहि. पर्वतः, आधेयता वह्निः च.

डी. प्रह्लादाचार : तेषां आशयः एवं वक्तुं शक्यते. ''पर्वतो वह्निमान्'' इति एकं प्रत्यक्षम्. ''पर्वते वह्निः'' इत्यपि प्रत्यक्षम् अस्ति. अनयोः प्रत्यक्षयोः एतैः उक्तरीत्या वैलक्षण्यन्तु इदं भवति. एकं प्रत्यक्षं पर्वतविशेष्यकं वह्निप्रकारकम्. अन्यच्च प्रत्यक्षं वह्निविशेष्यक-पर्वतप्रकारकम्. एवञ्च प्रकार-विशेष्यभागे किञ्चिद् वैलक्षण्यम् अस्ति. तावदेव वैलक्षण्यम्. परन्तु ...

के.ई.देवनाथन् : ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्तिविषये भवद्भिः उक्तं ''स्मृतिः भवति'' इति. ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्तिः स्मृतिरेव भवति इति न निर्बन्धः.

प्रद्योतकुमार : प्रायशः तत् स्मृतिरेव.

डी.प्रह्लादाचार : सतु अन्यो विषयः.

के.ई.देवनाथन् : यत्रतु प्रथमतो विशेषणज्ञानं जातम्, इन्द्रियसन्निकर्षः च वर्तते तत्रतु विशिष्टज्ञानं यद् भवति तत्तु विशेषणज्ञानात्मकानुभवेन ज्ञानलक्षणाख्येन प्रत्यासत्त्यैव भवति.

विन्ध्येश्वरी प्रसाद : तर्हि ''ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम्'' इति कथं सेत्स्यति ? स्मृतिस्तु ज्ञानमेव. तर्हि प्रमाणाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम् एतेन भाव्यम् !

बलिराम शुक्ल : तेषाम् अयम् आशयो : यद् ज्ञानाकरणकं तत्र ज्ञानलक्षणाया: करणत्वम् अस्ति वा ?

प्रद्योतकुमार : तत्र व्यापारत्वम् अस्ति नतु करणत्वम्.

के.ई.देवनाथन् : करणन्तु इन्द्रियं सन्निकर्षो ... परन्तु सन्निकर्षस्तु... तत्र तु ज्ञानमेव सन्निकर्षो भवति. पुन:...

प्रद्योतकुमार : If I understood him correctly he has a couple of things to say. One, where do we stand in our understanding of the scientific explanation and the Śāstrik explanation of the same phenomena? Note that in science we are discussing a deferent type of perception and in Śāstra deferent type of perception that is not the question. The same given perception is understood or explained differently by the scientists and by our Śāstrakāras. And there comes a problem. Suppose there are two different sorts of explanations then we have to consider what is the relationship between them. Is it that one enriches the other? One cancels the other? What can be incorporated? We are speaking of the development of our Śāstras. And one test of the validity of Śāstra is that it should be able to incorporate, without contradiction, whatever the new findings are there in the sciences. In this connection he has refer to some conferences where scientists and philosophers really conversed. Here, first point to remember is this that only such discussion will become fruitful if we are addressing to the similar problem or trying to explain the similar phenomena. He has given certain examples that are very common phenomenon. How do we perceive a particuler object? How deferently perceive object? Here he has brought some new scientific theories and aproaches. E.g. he has given Śabdāparokṣtva theory on the one hand and the brain-mind gape theory on other. Now, what happens, most of the things that are said by the scientists, we don't understand; and many things that we the philosopher say, they don't understand. Since I have been involved in so many such discussions, I have realized that we are not trained scientists and they, the scientists, are not trained philosophers. They go on speaking in their own way and we on our own. Since they are not trained philosophers, they are not being able to speak in language which we do understand. E.g. they use such expressions as Mind-Brain dichotomy. This is neither science nor philosophy. No scientist admits mind and brain separately. Mind in a European tradition invariably means the self. Only one reference to mind as a sense organ was there and their comment was : Mind as a sense organ is a misnomer. That is a scientific present theory. This is one point. What are you to do ? My suggestion is this. There are lots of scientific account of standard phenomena available. We should tray to understand them and reinterpret them in our own Śāstrik language. But the things that are being said now a days is not the same thing. E.g. there is a standard physics of sound, there is a standard physics of light. We should go by that and note some computer scientist and neurologist saying that. The neurologists are not attending to the problem that we are attending here. E.g. we are attending to this problem, Śabdāparokṣatva-vāda. Meaning there by, we go by two types of experiences. One which is indirect, generated by the Śabda and one which is direct which is called perceptual. Now we are concern with the problem whether there is any such instance where we have reasons to believe that we have perceptual cognition. Though language plays the fundamental role. These type of question is not a scientific questions at all. Scientific question is a different kind of question. Namely how the sound is transmitted? And in respect of which he has brought a very beautiful theory which is to be pondered very carefully. So far we are thinking about sense organ as a receptors only but what he is suggesting with reference to some scientists that Indriyas are both receptor and transmitter at the same time. Now to say that is to understand that our understanding of the auditory sense organ is much grosser then that of scientists. If there is a theory that it is both the transmitter and a receptor then they must be having a deeper and complex theory of the structure and function of what we call sense organ. Similarly on many occasions we have a complete different theory of several Indriya. Now for the scientists the Indriyas are most ... and the nerve cells. But we the Naiyāyikas know very well that these are only इन्द्रियस्थानं नतु इन्द्रियम्. इन्द्रियन्तु अतीन्द्रियम्, अप्रत्यक्षम्. So, unless we correlate these things it is not possible.

I would like to give one other suggestion to Achyutanand. While discussing all these things one thing you are not bringing in to. Two deferent models of Viśiṣta Jñāna. Earlier also we have referred only to Viśiṣta Jñāna. But there are various levels of Viśiṣta Jñāna. 1. Vaiśiṣṭyāvagāhi Jñāna 2. Viṣiṣta-vaiśiṣṭyāvagāhi Jñāna and so on. This is one thing. And another, two models, how we can have cognition of deferent things at the same time. One is you know "Khale kapota-nyāyaḥ" and the other is "विशेष्ये विशेषणं तत्रापि च विशेषणान्तरम्. So, if you have introduced these I think you can make some ...

अम्बिकादत्त शर्मा : While quoting Hugo Zuccarelli's view you have written that we do not here the sound that is outside but its reacted pattern inside. If it is so then what will be the explanation of Śabdavedhi-bāṇa. If it is so then Śabdavedhi-bāṇa will be targeted towards one's head!

अच्युतानन्द दास : The importance of my point that I didn't discuss here was if we rethink on the Advaita Vedānta pattern, अन्त:करणावच्छिन्न-वृत्तिचैतन्यम् एवं विषयचैतन्यम् इति अनयोः एकीकरणम् इति ते वदन्ति. They become one as they say. Perhaps modern scientific experiment goes to all most in a deferent way to the same thing i.e. the sound directly produced there. That is what we do not hear. We don't hear the sound which is being produced say one kilohertz or something. Something in an identical situation it recreates. And because of that only Śabda can capture the Śabda if I say very ...

गो. श्या. म. : That is why I again and again say Bhavati and Anu-bhavati. Just as Vadati and Anu-vadati. So, yad bahir bhavati tad antar anubhavati. Its a recreation but in a cognitive manner. Our mind recreates what is being happening outside as an external object. ✓

प्रद्योतकुमार : The perception is always a reconstructed element.

अच्युतानन्द दास : Yes. That was my main point.

प्रद्योतकुमार : In perception what you all the time speak of was perception. We do not draw distinction between sensation and perception. But ... and every perception incorporates a reconstructional element.

अच्युतानन्द दास : That was the basic question from the beginning to the end and it was the reconstruction theory ....

वशिष्ठनारायण झा : In addition to the suggestions made by

Prof. Mukhopadhyay I have some further suggestions to be made. Now, when I say "this is a book" I have seen and I have said so. Vāgavyavhāra is preceded by perception. We should not come from Vāk to perception analysis. We should see that how the perception has been verbalized in language. All problems arise because of this. We are searching Adhikaraṇatā, where is Adhikaraṇatā? Had I not seen Adhikaraṇatā I would not have made this as Adhikaraṇa. So I had seen Adhikaraṇatā there and therefore I had made this as Adhikaraṇa. Now I have seen Adhikaraṇatā. Now what that Adhikaraṇatā consists of? I do not know. For that more and more information are necessary. I have seen this a book. But this book is blue. I have not said that the book is blue. So there are many information which consist of ... But once I have said "this is a book" I have identified there is bookness here. But what that bookness consists of requires list of information. And therefore if I say "this is a water", scientist will say "this is H_2O". Science is giving many more information, no doubt, they are to be incorporated in the structure. That is perfectly all right. And the next thing to be done there whether ... You see the systemes are not so loose. When you say "ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम्" each element has been defined. What is Jṅāna? This Jṅāna is not the reconstruction that you think of is in the mind of Naiyāyika. So what we are doing is, we are taking a concept outside and trying to read that concept in the language that our Śāstra uses. It should be avoided. My only request is that whether you have to find fault that where there is a discrepancy within the system given the definition of a particular concept. So given the concept if there is a discrepancy that has to be pointed out. That can be improved upon. There is always chance. There the science will come to help us making more and more information to make more and more ...

……+……

postscript

A Response to the Debate on "Infrequently Asked Questions on Perception ..":

Achyutānanda Dash

In the very beginning, it will be worthwhile to summarize the points raised in the discussion by the scholars on my paper. They are as follows:

1) First of all the question was raised on the nature of relation between the 'mountain' (parvata) and 'fire' (vahni) in case of the perceptual cognitive instance of: (A) Parvato vahnimān vs (B) Parvate vahniḥ.

2) The next question comes on the mode of representation

of the same relation to the mind or in the cognitive structure of the perceptual cognition. The mode of presentation, I mean here is the sannikarṣa or what I call 'functional relation' in my paper. It may be noted here that the objective relation is saṃyoga in case of (A) and it is ādheyatā or adhikaraṇatā in case of (B).

3) There was no problem in perceiving the objective relation namely 'saṃyoga' (contact) as discussed in the paper, through the functional relation (sannikarṣa) viz. inherence in what is connected (saṃyukta-samavāya). And therefore, no question was raised on the mode of presentation of the functional relation in case of (A).

4) However the problem rose on the mode of representation of ādheyatā or adhikaraṇatā in the case of (B). There is no clear-cut explanation of this type situation in the tradition. No I do not want to say that the tradition had not thought over this type of cognitive situation, on the contrary it has every scope of solving every problem in its framework. It is left for us how to tackle it. My suggestion for the present problem was to take resort to jñānalakṣaṇā-pratyāsatti. And this was alarming to some of the participating scholars, possibly simply because this case was not directly taken up as a perceptual cognitive instance in the tradition. Though it appeared that Prof. Prahlladachar and Prof. Baliram Shukla wanted to give an explanation to the situation. But, they are overpowered by the others and finally the issued was diverted to other direction.

5) In this context the 'mind-brain-gap-theory' of the modern

science came up for discussion, and finally Prof. Pradyota Kumar Mukhopadhya remarks and I quote "The perception is always a reconstructed element" to which I agreed. Here, I would like to draw the attention of the scholars again to the reconstruction theory of the modern scientists as remarked by H. S. Subrahmanyam:

"We often begin with simple perception and then work backwards to reconstruct the full perception out of its elements. When we look we are not looking with our eyes, we are looking with our mind (past experience). Perception is not passive. It is an active construction. It is multidisciplinary - physical, physiological, psychological and metaphysical."[1]

H. S. Subrahmanyam very clearly states that we start with 'simple perception' and then go further to reconstructing 'full perception' through the mind (past experience).

6) Couple of other issues were also raised during the discussion and they are (i) the śabdāparokṣa - theory and (ii) the validity of the definition of pratyakṣa i.e. "jñānākaraṇakam jñānam" as given by Gaṅgeśa in his magnum opus - Tattvavintāmaṇi.

All these issues, if collectively taken for reassessment, then there can be seen an ekasūtratā at a point where the primacy of perception is challenged and possibly Indian tradition as a whole do not agree with. The Vaiyākaraṇas and the Vāllabhas as has been pointed out in my paper do not accept the primacy of perception, whereas the others including the nāstikas (Buddhists, Jains and Cārvākas) accept its primacy. Intellectually speaking it hardly matters, which cognitive instance is primary one and which is the secondary one. However, as far as the epistemology is concerned - (i) the elements of a cognitive instance (sāmagrī), (ii) the objective relations between the elements, (iii) the causal factors i.e. the kāraṇas, (iv) the mode of representation or the functional relations (sannikarṣa), and finally (v) the cognitive structure - are the factors of perception, which cannot be ignored. Moreover, the issue throughout the tradition we find being hotly debated that: which perception is the 'real perception'? In other words, technically speaking, whether (i) the non-linguistic and non-conceptual perception i.e. nirvikalpaka pratyakṣa is the 'real perception' or (ii) the linguistic, conceptual and thus judgmental perception i.e. savikalpaka pratyakṣa is the 'real perception' or (iii) both are true and there is a hierarchy in between them? These are the three broad spectrums of the theory of perception in Indian tradition and to my mind the modern theory of perception can be accommodated in these three as well. Almost all the schools of Indian epistemology play their game in this triangular field with the help of the above five factors for establishing the distinct identity of their respective schools from the others.

However, for the sake of re-treatment of the traditional viewpoints, we need to look into them afresh from a different dimension. The traditional controversy is centered on the primacy / dependency / hierarchy of nirvikalpaka pratyakṣa vs savikalpaka-pratyakṣa. I do understand the significance of the traditional approach for the assessment of the perceptual cognitive instance, but for the sake of its reassessment what I feel is, we need to start with **'simple perception'** to **'complex perception'.** When I say 'simple perception', I mean a simple perceptual cognitive instance arising out of minimum factors based on sense-object-contact (SOC) = indriya-artha-sannikarṣa. The scientists of course say that one has to start with 'simple perception' to reconstruct the 'full perception' and possibly they also mean to start with the minimum factors of SOC and then to go on to accommodate as many factors as required with a multidisciplinary approach - physical, physiological, psychological and metaphysical so on and so forth - as the situation may demand and that will end in a 'complex perceptual cognitive event' which is called a 'reconstructed element'.

In the tradition, whenever we look into the six perceptual functional relations (ṣaḍvidha-sannikarṣa)[2] we can say that these are the six instances of simple perceptions, since there is one-to-one SOC that give rise to 'a single-object-perceptual-cognitive-event'. For instance:

(i) When we have the perception of a substantial element like 'a jar' through our 'eyes', the perceptual instrument, with the help of the perceptual functional relation called saṃyoga (contact), it is an instance of 'simple perceptual event' where the factors involved are: (a) 'eye', the only instrument, (b) 'jar', the only object and (c) saṃyoga (contact), the only perceptual functional relation (sannikarṣa).

(ii) In the similar manner when we have the perception of the colour etc. of a 'blue jar', the factors involved are: (a) the 'eye' i.e. the instrument, (b) the colour etc. ('blue' in present case) i.e. the object and (c) saṃyukta-samavāya (inherence in what is connected) i.e. the only functional relation and that gives rise to the 'simple perception of the color, blue in present case, that resides in a substantial element like the jar etc. Through this functional relation we can perceive the elements like guṇa, jāti and kriyā or karma famous categories in the Nyāya-Vaiśeṣika system. It may further be noted here that though the sannikarṣa (the functional relation) is a complex one, still technically speaking the perceptual event is a simple one.

(iii) In the same manner we can see the generic property of a particular color like 'blue-ness' in the 'blue-color' through the functional relation called 'saṃyukta-samaveta-samavāya' (inherence which is inherent in what is connected).

(iv) The śabda is perceived through the functional relation called 'samavāya' (inherence).

(v) The śabdatva-jāti is perceived through the functional relation namely samaveta-samavāya (inherence in what is inherent) in Nyāya-Vaiśeṣika system.

(vi) The absence (abhāva) of a jar etc. is perceived through the functional relation called viśeṣaṇatā or saṃyukta-viśeaṇatā (cognitive qualifier-ness in what is connected).

These six cases of perceptual cognitive instances, in my view, are the instances of 'simple perception', because each of these not only requires minimum factors of the cognitive events but also it follows straight SOC mechanism without inviting other inputs like physiological, psychological and metaphysical etc. required for 'full perception'. In other words, the single object perception as narrated above yields a 'simple perceptual event' whereas multiplicity of factors those include the five factors stated above and the others namely the psychological, social, sociological, cultural, metaphysical and some time transcendental factors as per the demand of the situation together give rise to a **'complex perception'.** It may be noted here that loka-vyavahāra is the empirical result of perception and the so-called 'simple perception' is hardly useful for loka-vyavahāra. When I took up the instances of (A) Parvato vahnimān vs (B) Parvate vahniḥ for examining the perceptual cognitive mechanism and cognitive structures, the question came up for defining the mode of representation of the perceptual functional relation (sannikarṣa) for grasping / seeing ādheyatā or adhikaraṇatā. In fact what was in my mind was to address the 'complex perceptual instances', which I did not spell out openly. The tradition is almost mum on this issue. Multiple examples can be cited on the complex perceptual events and the questions will be only on the mode of representation of the cognitive functional relations, nothing else. What I mean is it not necessarily on grasping the entities concerned for perception, because, the tradition is very clear on that aspect. The problem arises not only on the mode of the representation of the 'cognitive functional relations' but also making the 'entities' and the 'relations' associated into a single integrated whole. The satisfactory way out will be available if and only if we take the modern scientific theory of 'reconstruction' into account. Now the problem in the traditions will be - can we count for the justifiability of such perceptual events being well within in the framework of the tradition? To me, the reply is 'Yes', only if we take / understand / interpret the tradition in a broad prospective. I, therefore, had suggested to count for 'jñānalakṣaṇā-pratyāsatti' as the perceptual functional relation for seeing 'ādheyatā / adhikaraṇatā' for the 'complex perceptual situation' like (B). Well it is left for scholars to accept it or not; or try to suggest other mode of representation. Well someone may suggest a seventh sannikarṣa if he or she accepts 'ādheyatā' or 'adhikaraṇatā' as an independent padārtha over and above the famous seven padārthas accepted in Nyāya-Vaiśeṣika system. The question will remain on 'how to integrate' the entities and the relations in a sequence to make an 'integrated whole' of the perceptual cognitive instance? And here I feel we need to go for the 'reconstruction theory'.

Now let us think on the 'reconstruction theory' of perception and its justifiability in the traditional framework. Reconstruction of perception would mean 'SOC + recollection of past experience'. Recollection of past experience certainly means input from mental repository, which is linguistic as well as conceptual and judgmental. If this is accepted then the reconstruction theory of perception is nothing but another name for 'savikalpaka-pratyakṣa', that is acceptable to most of the traditional schools of Indian epistemology. The main problem in Indian tradition is : what to be counted for the 'real perception'? Whether it is the nirvikalpaka-pratyakṣa or the savikalpaka-pratyakṣa We have already pointed out that there will be only three possibilities and whole the tradition is entangled with the problems rising within those only. To my mind, it all started probably with the Nyāya-sūtra of Gotama when he defines pratyakṣa as: "indriyārtha-sannikarṣotpannam jñānam avyapadeśyam avybhicāri vyavasāyātmakam pratyakṣam" (NS. 1.1.4). Though there are a lot of controversies found in interpreting this sūtra, scholars are of the opinion that this sūtra defines both, nirvikalpaka as well as savikalpaka perception. The sūtra ending in avyapadeśyam defines the nirvikalpakam whereas along with the rest of the words in the sūtra defines the savikalpakam. If the sūtra is taken to be framed only with the terms as indriyārtha-sannikarṣotpannam jñānam avyapadeśyam, it would mean 'the cognitive instance which is non-linguistic and which is caused by SOC is called perception, and it will be 'real perception' or 'pure perception'. The 'reality' or 'purity' of perception was more emphasized in the Buddhist tradition taking only SOC into account[3]. For instance Diṅnāga defines pratyakṣa in terms of "sva-saṃvin-nirvikalpakam pratyakṣam **śuddha-vastujam**"[4]. Even in Mīmāṃsā tradition, the purity of perception is emphasized. Kumārila Bhaṭṭa says:

"asti hy ālocanājñānam prathamam nirvikalpakam /
Bālamūkādi-vijñāna-sadṛśam **śuddha-vastujam** //" (Kā. 112)

It may be noted here that Kumārila and Diṅnāga are using the same term **'śuddha-vastujam'** for defining pratyakṣam (perceptual cognition), and does it not say in volume on the perceptual cognitive instance and its mechanism? What is **'śuddha-vastujam'**? Many in the tradition define the perception in the same tone. Without going into multiplying the citations, it will be just enough to say that the 'purity' (śuddhatā) of perception was emphasized on account of its 'true nature' i.e. SOC, that would distinguish it from other cognitive instances like inference, or analogous, or verbal testimony etc. So far so good, however, the question arises that: does it make any sense apart from upholding a technical point? Is it not the case that a cognitive instance has its culmination in loka-vyavahāra and thereby its validity is established? Well, without going into the validity aspect at this stage let us concentrate only on the 'purity' **(śuddhatā)** of perception. It seems that throughout the tradition starting from Sūtrakāra Gotama to the trend of Navya-Nyāya almost everyone is struggling to uphold its so-called 'purity' and distinct identity. If we take the purity of perception is established only on SOC (indriyārthasannikarṣotpannam jñānam) then essentially it will be an instance of 'indeterminate perceptual cognition' (nirvikalpakam jñānam) and it will be non-conceptual and non-linguistic. As and when the object of the indeterminate perceptual cognitive instance (i.e. the nirvikalpakam jñānam) is added with 'a name' and its 'generic property' then only it becomes the determinate perceptual cognitive instance (i.e. the savikalpakam jñānam), which becomes vyavahārāṅga. Up to this point everyone seems to be agreeing within the tradition. However, the Buddhists, who accept the indeterminate perceptual cognition (i.e. the nirvikalpakam pratyakṣa) alone as the 'real perception', emphatically say that 'the name' (nāma) and 'the generic property' (jāti) etc. do not come under the purview of SOC alone, and the cognitive mechanism is extended beyond that. To them whatsoever falls beyond the purview of SOC, that is called kalpanā, essentially referring to the mental input, that cannot be 'pure perception' since it is not **'śuddha-vastujam'**. The Buddhists therefore, define the **'śuddha-vastu'** (pure entity) in terms of 'svalakṣaṇa' and they are indeed exclusive purist as far as the perception is concerned. The Naiyāyikas, on the other hand, accept jāti / sāmānya (the generic property) as part and parcel of the vyakti (individual entity). However, for them, jāti or sāmānya (the generic property) is a separate category of entity (padārtha) and it either can be perceived through the saṃyukta-samavāya (inherence in what is connected) sannikarṣa or it can be seen by sāmānya-lakṣaṇā-pratyāsatti[5] i.e. the cognition of general pattern acting as the cognitive functional relation. Then the question comes now: how an entity / element /individual (vyakti), for instance ghaṭa-vyakti (a jar) is seen? To decide the perceptual procedure we need to know 'what is a jar'? (A) Is it just a shape ākṛti (made up of some matter, say - earth, gold, silver, so on and so forth)? (B) Is it a shape along with its generic property 'jar-ness' (ghaṭatva)? (C) Does it come along with the relation (sambandha) as well? In Nyāya system there is no uniformity in defining 'a jar'. Some think it is only (a) the 'shape', the individual; some think it is (b) the individual along with its generic property (ghaṭatva-viśīṣṭa-ghaṭaḥ), some even go to the extent of associating (c) the 'relation' along with the individual as well as its generic property. Depending upon the nature of the entity the perception would generally differ. However, if someone thinks of examining the Nyāya-Vaiśeṣika texts to find out what is the 'object' of nirvikalpaka-pratyakṣa, one would expect that he / she will find only '(a)' as an instance of it; but when '(b)' & '(c)' are also found as the 'objects' of nirvikalpaka-pratyakṣa, then certainly one will feel surprised. The question will haunt him / her that: what is the difference between the nirvikalpaka and savikalpaka perception? The only difference, it seems in the tradition, between nirvikalpaka and savikalpaka lies on the integrity (sambaddhatā) or disintegrity (viśakalatā) of the entities namely vyakti, jāti and saṃbandha through their appropriate relations[6]. We will come to this point latter on. But one should ponder on: why this has happened in the system? It is clear that this has been started during the period of Navya Nyāya. Our reverent teacher Pt. T. S. Shrinivas Shastri-gal says that this has been started during the time of Śaśadhara[7], the real father of Navya-Nyāya. The issue and the logic behind all that in the tradition is very vast and everything cannot be accommodated here. However, it can be said here that, even if all that is taken for granted, it will certainly be a wonderful instance of inclusivism and even though we tolerate it, the question will be - what will happen to the purity (śuddhatā) of perception? If someone argues that since a dravya (an entity) for instance 'ghaṭaḥ' (a jar) in the case of perceptual cognitive instance, means the integrated whole of 'ghaṭatva-samavāya-ghaṭa' and all these together is a single entity (vastu), and therefore, the 'purity' is maintained as far as the śuddha-vastujatvam of SOC is concerned. In that case the problem will be: what is the cognitive functional relation (sannikarṣa) to the integrated whole of 'ghaṭatva-samavāya-ghaṭa'? Is it a single one or multiple one? Can it be samyoga alone or saṃyukta-samavāya alone or saṃyukta-viśeṣaṇatā alone? Else can we think of still having yet another complex functional relation taking all these three together? Or is there a different way out? OK, now for the sake of clarity, let us examine whether 'ghaṭatva' the jāti and samavāya, the sabandha can be incorporated into nirvikalpaka-pratyakṣa or not. What is a jāti or sāmānya The Nyāyakoṣaḥ gives a simple definition of sāmānya as: anugato dharmaḥ i.e. the property, which is found in continuity in a series of entities. How to understand anugatatva 'being in continuous'? It is good that the Naiyāyikas leave nothing undefined. Here, Gaṅgeśa, the founding father of Navya Nyāya, himself comes in our help, who defines anugatatva as "pūrva-vyakti-vṛttitve sati etad-vyakti-vṛttivam anugatatvam iti. tatra **pūrvānubhūta**-vyakter viśseṣaṇatvena tatra jñānasya anugatatva-pratyakṣe kāraṇatvāt"[8]. It simply means that the continuity in knowledge comes in a sequential form first to second, only if the first forms the part of past experience. Now the question is how sāmānya (ghaṭatva in present case) in that sense will become an object of 'instant perception', I mean nirvikarlapa-pratyakṣa? Because, jāti which is a 'property in continuity' comes along with the past experience and that cannot be counted for 'instant perception' which is non-relational and non-conceptual. In similar manner, if we closely examine the sambandha for clear understanding, I doubt if that can be considered to be part of 'instant perception', for sambandha (relation) itself is a relative term and no one can conceive a 'relation' without imagining the correspondent 'relatives' (sambandhins)[9]. In that sense, it means without relating to the 'relatives' no relation can be conceived. And thus, how the 'relation' can appear in the nirvikalpaka-pratyakṣa? Therefore, it is simply inconceivable to include the sāmānya and samavāya in the frame of 'instant perception' i.e. the nirvikalpaka-pratyakṣa. Moreover, the greater problem will be of classification of Nyāya-Vaiśeṣika categories! The question will be: why to count sāmānya (jāti) and samavāya are separate / independent categories altogether, since they are incorporated into a single entity and are also seen by a single perceptual functional relation? Is it not a very serious challenge for the Nyāya-Vaiśeṣika system? It seems to me that they have taken this serious risk just for the sake of the justifiability of savikalpaka-pratyakṣa, which in turn is caused by nirvikalpaka-pratyakṣa[10], and that is vyavahārāṅga as well. It must at this stage be born in mind that we have been taking about the nirvikalpaka-pratyakṣa, the indeterminate perception so far, which is neither valid nor invalid[11], and which in our terminology is an instance of 'simple perception'.

The savikalpaka-pratyakṣa, i.e. the determinate perceptual cognitive instance, therefore, is taken to be valid on account of its application in practical life. It no doubt is in a complex form. The complexity is caused not only by the integration of the disassociated entities like vyakti-jāti-sambandha seen in nirvikalpaka-pratyakṣa, but also it gets a name and other mental inputs if the situation demands so. The savikalpaka-pratyakṣa in other words is an 'integrated whole', it is thus called 'conceptual', 'linguistic' and 'judgmental'. This in our opinion is a 'complex form of perceptual cognitive event' or simply speaking **'complex perception'**. The 'complex perception' is known in the tradition as 'viśiṣṭajñānam' (qualified cognitive instance).

The viśiṣṭajñānam i.e. the qualified cognition arises variously and the tradition discusses them elaborately, which we need not go into the details here. The only point that may be underlined here is that - it requires the minimum occurrence of the 'qualifier', the 'qualificand' and the 'relation' in between them. The instances may be taken as stated above in '(A)' and / or '(B)'. We have already discussed in detail on how the perception of (B) Parvate vahniḥ is caused in the main paper, and I need not go elaborate it again here. Without going into more complexities involved in this case, let us think that there are only three 'entities' (a) parvata, (b) vahni and (x) adhikaraṇatā, where (a) and (b) are qualifier and qualificands respectively, the (x) is a relation. The question is whether we see all these simultaneously or sequentially, in an order? The Nyāya system would prefer the sequential order[12] and the knowledge of qualifier always form the part of 'past experience', or mental input (smṛti) by the time one gains the knowledge of 'complex perception'. Then it (the complex perception or the savikalpaka-pratyakṣa) obviously becomes a pratyabhijñā type perceptual cognitive instance, because pratyabhijñā? is partly 'direct' and partly 'remembrance'[13]. The pratyabhijñā is a fit case of 'reconstruction theory' of perception. The Naiyāyikas cannot accept perceptual cognition to be 'pratyabhijñā' only at least not by the same name, because that will disturb the whole theoretical and conceptual framework of Nyāya-Vaiśeṣika system. Gaṅgeśa seems to be struggling to settle the problem of pratyabhijñā and somehow incorporating the 'mental input' (smṛti) into the system. At the same time the problem for Gaṅgeśa was to authenticate and re-establish "jñānākaraṇakam jñānam pratyakṣam" - as the most suitable definition of perception that he had proposed in his TC[14]. At this stage again without going into the details given in the Tattva-Cintāmaṇi of Gaṅgeśa, it will be convenient for me and acceptable to all the shastric scholars to refer to my reverent teacher Prof. Ramanuja Tatacharya, who is one of the tallest Naiyāyikas of our time, to see how he has summarized the issues under the sub-title - 'Pratyabhijñā-vimarśaḥ' of his work - Pratyakṣa-Tattvacintāmaṇi-Vimarśaḥ. Introducing the nature of pratyabhijñā, and citing the famous instance of 'surabhi candanam' he says that Gaṅgeśa accepts pratyabhijñā as an instance of qualified perception[15]. Prof. Tatacharya, thereafter, cites the views of Vacaspati Mishra and Udayanacharya in support of this view[16]. Then Prof. Tatacharya says and I quote "iyam eva smṛti jñānalakṣaṇapratyāsattitvena maṇikṛtā vyavahriyate' - the smṛti comes into the picture of a 'complex perception' through jñānalakṣaṇa-pratyāsatti and he authenticates it to be the final opinion of Gaṅgeśa. Though I did not see this text at the time of writing my main paper for the seminar, this is what was my contention of introducing jñānalakṣaṇa-pratyāsatti and I hope this should convince the scholars.

Now the problem comes on justifying the definition of perception i.e. "jñānākaraṇakam jñānam" that is so dear to Gaṅgeśa. For that also Prof. Tatacharya has given a very logical and convincing interpretation, which indeed was intended by Gaṅgeśa himself. Let us look into that. After emphatically establishing the fact that pratyabhijñā was nothing but an instance of qualified perception[17], he says that the definition should be interpreted as '**jñāna-akaraṇakam** jñānam pratyaṣam' but not '**jñāna-akāraṇakam** jñānam pratyaṣam'. As far as the smṛti is concerned, it is no doubt is a **kāraṇa** (causal factor), but it cannot be the **kāraṇaa** (most effective means), because, smṛti cannot have any vyāpāra, immediately after which the perceptual cognitive instance would come into being[18]. Moreover, if the smṛti is taken to be kāraṇa then, it being referring to the 'past experience' the pratyabhijñā or the 'complex perception' in that matter would be an instance of parokṣa (other than perception) but not pratyakṣa. Therefore, citing the views of Udayana, to which Gaṅgeśa fully agrees[19], Prof. Tatacharya says that it is the indriya[20], which is the kāraṇa but not the smṛti (memory input) and thus there will be no problem of justifying the definition: '**jñāna-akaraṇa-**

kam jñānam pratyaṣam'. This clearly means that smṛti is one of the kāraṇa-sāmagrī-s (causal factors) of 'complex perceptual event' and a close examination of the whole situation would lead us to conclude that it is nothing but a 'reconstruction'. Without the memory input neither the pratyabhijñā nor the complex perceptual cognitive event would arise. As and when the 'memory input' and the 'direct perception' are assembled together, the perceptual cognitive event arises, which is applicable in practical life. The justification of the said definition is just technical one and that does not reject the 'reconstruction theory of perception'. The 'mind-brain-gap-theory' of the modern scientist can be re-interpreted as 'mind-brain-incorporation-theory' as such, and if it is considered in this situation there will be no problem in the shastric tradition at all. The modern science has developed many sophisticated instruments that no doubt help us in understanding the natural phenomena more clearly and distinctly. Taking help from the modern scientific developments, it will be desirable for us to reinvestigate the shastric stands on different theoretical aspects in one hand and to reinterpret the śāstras to see and judge the strength and power of the logic of the ancient Indian intellectuals on the other hand. That will make us feel proud of them, and to my mind we will not feel ashamed at any stage if we take the whole of Indian intellectualism as the outcome of a healthy living tradition, that is not meant for making different and independent schools like water-tight-compartments. Moreover, I feel, if one closely looks the theoretical developments those overlaps the whole tradition breaking the barriers of the so-called schools, one will be happy to note that the findings of the ancient Indian intellectuals are very close if not exactly the same to the findings of the modern science. So why not open the doors of our mind?

The discussion on my paper has taken up another issue on śabdāparokṣa-vāda. To my mind this is also a serious matter of debate in the śāstras and I wish to write a separate paper on this issue alone. This issue to my mind has the potentiality to change the line of thinking on the whole of Indian epistemology, especially on the causality and the cognitive structure.

Notes and References:

[1] H. S. Subrahmanyam, 1986, ‘‘Physiology and Psychology of Perception’, SENSE PERCEPTION IN SCIENCE AND ŚĀSTRA, Ed. By T. M. Srinivasan and B. G. Shreelakshmi, Pub. Sri Sharada Trust, Sringeri. p.70

[2] cf. ‘‘saṃyogena dravya-grahaḥ, saṃyukta-samavāyena rūpa-karmaṇor grahaṇam, saṃyuktasamavetasamavāyena rūpatvādeḥ, samavāyena śabdasya, samavetasamavāyena śabdābhāvasya, samavāya-ghatṭābhāvāder yogya-indriyasambaddhaviśeṣaṇatayā sannikarṣād eva graho na sannikarṣamātrāt’’ TC. Vol. I. P. 572-576.

[3] Cf. Vasubandhu’ definition ‘‘tato’rthāt jātam vijñānam pratyakṣam’’ (Pramāṇasammuccaya 15). Diṅnāga also defines

pratyakṣa in terms of “pratyakṣam kalpanāpoḍham nāmajātya-dy-asaṃyutam” (PS. 3). Dharmakīrtti also speaks in the same tone “kalpanāpoḍham abhrāntam pratyakṣam” (Nyāya-Bindu 1.4).

[4] Pramāṇasammuccaya 3.

[5] “sāmānya-lakṣaṇam ity atra lakṣaṇa-śabdasya viṣayo 'rtha tena sāmānyaviṣayakam jñānam pratyāsattir ity arthao labhyate” NSM. on Kā. 64, p. 277)

[6] Prof. Ramanuja Tatacharya concluding the discussion on **nirvikalpaka-vāda** says: “atredam tattvam. viśeṣaṇa-jñānatvena sidhyad api nirvikalpakam na viśeṣaṇabhūta-ghaṭatvādi-mātram. api tu viśeṣyam ghatādikam (viśeṣaṇam ghatatvādikam) samavāya-rūpam saṃbandham ca viṣayīkaroti. tathā ca nirvikalpake ghaṭaḥ ghaṭatvam samavāyaś ceti tritayam viṣayaḥ. triṣv api indriya-sannikarṣasya sadbhāvena ghaṭatvamātram viṣaya ity atra niyāmakābhāvāt. param tu tritayam api viśakalitatayā bhāsate. atas tatra prakāra-viśeṣya-bhāvo nāsti. ata eva prakāratā-śūnyatvam viśeṣyatā-śūnyatvam saṃsargatā-śunyatvam ca brūvate navīnatamā naiyāyika.” Pratyakṣa-Tattvacintāmaṇi-Vimarśaḥ, by Ramanuja Tatacharya, Rastriya Sanskrit Vidyapeetha, Tirupati, 1992, p. 330.

[7] See his paper on “Savikalpaka-Nirvikalpaka-vicāraḥ”, Pub. In Unmīlan, (Vo. 14. pt. 1) ed. By Yashdev Shalya and Mukund Lath, Darshan Pratisthan, Jaipur, Jan. 2000. p. 64.

[8] TC. Vol. I. P. 569.

[9] Cf. (a) sambandhibhinnatve sati sambandhyāśritaḥ, (b) svabhinna-sambandhyāśritaḥ, svabhinna-pratiyogika-padārthaḥ, (c) sambandhatvam ca yatkiñcit-padārthānuyogikatva-viśeṣaḥ.

Nyāyakoṣa, p. 920.

[10] Cf. "kiñca nirvikalpakābhāve savikalpakam jñānam eva nodetum arhati" ibid. p. 60.

[11] Cf. "nirvikalpakam na pramāṇam nāpy apramāṇam ..."

[12] Because, the mind in Nyāya system has been taken to be 'atomic' in size. It can be connected to one indriya at a time. One should see the discussion the details in 'Mano'ṇutvavādaḥ' in TC.

[13] "Indriyasahakṛta-saṃskārajanya-jñānatvam pratyabhijñā" cf. Nyāyakoṣa, p. 543.

[14] "jñānākaraṇakam jñānam iti tu vayam" TC. Vol. I. p. 552.

[15] Cf. "tathā ca tattā'ṃśe alaukika idamtā'ṃśe laukikam ca ekam viśiṣṭa-pratyakṣam pratyabhjñā iti maṇikārā nirūpayanti" Pratyakṣa-Tattvacintāmaṇi-Vimarśaḥ, (PTV) by Ramanuja Tatacharya, Rastriya Sanskrit Vidyapeetha, Tirupati, 1992, p. 341.

[16] "Tātparyaṭīkāyām Pariśuddhau ca pratyabhijñā pratyakṣam ity eva nirūpitam" ibid. p. 341.

[17] "sarvathā maṇikārāḥ pratyabhijñāyāḥ pratyakṣatvam eva ātiṣṭhante" ibid. p. 343.

[18] Cf. "yad vyāpārād anantaram phalotpattis tat karaṇam" - "vyāpāravad asādhāraṇam kāraṇam kāraṇam".

[19] "ayam ca viṣayo yathā maṇau vartate tathā tātparyaṭīkāpariśuddhāvapi vartate" PTV. p. 344.

cf. "viśiṣṭa-pratyakṣe ca viśeṣaṇa-jñānam na kāraṇam vyāpārabhāvāt. viśiṣṭa-vaiśiṣṭya-pratyakṣe ca viśeṣaṇajñānam hetur na tu viśeṣaṇa-viśeṣaṇa-dhīr api, viśeṣaṇa-dhī-dvārā karaṇam mānābhāvāt. pratyabhijñāyām tu tattā-smṛtiḥ**kāraṇam** na(?) tu saṃskāradvārā anubhavaḥ **kāraṇam**, tasyāḥ saṃskārajanyatve smṛtitvāpatteḥ. smṛtitve lāghavena saṃskāra-janyatvasya tantratvāt taddhetutvenaiva tatsiddheś ca'' TC. Vol I. p.552 - 555.

[20] Here Prof. Tatacharya cites a statement from Nyāya-Kusumañjalī of Udayana ''kāraṇ'ntara-nirapekṣeṇa saṃskārādhika-sannikarṣavatā indriyeṇa janitatvāt''. Ibid. p. 344.

◆

प्रत्यक्षप्रमाणविषये विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तः प्रस्थानरत्नाकरसरणिः च

डॉ. के. ई. देवनाथन्

विशिष्टाद्वैतिनः प्रत्यक्षमनुमानमागमः इति प्रमाणत्रयं स्वीकुर्वन्ति. तत्र प्रत्यक्षं प्रमाणं किंरूपम्? तस्य कार्यभूता प्रत्यक्षप्रमा किंरूपा? इत्यादिकं सामान्यतो निरूप्य प्रस्थानरत्नाकरस्य विशिष्टाद्वैतिनां च सादृश्यं वैसादृश्यं च यथामति निरूपयितुं प्रयते.

प्रत्यक्षलक्षणम् :

ज्ञातकारणजज्ञानस्मृतित्वरहिता मतिः।
अपरोक्षेति निष्कर्षे नाव्याप्त्यादिप्रसञ्जनम्॥
(न्यायपरिशुद्धौ का.६९) इति.

वेदान्तदेशिकाः प्रत्यक्षप्रमां लक्षयामासुः. तेषाम् अयम् आशयः : साक्षात्कारित्वं जातिः. तद् यदि उपाधिरूपं स्वीक्रियते तदा ''ज्ञायमानत्वावच्छिन्नकरणतानिरूपकत्वशून्यत्वे सति स्मृतित्वशून्यत्वे सति ज्ञानत्वं'' प्रत्यक्षप्रमायाः लक्षणम्. स्मृतेः वारणाय ''स्मृतित्वशून्यत्वे सति'' इति. अनुमितिशाब्दबोधयोः वारणाय ''ज्ञायमानत्वावच्छिन्न...''इत्यादि दलम्. इन्द्रियस्यापि ज्ञायमानत्वं कदाचित् सम्भवतीति प्रत्यक्षे अव्याप्तिः स्यात्. अतो 'ज्ञायमानत्वावच्छिन्नं' करणतायां विशेषणम्.

''इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यज्ञानत्वं'' लक्षणम् इति उक्तौ ईश्वरप्रत्यक्षे लक्ष-
अव्याप्तिः, ''वैशद्यापरपर्याय-लौकिक-विषयता-निरूपक-ज्ञानत्वस्य'' लक्ष-
णत्वे च ''वृक्षे-वृक्षे च पश्यामि'' इत्याद्युक्तस्मृतिविशेषे अतिव्याप्तिः.
एवञ्च उपर्युक्तं लक्षणं निर्दुष्टमेव.

प्रत्यक्षप्रभेदाः :

इदं प्रत्यक्षं नित्यम् अनित्यं च इति द्विविधम्. परमेश्वर-नित्यसूरि-प्रत्यक्षं नित्यम्. अस्मदादीनां प्रत्यक्षम् अनित्यम्. तच्च द्विविधं : योगिप्रत्यक्षम् अयोगिप्रत्यक्षं च. योगिप्रत्यक्षं प्रकृष्टादृष्टविशेषजन्यम्. सञ्जयार्जुनप्रभृतीनां मुक्तानां च प्रत्यक्षं योगिप्रत्यक्षमेव.

विषयेन्द्रियसम्बन्धो - द्रव्येषु संयोगः इन्द्रियाणां सम्बन्धः. द्रव्याश्रितरूपादिषु संयुक्ताश्रयणं सम्बन्धः. आश्रयणं च अपृथक्स्थितिरेव. नतु समवायः, तस्य अनंगीकारात्. उक्तं च तत्त्वरत्नाकरे

अत्र वृद्धा विदामासुः संयोगं सन्निकर्षणम्।
संयुक्ताश्रयणं चेति यथासम्भवम् ऊह्यताम्।। इति.

सिद्धान्ते मानसप्रत्यक्षं न स्वीक्रियते. आत्मनः तद्धर्माणां ज्ञानसुखादीनां ग्रहणार्थं हि नैयायिकादिभिः तत्स्वीकारः. आत्मनः स्वप्रकाशत्वात्, ज्ञानस्य तद्धर्मस्यापि स्वप्रकाशत्वात् सुखादीनां च अवस्थाविशेषविशिष्टज्ञानात्मकत्वाच्च. एवञ्च प्राथमिकं प्रत्यक्षं ''अहं घटं जानामि'' इत्याकारकमेव भवति इति सम्प्रदायः.

प्रत्यक्षं निर्विकल्पकं, सविकल्पकं चेति द्विविधम्. संस्कारसहकृतेन्द्रियजन्यं ज्ञानं सविकल्पकम्. यथा गोत्वादौ अनुवृत्तत्वावगाहि ''अयमपि गौः'' इत्यादिज्ञानम्. संस्कारनिरपेक्षेन्द्रियजन्यज्ञानं निर्विकल्पकम्. ''अयं गौः'' इति ज्ञानं निर्विकल्पकमेव. नहि सर्वथा निष्प्रकारकं ज्ञानं सिद्धान्ते स्वीक्रियते. निर्विकल्पकं नाम केनचित् धर्मविशेषेण वियुक्तस्य ग्रहणम् इति भाष्यम्. अल्पधने पुरुषे धनशून्यत्वपर-'दरिद्र'शब्दप्रयोगाद् अनुवृत्तत्वानवगाहिनि प्रत्यक्षे निर्विकल्पकव्यवहारः.

ज्ञानस्वप्रकाशत्ववादे ''इमां गां जानामि'' इति निर्विकल्पकाभिलापः.

''इमामपि गां जानामि'' इति सविकल्पकाभिलापः इति मन्तव्यम्.

सर्वं ज्ञानं विशिष्टविषयकमेव इति सिद्धान्तः :

ननु ''घटोऽस्ति'' इति ज्ञाने सद्रूपं घटादिरूपभेदः च प्रतीयते. कथं घटादेः भेदरूपत्वम्? इति न शंक्यं, व्यतिरेकित्वात्. सर्वेषां व्यतिरेकिधर्माणां स्वभाववद्भेदरूपत्वस्य सर्वसम्प्रतिपन्नत्वात्. सद्रूप-भेदयोः न ऐक्यं सम्भवति, प्रतियोगिनिरपेक्षत्व-तत्सापेक्षत्वरूपविरुद्धधर्माध्यासेन भेदावश्यंभावात्. एवञ्च इदं प्रत्यक्षज्ञानम् उभयग्राहि वा अन्यतरग्राहि वा? उभयग्राहित्वपक्षे किं क्रमेण उभयग्राहि वा उत युगपत् तथा इति विकल्पः? क्रमेण उभयग्राहित्वं प्रत्यक्षज्ञानस्य न भवति, तथात्वे क्षणिकस्य प्रत्यक्षस्य विरम्यव्यापारस्वीकारप्रसंगः. भेदस्य सतश्च युगपद्ग्राह्यता न सम्भवति. भेदग्रहणात् पूर्वं प्रतियोग्याश्रयज्ञानयोः अपेक्षितत्वात्, सद्ग्रहणस्य च तदनपेक्षत्वात्. प्रत्यक्षम् अन्यतरग्राहि इति पक्षेऽपि निराश्रयभेदग्रहणासम्भवात् सन्मात्रविषयकत्वमेव तस्य परिशेषसिद्धम् इति प्रत्यक्षं निर्विशेषविषयकमेव इति चेत्, न, एतादृशविकल्पस्य भ्रान्तिरूपे भेदविकल्पेऽपि समत्वात्. नच भ्रान्तेः उभयग्राहित्वाभावेऽपि क्षतिविरहः, प्रत्यक्षेणैव स्वरूपस्य ग्रहणात् भ्रान्तेः भेदमात्रग्रहणेऽपि उपपत्तेः इति वाच्यम्. भ्रान्तिविकल्पस्य भेदमात्रविषयकत्वे प्रत्यक्षस्य स्वरूपमात्रविषयकतया स्वरूपभेदयोः वैशिष्ट्यग्रहणाभावेन उक्तविशिष्टव्यवहारानुपपत्ते युगपद्विशिष्टग्रहणमेव स्वीकर्तव्यम्. एवञ्च धर्मवद् योग्यत्वात् जात्यादिरूपभेदोऽपि प्रत्यक्षे युगपद् गृह्यतएव. अभेदो यथा स्वरूपतो ग्रहणे प्रतियोगिसाकांक्षो न भवति, तथा भेदोऽपि स्वग्रहणे प्रतियोगिनिरपेक्षएव. भेदव्यवहारस्तु प्रतियोगिज्ञानसापेक्षः इति स्थितिः.

भेदप्रत्यक्षे अन्योन्याश्रयशंकापरिहारौ :

ननु जात्यादिरेव भेदः इति पक्षे तद्ग्रहणे अन्योन्याश्रयदोषः प्रसजति. तथाहि —

१. धर्मधर्मिणोः अभेदग्रहदशायां धर्मधर्मिभावग्रहासम्भवात् धर्मधर्मिभावग्रहं प्रति भेदज्ञानम् अपेक्षितम्. नहि भेदरूपस्य धर्मस्य घटरूपस्य च

धर्मिणः अभेदग्रहे तयोः धर्मिधर्मभावो गृह्येत. धर्मधर्मिणोः भेदग्रहश्च धर्मधर्मिभावग्रहाधीनः इति अन्योन्याश्रयः.

२. एवं धर्मिप्रतियोगिनोः अभेदग्रहदशायां एकस्य भेदधर्मितया अपरस्य तत्प्रतियोगितया ज्ञानासम्भवात् तादृशज्ञाने भेदज्ञानम् अपेक्षितम्. भेदज्ञाने च धर्मिप्रतियोगिनोः धर्मित्वेन प्रतियोगित्वेन च ज्ञानम् अपेक्षितम् इति अन्योन्याश्रयः.

३. एवं घटादेः पटाद्यविलक्षणत्वज्ञाने सति घटादौ पटादिभेदधीः न जायतइति भेदज्ञानं प्रति वैलक्षण्यज्ञानम् अपेक्षितम्, तद्वैलक्षण्यं च तदवृत्तिधर्मवत्त्वम्, एतादृशवैलक्षण्यज्ञानार्थं भेदज्ञानम् अपेक्षितम् इति अन्योन्याश्रयइति भेदस्य जात्यादिरूपत्वं, प्रत्यक्षस्य तद्विषयकत्वं च न युक्तम् इति चेत्, न, प्रथममेव भेदविशिष्टवस्तुनो ग्रहणाद् एतादृशहेतुहेतुमद्भावस्य अस्वीकारात्. तथाहि — धर्मधर्मिणोः अभेदग्रहदशायां यद्यपि धर्मधर्मिभावेन प्रतीतिः न भवति, तथापि तत्पूर्वं न तयोः भेदज्ञानम् अपेक्षितम् किन्तु अभेदाग्रहएव. धर्मधर्मिभावेन प्रतीतिरेव हि भेदग्रहरूपेति तयोः कार्यकारणभावएव नास्ति. अतो न प्राथमिको अन्योन्याश्रयः. एवं धर्मिप्रतियोगिनोरपि तथात्वेन ज्ञानं प्रति न भेदज्ञानम् अपेक्षितम्, तथात्वेन ज्ञानस्यैव भेदधीत्वात्. तस्याच पूर्वोक्तरीत्या अभेदाग्रहमात्रसापेक्षत्वात्. तथाच न द्वितीयो अन्योन्याश्रयोऽपि. स्वरूपतो घटत्वादिरूपभेदग्रहणे पटादिविलक्षणत्वज्ञानानपेक्षणात्. पटाद्यविलक्षणत्वज्ञानाभावे सति स्वसामग्रीवशेन घटत्वादिरूपस्य पटादिभेदस्य ज्ञानसम्भवात्. एवञ्च प्रत्यक्षं सर्वमपि भेदविषयकम् इति स्वीकारे न कापि अनुपपत्तिः इति.

शाब्दापरोक्षास्वीकारः :

शब्दजन्यप्रत्यक्षं ‘‘तत्वमस्या’’दिवाक्यस्थले अद्वैतिभिः स्वीक्रियते. विशिष्टाद्वैतिनां सिद्धान्ते परोक्षज्ञानजननस्वभावतया सिद्धायाः शब्दघटितसामग्र्याः वाक्यार्थविषयकप्रत्यक्षहेतुत्वं नास्ति. ‘‘दशमः त्वम् असि’’ इति दृष्टान्ते त्वमर्थमात्रं प्रत्यक्षम्. ‘‘दशमो अहम्’’ इति ज्ञानं न केवलेन्द्रियेण जायते

किन्तु पुरुषवचनानुरोधेन. अस्मिन् विषये विशेषरूपेण विचारः शतदूषण्यादौ आचार्यैः कृतोऽस्ति. अत्र नातीव आवश्यकः स विचारइति न लिख्यते.

प्रस्थानरत्नाकरपक्षो विमर्शः च :

प्रस्थानरत्नाकरे " 'कामः संकल्पः' इति श्रुत्या सुखादयः करणसमवेताः घ्राणादीन्द्रियाग्राह्यगुणत्वात् स्पर्शशून्येन्द्रियग्राह्यगुणत्वाद् वा शब्दवद्" इति अनुमानेन च कार्यरूपस्य ज्ञानस्य अन्तःकरणधर्मत्वमेव स्वीकृतम्.

विशिष्टाद्वैतिनस्तु "जानात्येव अयं पुरुषः" "नहि विज्ञातुः विज्ञातेः विपरिलोपो विद्यते" इत्यादिश्रुत्या ज्ञानादीनां आत्मधर्मत्वमेव समाश्रयन्ति. अनुमानञ्च उक्तम् अप्रयोजकं, श्रोत्रस्य आहंकारिकस्य आकाशरूपत्वस्य अवैदिकत्वात्. दृष्टान्तोऽपि न युक्तः. ज्ञानस्य आत्मनिष्ठत्वाभावे चेतनत्वव्यवहारोऽपि ततो न घटेत.

मनसः इन्द्रियत्वम् अनिन्द्रियत्वं च इति उभयं यमे देवत्व-पितृत्वयोरिव संगतम् इत्यपि चिन्तनीयम्. देवत्वपितृत्वयोः स्वरूपतो लक्षणतश्च भावाभावयोरिव विरोधाभावात्.

घ्राणरसनश्रवणादीनां द्रव्याग्राहकत्वं यत् निषिद्धं तदपि चिन्तनीयमेव, व्याप्तिज्ञानविधुराणामपि तमसि दुग्धादेरपि रसनया ग्रहणं तस्याः द्रव्यग्राहकत्वम् अन्तरा न सम्भवति इति कथनं न सम्भवति, तथात्वे पूर्वाननुभूतदुग्धानामपि रसनया दुग्धरसास्वादे तमसि दुग्धानुभवापत्तेः. अतः तेषां दुग्धज्ञानम् अनुमतिरेव.

अभावस्य अनुपलब्धिवेद्यत्वाभावसाधनन्तु विशिष्टाद्वैतिनामपि अभिमतमेव. "चक्षुषा अवगतः" इतिवत् "अनुपलब्ध्या अवगतः" इति प्रत्ययाभावात् इत्यादिप्रस्थानरत्नाकरग्रन्थो बहुयुक्तिगर्भितः विशिष्टाद्वैतिनाम् उपादेयएव.

विशिष्टाद्वैतिनो ज्ञानस्य द्रव्यस्य नेत्रादिद्वारा निर्गतस्य घटादिविषयसम्ब-

न्धात् संयोगात्मकात् तदाकारकतासम्पत्तिः इति आहुः. प्रस्थानरत्नाकरेतु बुद्धितत्त्वस्य अवस्थाविशेषो वृत्तिः, तस्याः बहिःनिर्गमाभावेऽपि मायागुणस्य रजसः चञ्चलत्वेन विक्षेपकत्वेन च, दर्पणे मुखस्येव, नेत्रगोलकेऽपि बाह्यविषयाकारसमर्पणे तदाकारत्वं सुघटम् इति उक्तम् . तत्तत्सिद्धान्ताभिमतप्रक्रियाभेदेन उभयमपि युज्यतएव इति प्रतीमः.

बुद्धेः अवस्थाविशेषएव वृत्तिः इतिपक्षे श्रीपुरुषोत्तमचरणैः शुक्त्यादौ तद्विरुद्धस्य रजताकारस्य अभावेन बुद्धौ मायया रजताकारस्य समर्पणासम्भवेन अन्यथाख्यातिपक्षस्य अनंगीकारात् च कथं भ्रमस्य उपपत्तिः इति पूर्वपक्षं विधाय सम्यक् स्वपक्षः समर्थितः. तथाहि : रजताद्याकारसंस्कारः पूर्वम् उत्पन्नः स्वरजसा बहिःक्षिप्यते. इन्द्रियसन्निकृष्टः शुक्त्याकारः तमसा आवृतो भवति चेद्, भ्रमस्य उपपत्तिः इति.

सर्वज्ञानम् अन्तःकरणधर्मः इति प्रस्थानरत्नाकरपक्षः. तर्हि कथं तस्य आत्मधर्मत्वप्रवादः इति पूर्वपक्षं कृत्वा एवं निरूपितं : जीवात्मनि अन्तःकरणाध्यासात् आत्मधर्मत्वप्रवादः इति. एतादृशविषयेषु न अतीव विवादो युज्यते, तत्तत्सिद्धान्तानुसारिप्रक्रियाभेदस्य अदूष्यत्वाद् इति शम्.

……+……

चर्चा

प्रत्यक्षप्रमाणविषये विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तः प्रस्थानरत्नाकरसरणिः च

डॉ. के. ई. देवनाथन्

यज्ञेश्वर शास्त्री : भवद्भिः लिखितं ''संस्कारसहकृतेन्द्रियजन्यं ज्ञानं

सविकल्पकम्'' इति. संस्कारन्तु ... सकलमपि सविकल्पकं प्रत्यक्षं स्मृति-संस्कारसहितं ...

के.ई.देवनाथन् : प्रत्यभिज्ञायां... संस्कारमात्रजन्यं...

यज्ञेश्वर शास्त्री : सकलमपि सविकल्पकं प्रत्यक्षं संस्कारसहकृतमेव ...

के.ई.देवनाथन् : स्मृतिः तावत् सा ... संस्कारमात्रजन्या धीः.

यज्ञेश्वर शास्त्री : प्रथमवारं प्रत्यक्षं कृतं तत् संस्कारसहकृतम् इति कथं वक्तुं शक्यते ?

के.ई.देवनाथन् : तर्हि सविकल्पकमेव नास्ति किल. तत्तु निर्विकल्पकमिति वदामः.

यज्ञेश्वर शास्त्री : प्रत्यक्षम् अनधिगतम् अबाधितमपि भवेत् ...

के.ई.देवनाथन् : भवतां प्रश्नो अवगतः... परन्तु निर्विकल्पकं यद् भवति, केनापि न उल्लिख्यते अतएव ‘निर्विकल्पकम्’ इति नाम. ‘‘मम निर्विकल्पकं ज्ञानं जातम्'' इति केनापि न उच्यते ...

यज्ञेश्वर शास्त्री : मम अयं प्रश्नः : सकलमपि प्रत्यक्षं संस्कारसहकृतमेव भवति ...

के.ई.देवनाथन् : एवम् अस्माभिः न उच्यते. प्राथमिकं यद् ज्ञानं तद् घटत्वविशिष्टं घटविषयकं भवति. तस्य ‘निर्विकल्पकम्’ इति नाम. तस्मिन् घटत्वे अनुवृत्तत्वांशो न अवगतइति कृत्वा द्वितीयज्ञानस्य ‘सविकल्पकम्’ इति नाम. तावदेव मया उक्तम्. सर्वं ज्ञानं संस्कारसहकृतेन्द्रियप्रभवम् इति ...

यज्ञेश्वर शास्त्री : तत्र ‘संस्कारासहकृत...’ इति भवद्भिः न उक्तम्. प्रथमम् निर्विकल्पकं भवति अनन्तरं तत् संस्कारसहकृतं चेत् तत्र ...

के.ई.देवनाथन् : आचार्याः ! पश्यन्तु. संस्कारनिरपेक्षेन्द्रियजन्यज्ञानं निर्विकल्पकम्. ‘‘अयं गौः'' इति ज्ञानं निर्विकल्पकम् इति उत्तरत्र

मया लिखितमेव वर्तते.

सिद्धेश्वर भट्ट : प्रथम पिण्डके ज्ञानमें संस्कार नहीं होगा. द्वितीय पिण्डके ग्रहणमें संस्कारका समावेश होता है.

के.ई.देवनाथन् : ...संस्कारका कारणत्व है. संस्कारका समावेश विषयरूपेण नहीं है, कारणत्व है.

सिद्धेश्वर भट्ट : प्रथम पिण्डके ग्रहणमें कारक तत्त्व क्या हैं और द्वितीय पिण्डके ग्रहणमें कारक तत्त्व क्या हैं? क्या भेद है?

के.ई.देवनाथन् : प्रथम इन्द्रिय सन्निकर्षसे ज्ञान उत्पन्न होता है वह तो ''अयं गौः'' इत्याकारक है.

सिद्धेश्वर भट्ट : ''अयं गौः'' इसमें संस्कार तो आ गया.

के.ई.देवनाथन् : संस्कार नहीं आता है. अयं पुरोवर्तिपदार्थमें गोत्वका ग्रहण... इसका विवरण करता हूं. आप ऐसा मान सकते हैं कि The first indeterminate knowldege emerges there individual along with the quality is comprihended. So there the Samskāra has no role to play. There was no Samskāra at all. One more thing also Bhāṣyakāra has said ''एकजातीयपिण्डेषु प्रथमपिण्डग्रहणं निर्विकल्पकम्''. But afterwards Vedāntadeśika adds that it is Upalakṣna. Because, person who does not carry the Samsakāra even after persceiving cow. At the first instance he has seen one cow. If Samskāra is not there or active then the second perception of the same object or the Sajātiya object is also considered as Nirvikalpaka.

यज्ञेश्वर शास्त्री : आपने प्रत्यक्षका जो लक्षण दिया वह केवल निर्विकल्पकको ही *एप्लिकेबल्* होता है? क्योंकि उसमें स्मृति ...

के.ई.देवनाथन् : उसमें स्मृतित्व नहीं है. हम ऐसा कहते हैं कि

''संस्कारनिरपेक्षेन्द्रियजन्यं ज्ञानं निर्विकल्पकम्'' और ''संस्कारसापेक्षेन्द्रियजन्यं ज्ञानं ...''

डी.प्रह्लादाचार्य : देवनाथाचार्याः! स्मरणस्य लक्षणं किम्? प्रत्यक्षस्य लक्षणं किम्? ...

के.ई.देवनाथन् : ''संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मरणम्''. जहां इन्द्रियोंका भी काम है उसको स्मरण कैसे कहेंगे?

अच्युतानन्द दास : अत्र पृच्छामि. यथा भवद्भिः उच्यते तत्र निर्विकल्पकं ज्ञानं नैकविधं भवितुम् अर्हति. चिन्त्यताम् तत्र ''अयं गौः'' इति एकं ज्ञानं वर्तते निर्विकल्पकम्. ''अयं वशिष्ठस्य गौः'' इति अन्यदपि निर्विकल्पकं ज्ञानं भवितुम् अर्हति. ''अयं वशिष्ठस्य कामप्रसुः गौः'' इत्यपि निर्विकल्पकं ज्ञानं भवितुम् अर्हति वा. ''अयं वशिष्ठस्य कामप्रसुः सुरभि गौः'' इत्यपि निर्विकल्पकं ज्ञानं भवितुम् अर्हति वा? तर्हि सविकल्पकं कुत्र स्थास्यति?

के.ई.देवनाथन् : समीचीनम्. ''अयमपि गौः'' अत्र 'अपि' शब्दः ...

अच्युतानन्द दास : 'अपि' नास्ति. अन्यस्य अन्यस्य ...

के.ई.देवनाथन् : भवतां प्रश्नस्तु युक्तः. समाधानं वच्मि. प्रश्नं स्पष्टयामि. मम पत्रे लिखितम् अस्ति ''अयमपि गौः'' इति तु सविकल्पकम् इति. परन्तु एवं प्रश्नो भवति ''अयं वशिष्ठस्य गौः'' तत्र किं भवति, वशिष्ठस्य गौः इति प्रथमतः अयं प्रश्नः क्रियते प्रत्यक्षं वा शाब्दबोधो वा? ''अयं वशिष्ठस्य गौः'' इति वशिष्ठस्य पार्श्वे वर्तमानायां गवि यदि ''अयं वशिष्ठस्य गौः'' इति प्रतीतिः भवति सा प्रतीतिः सविकल्पकम्. कथम्? इति चेत्, प्रथमतो गाम् अदृष्टवतः पुरुषस्य ''इयं वशिष्ठस्य गौः'' इति प्रतीतिः न भवति. तत्र 'अपि' शब्दोल्लेखस्तु उपलक्षणार्थः. गोः ग्रहणानन्तरं द्वितीयवारं तृतीयवारं संस्कारसापेक्षत्वं यदि भवति तदानीं सविकल्पकमेव.

अच्युतानन्द दास : अहं किं पृच्छामि, पञ्चजनाः इति चिन्त्यताम्. एकः

सामान्यबालो वर्तते. सः ''अयं गौः'' इति जानाति. तस्य प्रत्यक्षं निर्विकल्पकप्रत्यक्षं जातम्. अपरः कश्चन बालः ततोऽपि ज्येष्ठो वर्तते. सः आश्रममं प्रति आगच्छति, तत्र गां पश्यति. ''अयं वशिष्ठस्य गौः'' इति ज्ञानम्...

के.ई.देवनाथन् : तस्यतु सविकल्पकम्.

अच्युतानन्द दास : सो वशिष्ठस्य आश्रममात्रं जानाति. विशिष्ठस्य गां पश्यति चेत् ...

के.ई.देवनाथन् : तत्रतु महान् क्लेशः कोऽपि नास्ति. यः पूर्वं गां जानाति, पूर्वं वशिष्ठाश्रमे दृष्टवान्, इदानीं गोमात्रम् अत्र तिष्ठति तदानीम् ''इयं वशिष्ठस्य गौः'' इति वदति चेत् तस्यतु सविकल्पकमेव, संस्कारसाहित्यात्. यो गामेव न जानाति, वशिष्ठस्य आश्रमएव न गतवान्, वशिष्ठं जानाति सो वदति ''वशिष्ठस्य गौः'' इति वदति चेत् सः प्रष्टव्यः ''अयं वशिष्ठस्य गौः इति भवता कथं ज्ञातम्?''. केनचिद् उक्तं चेत् शाब्दबोधः. अन्यथातु ...

बी.के.दलाई : ममतु एवं भाति, भारतीयदर्शने निर्विकल्पकप्रत्यक्षस्य भिन्नानि लक्षणानि सन्ति. ''अयं गौः'' इति ज्ञानं प्रायशः सविकल्पकम् इति मन्यते. जैनदर्शने, इन्द्रियार्थसन्निकर्षो भवति तदा ''इदं किञ्चित्'' इति ज्ञानं भवति. इदं पुस्तकं वा गौ वा इत्यादिरूपं ज्ञानं न भवति. तस्मिन् काले तस्य ज्ञानस्य नाम तैः 'निर्विकल्पकम्' तैः न उच्यते. परन्तु 'अवग्रहः' इति उच्यते. अवग्रहस्य भागद्वयं १. व्यञ्जनावग्रहः २. अर्थावग्रहः इति. 'व्यञ्जनावग्रहो' नाम इदं किञ्चिद् इति ज्ञानम्. वस्तु किमपि भवतु; पुस्तकं भवतु, गृहं भवतु वा. अन्ततोगत्वा तस्य जिज्ञासा भवति ''किम् इदम्?''. तदा तस्य ज्ञानं भवति ''इदं पुस्तकम्'' ''इयं गौः''. तदा तस्य नाम 'अर्थावग्रहः' भवति. अर्थावग्रहः सविकल्पकम् उच्यते. अनन्तरकाले जैनन्याये प्रत्यक्षे अर्थावग्रहस्यैव भानम्. प्रत्यक्षे निर्विकल्पकस्य अन्तर्भावः

कदापि न भवति. अनन्तरम् सिद्धसेनदिवाकरः, अकलंकप्रभृतिः जैननैयायिकैः व्यञ्जनावग्रहो विस्मृतः. तेषां कृते आद्यप्रत्यक्षं सविकल्पकं, निर्विकल्पकं प्रत्यक्षं नास्ति. तत्तु अर्थावग्रहएव भवति.

के.ई.देवनाथन् : समीचीनम्. जैनन्याये प्रक्रियाभेदेन ... जैनप्रक्रियातु समीचीना स्यात्, तद्रीत्या दृश्यमाने. तत्र अस्माकं प्रक्रिया एवं उपात्ता वर्तते ...

बी.के.दलाई : ममाभिप्रायः एवम्. अस्ति : यदा "इयं गौः" अथवा "अयं बालः" इति ज्ञानं भवति तस्य निर्विकल्पकं प्रत्यक्षं न वक्तुं शक्यते.

के.ई.देवनाथन् : मया मध्यएव उक्तम् "अयं गौः" इति ज्ञानं निर्विकल्पकम् इति कथने कश्चित् क्लेशो भवत्येव. परन्तु यथा वैयाकरणैः निर्विकल्पकमेव न स्वीकृतं "न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके ..." तद्वत् निर्विकल्पकमेव न स्वीक्रियतां. किमर्थं निर्विकल्पकं स्वीकृत्य एतादृशः परिष्कारः क्रियते इति समीचीनमेव. परन्तु निर्विकल्पकम् इति व्यवहारो अस्ति चेद् भाष्यकारैः एवं निरूपणं कृतम् अस्ति. सिद्धिकारैरपि व्यवहारकाले निर्विकल्पकं न स्वीकृतम् इति तु मया कस्मिंश्चित् पत्रे पठितम्. अतो निर्विकल्पकास्वीकारस्तु भवत्येव वेदान्तिनाम्. परन्तु ...

कृष्णमूर्ति शास्त्री : न भवतु. अखण्डाकारं ज्ञानं निर्विकल्पकमेव अन्ते ...

के.ई.देवनाथन् : शास्त्रिपादाः! 'व्यवहारे' मया उक्तम्. इति योजनं कृतम् अस्ति. निर्विकल्पकसमाधिः न स्वीक्रियते चेत् अद्वैतमेव नास्ति.

डी.प्रह्लादाचार्य : तत्र व्यावहारिको दृष्टान्तो दीयते "सोऽयं देवदत्तः" इत्यादिवाक्यजन्यं ज्ञानम् ...

के.ई.देवनाथन् : आचार्याः! सिद्धिग्रन्थे सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्तिनिराकरणप्रकरणे व्यवहारकाले निर्विकल्पकं न स्वीक्रियते ...

कृष्णमूर्ति शास्त्री : "निर्विकल्पकस्य व्यवहारानर्हत्वाद्" इति.

के.ई.देवनाथन् : एवम्. समापयामि. एतैः पृष्टं, “अयं गौः” इति कथं निर्विकल्पकम् इति वक्तुं शक्यते? तत्र भाष्यकारैः निर्विकल्पकम् इति व्यवहारः समर्थितः.

विन्ध्येश्वरी प्रसाद : भवन्तो न स्वीकुर्वते मानसप्रत्यक्षम्. तर्हि सुख-दुःखादीनां साक्षात्कारो विषयित्वेन विषयत्वेन वा ... यदि विषयित्वेन भवति तर्हि “सुखम् अहम्” “दुःखम् अहम्” इति अनुभूतिः जायेत, न जायते “सुखी अहम्” दुःखी अहम्” इत्यनुभूतिः जायते. तर्हि कथम् उपपद्यते?

के.ई.देवनाथन् : अस्माकं सिद्धान्ते ज्ञानं द्रव्यम्. ज्ञानं नाम बुद्धितत्त्वम् इति सांख्यैः स्वीक्रियते तत्स्थानीयम् एकम् द्रव्यम्. तदेव अस्माभिः ज्ञानम् इति स्वीक्रियते. यदा बुद्धितत्त्वस्य परिणामः स्वीक्रियते तद्वत् अस्माकं सिद्धान्ते संकोचविकासौ स्वीक्रियेते. ...

विन्ध्येश्वरी प्रसाद : श्रूयताम्. आत्मनः स्वप्रकाशत्वात् तद्धर्माणां सुख-दुःखादीनामपि स्वप्रकाशकत्वात्, कथं संगच्छते?

के.ई.देवनाथन् : ज्ञानस्य प्रसरविशेषो वर्तते. तत्रैव प्रसरविशेषः कदाचित् ‘सुखम्’इति उच्यते. कदाचित् ‘दुःखम्’ इति उच्यते. अत्र ज्ञानस्यैव अवस्थाविशेषः ‘सुखा’दिशब्दभाग्, नाम, ज्ञानमेव अवस्थाविशेषापन्नं मृदएव घटावस्थाविशेषापन्ना ‘घट’शब्दव्यवहार्या यथा भवति तद्वत् ज्ञानमेव अवस्थाविशेषापन्नं सुखम्-दुःखम् इति भण्यते सिद्धान्ते. इदानीं भवद्भिः पृच्छ्यते “अहं सुखम्”. “अहं सुखम्” इति न भवति. ‘अहम्’ इति अन्यद् ज्ञानम्. ज्ञानस्वरूपः आत्मा. तस्मिन् आत्मनि इदं द्रव्यस्वरूपम् इति मया उक्तम् किल ज्ञानम्, सुखत्वावस्थापन्नं ज्ञानम् तत्र अवतिष्ठते. अतः “सुखी अहम्” इत्येव प्रतीतिः भवति. ‘अहं’ नाम स्वप्रकाशः आत्मस्वरूपः, तस्मिन् सुखावस्थापन्नं ज्ञानं वर्तते इति कृत्वा “अहं सुखी” इति उच्यते.

विन्ध्येश्वरी प्रसाद : यदि आत्मनो भिन्नं सुख-दुःखादिकं ...

प्रद्योतकुमार : ....

के.ई.देवनाथन् : अधिष्ठानं भवति यद् आत्मस्वरूपं तस्य अवस्थादिकं नास्ति. तत् निर्विकारं चेतनस्वरूपम्. तस्य अवस्थादिकं नास्ति. तत्र वर्तमानस्य ज्ञानस्य ... सांख्यमतसम्मतं बुद्धितत्त्वं स्वीक्रियतां. तदेव समीचीनं उदाहरणम् अस्य सिद्धान्तस्य भवति. परन्तु अयं भेदः, सांख्यमतसिद्धं बुद्धितत्त्वं बहिः प्रसृत्य घटाद्याकारेण परिणमते. अयञ्च परिणामो ज्ञानम् इति उच्यते तन्मते. अत्र सिद्धान्ते तावत् परिणामो न स्वीक्रियते. इन्द्रियज्ञानस्य आत्मनो धर्मस्य इन्द्रियद्वारा निर्गमनं भवति. निर्गत्य घटादिना वस्तुनः संयोगसम्बन्धो भवति. ज्ञानस्य विषयस्य च विषय-विषयीभावो नाम संयोगो अस्माकं सिद्धान्ते.

डी.प्रह्लादाचार्य : ज्ञानं द्रव्यञ्च.

एस्.वी.बोकिल : I would like to draw attention ... deep analysis of perception as presented in Indian philosophy and western philosophy. And this is of great importance. All most all Indian systems accept Manas as Indriya in addition to five sense-organs. Naturally one would like to ask question where is the need for accepting Manas as Indriya? In western tradition you will find that they have accepted five sense organs. But they have not felt the need of Manas to bring about what you call Indriya sannikarṣa. They have accepted Mind. You can not reject mind. Because after all perception needs observer and its subject ... and they use the expression mind in that sense. And if you see new scientific research, there is no physiological basis for accepting mind as additional Indriya unless you identify it with brain. ... we perceive external world. Now we want to explain this. Western philosophers have taken the view that we should not multiply many metaphysical entities. We should manage with few entities. So if we can explain perception by not accepting ... I don't say that you don't accept mind.

के.ई.देवनाथन् : भवतां प्रश्नः एवम् अस्ति, किमर्थं मनः अंगीक्रियते. "एकादशं मनः च अत्र" इति मनसः श्रुतिसिद्धत्वम् अस्ति. तत्र "पञ्चवृत्तिः मनो...व्यपदिश्यते" इति सूत्रभाष्ये एवम् उक्तम् अस्ति. सुख-काम-संकल्पः इत्यादयः ये ज्ञानस्य विकाराः भवन्ति ते मनोवृत्तयः इति स्वीक्रियन्ते. अत्र 'मनोवृत्तयः' नाम मनसः परिणामः इति न अर्थः. मनसहकृतेन ज्ञानेन एते विकाराः प्रा...इति अर्थः. ज्ञानस्य सुखाद्यात्मना कामाद्यात्मना यो विकारः तस्मिन् विकारे जननीये मनसः सहकारित्वं स्वीक्रियते. तदर्थमेव इन्द्रियत्वं तस्य स्वीक्रियते. न केवल तत्र चक्षुषि अयं प्रश्नः कर्तुं शक्यते. यदि बुद्धितत्त्वमेव बहिः निर्गत्य घटेन संयुनक्ति तर्हि चक्षुषः किं कार्यम्? इति चेत्, ज्ञानस्य निर्गमने तेन साकम् चक्षुरेन्द्रियस्य मिश्रणं भवति. तदानीमेव चाक्षुषप्रत्यक्षम् इति उच्यते. तद्वत् धर्मभूतज्ञानस्य यः परिणामः भवति अवस्थाविशेषः सुखदुःखाद्यात्मना परिणामः भवति तत्र तावत् मनसः सम्बन्धो यदि भवति तदानीमेव तस्य ग्रहणं भवति इति अर्थः. तदभिप्रायेण मनसः इन्द्रियत्वं स्वीक्रियते. परन्तु 'मानसप्रत्यक्षम्' इति शब्दः तावत् वृद्धैः प्राचीनविशिष्टाद्वैतिभिः न स्वीक्रियते तावदेव. मनसस्तु कार्यमेव नास्ति इति नास्ति.

कृष्णमूर्ति शास्त्री : मनका स्वीकार इसलिये है क्योंकि जो धर्मभूत

ज्ञान द्रव्यरूप है, उसका सुख-दुःखादिरूपेण अवस्थाविशेष उत्पन्न होती है उसमें मन सहायक बनता है. इसलिये मनकी आवश्यकता है. मनका अलग विषय नहीं है, आत्मप्रत्यक्ष है.

डी.प्रह्लादाचार्य : मयातु इदं सूचनीयं भवति, यथा शास्त्रिचरणैः उक्तं, भेदो यदा प्रत्यक्षीक्रियते तदानीम् अन्योन्याश्रयादिदोषाः भवन्ति इति. तत्तु घटादिपदार्थानां प्रत्यक्षकाले अनुपपत्तिं प्रदर्शयितुं न उक्तम् इति अहं चिन्तयामि. किन्तु अद्वैतसिद्धान्ते भेदः खण्ड्यते भेदो यदि कश्चन पदार्थः स्वीक्रियते तस्य ज्ञानं कथं भवति इति वक्तुमेव न शक्यते. श्रीहर्षेण ...

कृष्णमूर्ति शास्त्री : ''भिन्ने अभिन्ने भेदः किं भिन्ने उत अभिन्ने''

डी.प्रह्लादाचार्य : एवम्. तत्र भेदः सप्रतियोगिकः इत्येवं रीत्या ... एवञ्च भेदखण्डनम् अन्यत्. भेदाः न परमार्थभूताः इति अत्र 'भेदाः' न पदार्थाः इति किन्तु वस्तूनां ये भेदाः भवन्ति, द्वैतिभिः विशिष्टाद्वैतिभिः अन्यैश्च द्वैतिभिः अंगीक्रियन्ते ते भेदाः वस्तुतो न सन्ति इति साधनार्थम् अयं प्रयत्नो नतु पदार्थानां ग्रहणे काचन अनुपपत्तिः अस्ति वक्तुम् अयं प्रयत्नः.

के.ई.देवनाथन् : वदामि. विवरणादेव अस्माकं भाष्यकारैः सर्वम् अनूद्यते. भाष्ये '' 'घटो अस्ति' इत्यत्र अस्तित्वं तद्भेदः च व्यवह्रियते'' इत्यस्य सर्वस्यापि भाष्यस्य मूलं विवरणे दृश्यम्. 'महापूर्वपक्षः' इति ग्रन्थे वर्तमानाः सर्वेऽपि अंशाः विवरणानुसारेणैव अस्माभिः लिख्यन्ते. यतो अहन्तु विवरणम् अस्मिन् विषये न दृष्टवान् परन्तु अत्रतु निश्चितप्रकारेण वक्तुं शक्नोमि, अयं ग्रन्थो विवरणादेव उपात्तः.

डी.प्रह्लादाचार्य : परन्तु 'भेद'शब्दः विशेषपर्यायोऽपि बहुधा प्रयुज्यते.

यज्ञेश्वर शास्त्री : प्रत्यक्षसामान्यलक्षणम् उच्यताम् अनन्तरं सविकल्पक-निर्विकल्पकभेदः.

के.ई.देवनाथन् : 'साक्षात्कारित्वं' प्रत्यक्षसामान्यलक्षणम्. साक्षात्कारित्वञ्च जातिः. यदि जातिः न भवति तर्हि ''ज्ञायमानकारणकत्वाभावे सति स्मृतिभिन्नत्वे सति ज्ञानत्वम्'' इति प्रत्यक्ष...

डी. प्रह्लादाचार्य : विशिष्टाद्वैतसिद्धान्ते बहवो अपूर्वाः विषयाः प्रतिपादिताः. यद्यपि निर्विकल्पक-सविकल्पकभेदेन प्रत्यक्षं तैः द्विविधम् अंगीक्रियते अथापि अन्यदर्शनरीत्या तन्निर्विकल्पकस्यापि सविकल्पकत्वमेव. निर्विकल्पकत्वं हि पारिभाषिकं तैः अंगीकृतं वर्तते. यद्यपि सविकल्पकं प्रत्यक्षं संस्कारजन्यं भवति, संस्कारमात्रजन्यन्तु न भवति. अयं विशेषः. संस्कारजन्यस्यापि सविकल्पकप्रत्यक्षस्य स्मरणवत् संस्कारमात्रजन्यत्वं नास्ति इति हेतोः स्मृतिभिन्नत्वं वक्तुं शक्यते इति तेषां सिद्धान्तः. तेषां मतेतु सुख-दुःखादीनामपि ज्ञानस्वरूपत्वम् अंगीक्रियते. यथा आत्मगुणाः सुख-दुःखादयः स्वीक्रियन्ते न्यायसिद्धान्ते तथा नास्ति. किन्तु सुखमपि ज्ञानं; दुःखमपि ज्ञानम्. मनसश्चापि इन्द्रियत्वम् अंगीकृत्य यथा इतरेषां चक्षुरादीनाम् इन्द्रियाणां ज्ञानजनने तेषां किमपि सामर्थ्यं भवति तादृशं सामर्थ्यन्तु न अंगीक्रियते. परन्तु सुखात्मकस्य दुःखात्मकस्य वा ज्ञानस्य जनने मनसः सहकारो वर्तते. अतएव मनसः इन्द्रियत्वं स्वीक्रियते. यद्यपि मनसः इतरेषाम् इन्द्रियाणां यथा ज्ञानजनकत्वं तथा नास्ति अथापि इन्द्रियत्वं श्रुतिबलात् प्रमाणबलात् स्वीक्रियते. तथापि सर्वथा ज्ञानजनकत्वं नास्ति इति न. ज्ञानजनने सहकारप्रदत्वेन तस्य कथञ्चित् इन्द्रियत्वम्. चक्षुरादीनामपि तथैव. तत्र वैलक्षण्यं नास्ति. तन्मते ज्ञानम् अन्तःकरणवत् यथा सांख्यानाम् अद्वैतिनां च अन्तःकरणं भवति, अन्तःकरणं बहिः निर्गत्य विषयं संस्पृश्य विषयाकारं लभते तथा एतन्मते अन्तःकरणस्य विषयेन सह संयोगो भवति. देहान्तर्गतं ज्ञानं द्रव्य ... ज्ञानस्य च संकोचः विकासः च भवति तन्मतरीत्या. ज्ञानस्य यदा विकासो भवति तदानीं...

के.ई.देवनाथन् : यदि इन्द्रियसंस्पृष्टं ... ज्ञानं बहिः गच्छति तेन इन्द्रियेण चाक्षुषं ज्ञानं जातम् इति व्यवहारः. एवमेव मनसोऽपि तथैव. ज्ञानस्य प्रसरकाले यदि मनसः सम्बन्धो भवति तदानीं सुख-दुःखादिकम् उच्यते.

सिद्धेश्वर भट्ट : मनः इन्द्रियद्वारेण गच्छति ?

डी.प्रह्लादाचार्य : ज्ञानमेव गच्छति. मनो बहिर् न गच्छति. तज्ज्ञाने मनः संयुक्तं भवति. धर्मिभूतं ज्ञानं धर्मभूतं ज्ञानम् इति ज्ञानद्वयं स्वीकृतम् अस्ति. धर्मिभूतं ज्ञानं हि चैतन्यात्मकं भवति. अनया रीत्या बहवो अपूर्वाः विषयाः विशिष्टाद्वैतमतरीत्या विवृताः वर्तन्ते. मन्ये एतस्याः गोष्ठ्याः आयोजनस्य प्रधानतः उद्देश्य अयमेव यद् विभिन्नेषु दर्शनेषु यथा प्रत्यक्षस्य स्वरूपं प्रतिपादितं वर्तते तत्र के विशेषांशाः वर्तन्ते तेषाम् अवगमो यथा निर्दुष्टया रीत्या अस्माकं समेषां स्यात् तथैव प्रतिपादनं कर्तव्यं श्रोतव्यं च. ततश्च इदम् अधिवेशनं सफलम् इति मन्ये.

......+

संगोष्ठ्युत्तरलेखनम्

गोस्वामी श्याम मनोहर

सुहृत्तमैः विद्वद्वर्यैः तत्र भवद्भिः श्रीदेवनाथन् महोदयैः विशिष्टाद्वैतवादसरण्या प्रत्यक्षप्रमाणस्वरूपं संक्षिप्तमपि अतीव सुष्ठुतया उपपादितम्. एतेन प्रत्यक्षविचारगोष्ठ्यां सर्वे सहभागिनो नूनं विदितवेदितव्याः सम्पादिताः. तस्माद् यद् तावत् सत्राध्यक्षमहाभागैः स्पृहणीयवैदुष्यैः श्रीप्रह्लादाचारिभिः उक्तं ‘‘**मन्ये एतस्याः गोष्ठ्याः आयोजनस्य प्रधानतः उद्देश्यो अयमेव यद् विभिन्नेषु दर्शनेषु यथा प्रत्यक्षस्य स्वरूपं प्रतिपादितं वर्तते तत्र के विशेषांशाः वर्तन्ते तेषाम् अवगमो यथा निर्दुष्टया रीत्या अस्माकं**

समेषां स्यात् तथैव प्रतिपादनं कर्तव्यं श्रोतव्यं च. ततश्च इदम् अधिवेशनं सफलम् इति मन्ये'' इति तत् सर्वथा अवितथमेव. तथापि विशिष्टाद्वैतमतमतश्रवणेन सञ्जातकुतुहलानां तत्र उपस्थितानां विदुषां बहुविधायाः जिज्ञासायाः समाधानएव विचारसत्रोपसंहारो जातः. अहमपि तत्तत्प्रश्नोत्तरयोः श्रवणाय समुत्सुकएव नाशकं किमपि प्रष्टुं, विशेषतो यत् श्रीदेवनाथन् महोदयैः वाल्लभमतविषये विधानं कृतं तद्विषयम् अधिकृत्य. इदानीं लब्धावसरो अहम् इह यत् मनसि किमपि तदानीं प्रतुष्टूषितं मुखतो प्राद्रवत् तत् मल्लेखिन्या बध्नामि :

तथाहि श्रीदेवनाथन् महोदयैः ''श्रोत्रस्य आहंकारिकस्य आकाशरूपत्वस्य अवैदिकत्वाद् दृष्टान्तोऽपि न युक्तः'' इति यद् उक्तं तत्र '' 'दिशः श्रोत्रं **भूत्वा कर्णौ प्राविशन्' इति श्रुतेः दिक्श्रोत्रयोः ऐक्यम् इति अर्थः''** (श्रीरंगरामानुजीया बृहदारण्यप्रकाशिका : ४।१।५) इति श्रीरंगरामानुजैः आहंकारिकस्यैव श्रौत्रस्य दिग्भिः ऐक्यन्तु अंगीकृतमेव. तस्मात् समानन्यायेन आकाशरूपत्वेऽपि न हानिः काचित् कल्पनीया. किञ्च दिशः स्वरूपं किम्? इति जिज्ञासायां श्रुतिरेव किल आह **''श्रोत्रमेव आयतनम् आकाशः प्रतिष्ठा अनन्तः... का अनन्तता? दिशएव... यां कां च दिशं गच्छति नैव अस्य अन्तं गच्छति. अनन्ता दिशो, दिशो वै श्रोत्रम्''** (बृह.उप.४।१।५) इति आकाशस्य आनन्त्यमेव दिशः चेद्, दिक्प्रवेशः खलु आकाशप्रवेशएव. तस्माद् ''दिशो वै श्रोत्रम्'' इति उक्त्या ''आकाशो वै श्रोत्रम्'' इत्यपि अर्थलम्नमेव आयाति. ततः श्रोत्रस्य आकाशरूपतायां न बहुविवादः प्रवर्तनीयः. किञ्च अधोनिर्दिष्टश्रुतिभागवतवचनैरपि श्रौत्रस्य आकाशरूपत्वे न काचित् महती हानिः लक्ष्यते :

१. **''आकाशेन आह्वयति आकाशेन शृणोति''** (छान्दो.उप.७।-१२।१).

२. **''कर्णौ निरभिद्येतां कर्णाभ्यां श्रोत्रं श्रोत्राद् दिशः''** (ऐत.उप.१।४).

३. **''श्रोत्रमेव अस्याः एकम् अंगम् अदूह्ळं तस्य शब्दः परस्ताद् विहिता भूतमात्रा''** (कौषी.उप.३।५).

४.''प्राणस्य हि क्रियाशक्तिः बुद्धेः विज्ञानशक्तिता. तामसात् च विकुर्वाणाद् भगवद्वीर्यचोदितात् शब्दमात्रम् अभूत्, तस्माद् नभः, श्रोत्रन्तु शब्दगम्, अर्थाश्रयत्वं शब्दस्य, द्रष्टुः लिंगत्वमेव च तन्मात्रत्वं नभसो लक्षणं कवयो विदुः'' (भाग.पुरा.३।२६।३१-३३).

एतेन शब्दानाम् आयतनं श्रोत्रमेव चेत् तदा किम् अन्तर्गडुना आकाशस्य प्रतिष्ठात्वप्रतिपादनेन ? ततश्च सिद्धं श्रोत्रस्य आयतनत्वं नाम शब्दोपलब्धिस्थानत्वं, तथैव आकाशस्य प्रतिष्ठात्वं नाम ग्राह्यग्राहकभावापन्ने शब्दश्रोत्रे यत्र प्रतिष्ठतः इति. एवं हि उभयोरपि आकाशएव प्रतिष्ठितत्वेन यत् श्रोत्रेण शृणोति तद् आकाशेनैव शृणोति इति अभेदनिरूपणमपि संगतं भवेत्. तस्मात् आहंकारिकस्यैव श्रोत्रस्य आकाशरूपत्वमपि वैदिकमेवेति श्रीपुरुषोत्तमप्रदत्तो दृष्टान्तोऽपि न अयुक्तः.

यत् पुनः ''ज्ञानस्य आत्मनिष्ठत्वाभावे चेतनत्वव्यवहारोऽपि ततो न घटेत'' इति उक्तं तत्रापि एवं प्रतिभाति यत् **''श्रोत्रं शृण्वत् सर्वे प्राणाः अनुशृण्वन्ति''** (कौषी.उप.३।२) इति श्रुतौ प्रकरणानुरोधेन प्रज्ञाप्राणयोः अन्योन्याश्रिततया अभेदविवक्षया प्रज्ञायाएव अनुश्रोतृत्वं, तेन श्रोतृत्वन्तु श्रोत्रस्यापि सिध्यत्येव. तस्माद् विज्ञातुः न जातु कर्तुः करणापेक्षायां कर्तृतापलापो आपादयितुं उचितः. तस्माद् विज्ञातुः विज्ञानं बाह्याभ्यन्तरैः विज्ञानकरणैः सम्पद्यमानं न विज्ञातुः विज्ञानविपरिलोपाय मन्तव्यं किमुत तद्दाढर्यायैव. सिद्धं तेन विज्ञातुः आत्मविज्ञानस्यैव न कदाचिदपि विपरिलोपो नच एतावता रूपरसगन्धस्पर्शशब्द-तदाश्रयरूपभौतिकवस्तु-विज्ञानानामपि अविपरिलोपो मन्तुं युक्तो निद्रापस्मारादिभिः दैहिकहेतुभिः, शिरसि दण्डाद्याघातरूपैः च बाह्यहेतुभिरपि रूपादिविज्ञानविलोपानां दृष्टचरत्वादेव. प्राणानां हि क्रियाकरणरूपाणां क्रियाशक्तिमत्त्वे विज्ञानकरणरूपायाः बुद्धेरपि वा विज्ञानशक्तिमत्त्वे विज्ञानमूलस्य जीवात्मनोः विज्ञातृत्वहानेः शंका अयुक्तैव, भागवतवचनमूलकत्वादेव. यदपि मनसः इन्द्रियत्वानिन्द्रियत्वरूपोभयविधत्वे हि भावाभावरूपतया न देवत्वपितृत्वतुल्ये इति उक्तं तत्रापि **''अन्यत्रमना अभूवं न नादर्शं नाश्रौषम्''** (बृह.उप,१।५।३) इति श्रुत्या मनसः बाह्यसर्वेन्द्रियनियामकत्वेन अनिन्द्रियत्वं अन्तःकरणरूपतया

च इन्द्रियत्वमपि इति हेतुकम्. एवं हि ''**इन्द्रियाणां मनः च अस्मि**'', ''**इन्द्रियेभ्यः परं मनः**'' (भग.गीता.३।४२ ,१०।२२) इत्याद्युभयविधनिरूपणानुरोध्येव तथास्वीकरणम् इति प्रतिभाति.

यत् पुनः घ्राणरसनश्रवणादीनां द्रव्याग्राहकत्वोपपत्तितया पूर्वाननुभूतदुग्धानामपि रसनया दुग्धरसास्वादे तमसि दुग्धानुभूत्यापादनं तत्तु जायमानं सर्वं प्रथमं ज्ञानं निर्विकल्पकम् अथ द्वितीयादि तु सविकल्पकमेव इति वदतां वादिनां कृते सर्वस्यापि सविकल्पकप्रत्यक्षस्य अनुमित्यन्तर्भावाय किं न प्रभवेत्? सर्वाः हि धर्मप्रतीतयो धर्मिप्रतीतिहेतुकाः इति अदण्डवारितया व्याप्तिनिश्चयसंस्कारसहितया घटत्वप्रतीत्या स्फीतालोकेऽपि घटप्रत्यक्षस्य घटानुमितित्वप्रसक्तिः.

सर्वथा हि तत्र सौजन्य-सारल्य-सौहृद-वैदुष्याद्यनेकगुणोपेतैः श्रीदेवनाथन् महोदयैः प्रत्यक्षप्रमाणविचारगोष्ठ्यां वाल्लभवेदान्ताभिमतप्रत्यक्षप्रक्रियालोचनं यत् समुपस्थापितं तदर्थं ते भूयोभूयो धन्यवादार्हाः न तत्र शंकालेशोऽपि इति विरमति अयं संगोष्ठ्युत्तरलेखनस्य कर्ता.

* * *

द्वैतदर्शने प्रत्यक्षस्वरूपम्

प्रो. डी. प्रह्लादाचार

द्वैतदर्शनरीत्या प्रत्यक्षप्रमाणविषये वक्तुम् अहम् आदिष्टो अस्मि. इतरदर्शनेषु समाना: ये अंशा: तान् अंशान् विहाय द्वैतदर्शने ये विशेषांशा: भवन्ति तानेव प्रस्तोतुम् इच्छामि.

द्वैतदर्शने प्रमाणसामान्यलक्षणम् उच्यते : ''यथार्थं प्रमाणम्'' इति. एतस्मिन् मते प्रमाणं द्विविधं : १. केवलप्रमाणम् २. अनुप्रमाणं च इति.

'केवलप्रमाणं' नाम यथार्थं ज्ञानम्. ज्ञानं भवति केवलप्रमाणम् यदि ज्ञानं यथार्थं स्यात्. तथाच इन्द्रियजन्यं ज्ञानं वा भवतु, शब्दजन्यं ज्ञानं वा भवतु, अनुमानजन्यं वा ज्ञानं भवतु तत् सर्वं केवलप्रमाणं भवति. अपिच इन्द्रियम् अथवा अनुमानं, शब्दः एतान्यपि प्रमाणत्वेन अंगीक्रियन्ते. तथाच केवलप्रमाणम् अनुप्रमाणं च इति प्रमाणं द्विविधम्. यथार्थज्ञानं केवलप्रमाणं, यथार्थज्ञानसाधनम् अनुप्रमाणम्. यथार्थज्ञानसाधनञ्च त्रिविधं भवति : १. प्रत्यक्षम् २. अनुमानं ३. शब्दः च इति.

केवलप्रमाणस्य अनुप्रमाणस्य च अनुगतं लक्षणं भवति प्रमाणत्वम्. ''यथार्थं प्रमाणम्'' इति उभयमपि प्रमाणत्वेन स्वीक्रियते. अतएव यथार्थत्वं प्रमाणसामान्यलक्षणम् उच्यते. यथार्थत्वं प्रमाणसामान्यलक्षणम्. 'यथार्थत्वं' नाम यथावस्थित-ज्ञेयविषयीकारित्वम्. वस्तु ...

वी. एन्. झा : ...
डी. प्रह्लादाचार : अनुप्रमाणेष्वपि.
वी. एन्. झा : ज्ञानमेव? ...

डी. प्रह्लादाचार : नहि. ज्ञानं वा भवतु इन्द्रियादिकं ज्ञानसाधनं वा भवतु तद् उभयमपि यथार्थं, यथावस्थितज्ञेयविषयीकारि इति. अर्थो यथा अवतिष्ठते तथा विषयीकरोति चेत् यथावस्थितार्थविषयीकारित्वम् आयाति. इदञ्च ज्ञानस्यापि भवति, इन्द्रियादीनामपि ज्ञानसाधनानां भवति. परन्तु अत्र इदं वैलक्षण्यम् अस्ति, ज्ञानं साक्षाद्वस्तुविषयीकारि, ज्ञानसाधनानितु ज्ञानद्वारा वस्तुविषयीकारीणि भवन्ति. परन्तु , यथावस्थित-ज्ञेयविषयीकारित्वं, यथावस्थितार्थविषयीकारित्वम् उभयसाधारणं भवति, केवलप्रमाणस्य अनुप्रमाणस्य च साधारणं भवति इति अंगीक्रियते. तत्र अनुप्रमाणं त्रिविधम् इति उक्तम् : १. प्रत्यक्षम् , २. अनुमानं, ३. शब्दः च इति.

प्रत्यक्षस्य लक्षणम् उक्तं : ''निर्दोषार्थेन्द्रिय-सन्निकर्षः प्रत्यक्षम्'' इति. 'प्रत्यक्ष'शब्दः कदाचिद् ज्ञाने प्रयुज्यते, ज्ञानसाधनेऽपि कदाचित् प्रयुज्यते. यदा ज्ञानं प्रत्यक्षम् इति उच्यते तर्हि निर्दोषार्थेन्द्रिय-सन्निकर्षजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम् इति भवति. यदाच ज्ञानसाधनं प्रत्यक्षम् इति उच्यते तदा निर्दोषार्थेन्द्रिय-सन्निकर्षः प्रत्यक्षम् इति उच्यते.

'निर्दोषत्वम्' उभयोः विशेषणम्; इन्द्रियस्य अर्थस्य च. निर्दोषेन्द्रियस्य निर्दोषेण अर्थेन सह यः सन्निकर्षः स प्रत्यक्षम्. काचकामलादयः दोषाः इन्द्रियदोषाः भवन्ति. अतिदूरस्थत्वम् अतिसामीप्यं, सौक्ष्म्यं, व्यवधानम् इत्यादयः अर्थदोषाः भवन्ति. एवञ्च दोषरहितेन्द्रियेण दोषरहितस्य अर्थस्य यः सन्निकर्षः भवति सः प्रत्यक्षम् इति अंगीक्रियते.

मनसः इन्द्रियत्वम् :

तत्र कैश्चित् पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि स्वीकृतानि. बाह्येन्द्रियाणि पञ्च अन्तरिन्द्रियम् एकं मनः इति षडिन्द्रियाणि इति केषाञ्चित् मते भवति.

अद्वैतसिद्धान्तेतु मनसः इन्द्रियत्वं न स्वीकृतम्. पञ्चैव ज्ञानेन्द्रियाणि

स्वीकृतानि वर्तन्ते. किन्तु द्वैतदर्शने न पञ्चैव इन्द्रियाणि नापि षडेव किन्तु सप्त इन्द्रियाणि भवन्ति इति उच्यते. अयम् अत्र विशेषः.

तत्र इन्द्रियं द्विविधं भवति : १. प्रमातृस्वरूपं २. प्राकृतञ्च इति. प्रमाता भवति चेतनः. तत्स्वरूपम् इन्द्रियम्. तदात्मकम् इन्द्रियं 'साक्षी' इति उच्यते. इतराणि षडिन्द्रियाणि सर्वाण्यपि प्राकृतानि भवन्ति. पञ्च बाह्येन्द्रियाणि, अन्तःकरणम् एकम् एवं षडपि इन्द्रियाणि प्रकृतिपरिणामभूतानि भवन्ति. प्रकृतेः परिणामो महत्-तत्त्वं, महतो अहंकारः, अहंकारस्य परिणामभूतानि एतानि इन्द्रियाणि भवन्ति इति उच्यते.

अत्र मनसः इन्द्रियत्वं ये न अंगीकुर्वन्ति तत्र विरोधः क्रियते. प्रस्थानरत्नाकरेऽपि अयम् अंशः चर्चितो वर्तते. मनसस्तु ''बाह्येन्द्रियाधिष्ठानेन सर्वबाह्येन्द्रियविषयविषयकेन्द्रियत्वम्''. बाह्येन्द्रियाणां ये विषयाः भवन्ति ते सर्वेऽपि मनसोऽपि विषयाः. परन्तु न साक्षात्, बाह्येन्द्रियाधिष्ठानेन — बाह्येन्द्रियद्वारा. एवञ्च बाह्येन्द्रियाधिष्ठानेन सर्वबाह्येन्द्रिय-विषय-विषयकेन्द्रियत्वं मनसः लक्षणम् अंगीक्रियते. तत्र ''सर्वबाह्येन्द्रिय-विषय-विषयकत्वम्'' इत्येव यदि लक्षणम् उच्यते तर्हि मनसः साक्षाद् बाह्याः पदार्थाः विषयाः न भवन्ति. अतः सर्वबाह्येन्द्रिय-विषय-विषयकत्वं मनसो नास्ति इति असम्भवशंका स्यात्. तत्परिहाराय इदम् उच्यते ''बाह्येन्द्रियाधिष्ठानेन'' इति. बाह्येन्द्रियद्वारा, बाह्येन्द्रियाणि अधिष्ठाय मनो बाह्यानपि अर्थान् विषयीकरोति.

तत्र आक्षेपः प्रधानतया क्रियते मनसः इन्द्रियत्वे तस्य असाधारणं फलं किमपि स्यात्. असाधारणं फलं मनोजन्यं किमपि नास्ति. विषयभेदोऽपि नास्ति. यतोहि मनसः ... इतरेषाम् इन्द्रियाणां ये विषयाः तएव मनसः विषयाः. इतरैः इन्द्रियैः यत् फलम् उत्पद्यते तदेव फलं भवति मनसः फलम्. एवञ्च असाधारणो विषयोऽपि नास्ति, असाधारणं फलमपि नास्ति तस्मात् मनसः इन्द्रियत्वं कथम्? इति प्रश्नः सम्भवति.

तत्र उच्यते, असाधारणविषयो नास्ति इति भवतु नाम. असाधारणन्तु फलम् अंगीक्रियते. मनसः स्वातन्त्र्येण स्मरणसाधनत्वम् अंगीक्रियते. बाह्येन्द्रियम् अद्वारीकृत्यापि मनः साक्षात् स्मरणस्य साधनं भवति. एवञ्च अस्मिन् दर्शने स्मरणं मानसप्रत्यक्षमेव. इन्द्रियजन्यज्ञानत्वं हि प्रत्यक्षस्य लक्षणम्. मनोजन्यं ज्ञानं भवति स्मरणम्. तस्मात् कारणात् स्मरणरूपं यत् फलं वर्तते तत् न कस्यापि इतरस्य इन्द्रियस्य. मनसएव तत् फलं भवति. एकम् असाधारणं फलं किमपि वर्तते तस्मात् मनः पृथगिन्द्रियम्.

प्रद्योतकुमार : तस्य प्रत्यक्षत्वं कथम् ?

डी.प्रह्लादाचार : इन्द्रियजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम् ...

प्रद्योतकुमार : इन्द्रियत्वं मनसः इदानीमपि न उपपादितम्! यदि तस्य फलभेदो अस्ति तदेव तस्य इन्द्रियत्वम्. इन्द्रियत्वम् अद्यापि उपपादितम्. अन्योन्याश्रयो भवति.

डी.प्रह्लादाचार : तत्रापि विचारं करोमि.

मनः प्रमाणमेव न भवति इति एकं मतम्. प्रमाणं कुतो ´ न भवति? इति चेत्, प्रमायाः अनाश्रयत्वात्. पूर्वपक्षम् अनुवदन् अस्मि. मनोवृत्तयो याः उत्पद्यन्ते तासामपि ज्ञानत्वं स्वीकृतम् वेदान्तिनां मते. वृत्तयः चैतन्यरूपं च इति ज्ञानं द्विविधं भवति. वृत्त्यात्मकमपि ज्ञानम् अंगीक्रियते. ताश्च वृत्तयो मनसो विकारभूताः, परिणामभूताः. तस्मात् तासां वृत्तीनाम् आश्रयो मनो अंगीक्रियते. मनो यदा प्रमायाः आश्रयो भवति, प्रमाश्रयत्वात् मनः प्रमाणं न भवति. अयम् एकः पूर्वपक्षः. मनः प्रमाणमेव नास्ति. यथा प्रमाता नहि प्रमाणं भवति. नैयायिकानामपि मते ईश्वरः प्रमाणम् अंगीक्रियते. परन्तु अयं जीवो यः प्रमाता, प्रमायाः आश्रयः, सः प्रमाणं न अंगीक्रियते. तद्वदेव मनसोऽपि वृत्तिरूपप्रमाश्रयत्वात् प्रमाणत्वमेव नास्ति इति अयम् एकः पूर्वपक्षः.

अपिच चक्षुरादीनां प्रमाणानां विषये मनसः सहकारित्वम् अस्ति.

प्रमाणसहकारित्वात् च तस्य प्रमाणत्वं नास्ति यथा आलोकस्य. चक्षुषा यदा ज्ञानं जायते तदानीम् आलोकः सहकारिकारणं भवति. तथा मनोऽपि सर्वेन्द्रियाणाम्. यदि सहकारिकारणस्य प्रमाणत्वं स्वीक्रियते तर्हि आलोकोऽपि प्रमाणान्तरं स्यात्. तस्माद् यथा आलोकस्य प्रमाणत्वं नास्ति तथैव मनसोऽपि प्रमाणत्वं नास्ति. तथाच प्रमाणसहकारित्वात्, प्रमायाः आश्रयत्वात्, अपिच पृथग् विषयस्यापि अभावतो मनसः इन्द्रियत्वं कुतः? इत्येवम् आक्षेपाः भवन्ति.

अद्वैतमतेन मनसः इन्द्रियत्वं यद् निराकुर्वाणेन इदमपि चिन्त्यते यत् गीतावाक्ये ''इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः अर्थेभ्यश्च परं मनः'' इत्यत्र इन्द्रियेभ्यः प्रत्येकशः परो मनः संकीर्त्यते. यदि मनोऽपि इन्द्रियं स्यात् तर्हि ''इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः अर्थेभ्यश्च परं मनः'' इति कुतः? एवं मनसः इन्द्रियत्वं नास्ति इति अत्र इदमपि एकं प्रमाणम् उच्यते.

तत्र सर्वत्रापि इदं समाधानम् उच्यते : मनसः फलं स्मरणं वर्तते. स्मरणस्य मनोजन्यत्वम् अंगीक्रियते. मनः करणम्. यथा चाक्षुषप्रत्यक्षं प्रति चक्षुः करणं भवति, संयोग-सन्निकर्षो वा अन्यसन्निकर्षो वा तत्र व्यापारो भवति, फलञ्च चाक्षुषप्रत्यक्षं भवति. तद्वदेव मनो अत्र करणं, संस्कारः सन्निकर्षः, स्मरणञ्च मनोजन्यं ज्ञानं फलम्.

मनसः इन्द्रियत्वे किं प्रमाणम् इति प्रच्छ्यते. अन्यथा अन्योन्याश्रयः स्याद् इति. अत्र उच्यते : मनसः इन्द्रियत्वे श्रुतयः स्मृतयः च प्रमाणं भवन्ति. गीतायामेव ''मनःषष्ठानि इन्द्रियाणि'' इति वाक्यम् अस्ति. तद्वदेव ''इन्द्रियाणां मनश्च अस्मि'' इति विभूतियोगे मनसः इन्द्रियाणां मध्ये अन्तर्भावः श्रूयते. यद्यपि ''इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः'' इत्यत्र मनसः पृथक् कीर्तनं वर्तते. परन्तु, तेन मनसः इन्द्रियेभ्यः पृथक्त्वं वर्तते, इन्द्रियत्वं न अस्ति इति न वक्तुं शक्यम्. तत्र कुरु-पाण्डवन्यायेन तस्य कीर्तनम्. ''सन्तानबीजं कुरु-पाण्डवानाम्'' पाण्डवानामपि कौरवत्वम् अस्त्येव. अत्रापि

इत्यादौ बहुत्र कुरुभ्यः पृथक् पाण्डवानां संकीर्तनं श्रूयते. तथैव इन्द्रियस्य मनसः इन्द्रियेभ्यः पृथक् प्रस्तावो न अयुक्तः.

मनसः इन्द्रियेभ्यः पार्थक्यं वदताम् अयम् अभिप्रायः : ''वेदान् अध्यापयामास महाभारतपञ्चमान्'' इति श्रूयते तत्र सजातीयगत-संख्या-पूरकत्वं सजातीयस्य इति नास्ति. वेदो अपौरुषेयो, महाभारतञ्च पौरुषेयं भवति. एवञ्च अनयोः वैजात्यम् अस्ति. अथापि ''महाभारतपञ्चमाः वेदाः'' इति उच्यन्ते. वेदविजातीयस्यापि महाभारतस्य पञ्चत्वसंख्यापूरकत्वं यथा अंगीक्रियते तथा ''मनःषष्ठानि इन्द्रियाणि'' इति अत्र इन्द्रियविजातीयस्यापि मनसः इन्द्रियगत-षट्त्व-संख्यापूरकत्वम् अंगीकर्तुं शक्यते इति. अत्र इदं वक्तव्यं यत् सजातीयस्य सजातीयगत-संख्यापूरकत्वमिव, विजातीयस्य विजातीयगत-संख्यापूरकत्वमपि दृश्यते इति उभयं सत्यमेव. परन्तु मनसः इन्द्रियत्वे अनेकानि प्रमाणानि वर्तन्ते. यथा ''इन्द्रियाणां मनश्चास्मि'' इति गीतावाक्यम्. अत्र मनसः इन्द्रियत्वं स्पष्टं प्रतिपादितम् अस्ति. अपिच भागवते ''इन्द्रियाणि दशैकञ्च पञ्च चेन्द्रियगोचराः'' अस्मिन् वाक्ये ''इन्द्रियाणि दश एकञ्च'' इति मनः इन्द्रियान्तर्गतम् अस्ति. अत्र उपचारो नास्ति. अन्यत्र भागवते नवमस्कन्धे ''यतिः ययातिः संयातिः आयतिः वियतिः कृतिः, षडिमे नहुषस्य आसन् इन्द्रियाणीव देहिनः'' (भाग.पुरा.९।१८।१) इति. नहुषस्य षट्पुत्राः आसन् यथा तथा षडिन्द्रियाणि देहिनो वर्तन्ते इति वर्ण्यते. षडिन्द्रियाणि इति तत्र मनसः इन्द्रियेषु अन्तर्भावं स्वीकृत्य कथितं वर्तते. एवं भागवते तत्र-तत्र गीतायां च मनसः इन्द्रियत्वप्रतिपादनं स्पष्टं वर्तते इति हेतोः ...

विन्ध्येश्वरीप्रसाद : ...

डी.प्रह्लादाचार : तत्रतु समाधानम् उक्तम्. मनसः किञ्चिद् वैशिष्ट्यं वर्तते अतः मनसः पृथक् संकीर्तनम् इति. मनसो वैशिष्ट्यं किम्? इति चेत्, इन्द्रियसहकारित्वम्. सर्वेन्द्रियसहकारित्वं हि मनसो असाधारणो धर्मः. एवं मनसः इन्द्रियत्वे सिद्धे मनोजन्यं स्मरणात्मकं ज्ञानं प्रत्यक्षम्

इति स्वीकार्यम्.

अनेन नैयायिकैः —ज्ञानं द्विविधं : १. स्मृतिः २. अनुभवः च इति. अनुभवश्च चतुर्विधः : १. प्रत्यक्षम् २. अनुमितिः ३. उपमितिः ४. शाब्दः च इति यो विभागः क्रियते सो अपाक्रियते. स्मृतेरपि अनुभवएव अन्तर्भावो, मानसप्रत्यक्षम् इयं भवति इति हेतोः. तत्रच संस्कारस्य सन्निकर्षत्वं स्वीक्रियते.

अत्रापि कश्चन प्रश्नो भवति. संस्कारस्य अयं स्वभावो यत् पूर्वानुभूतं विषयम् उपस्थापयतीति. अननुभूतस्य विषयस्य उपस्थापकः संस्कारः कदापि न भवति. किन्तु, स्मरणे अनुभूताएव विषयाः विषयीक्रियन्ते उत अननुभूताअपि ? इति.

स्मरणं तावत् ''सो देवदत्तः तत्र आसीत्''. 'सः' इत्यनेन अतीत-देशकालसम्बन्धः. तस्मिन् पुरुषे इदानीं विषयीक्रियते. 'अतीतत्वं' नाम ध्वंसप्रतियोगित्वम्. पूर्वन्तु अतीतत्वं न अनुभूतम्. यदा देवदत्तविषयको अनुभवः पूर्वं जातः तस्मिन् काले अतीतत्वस्य अनुभवो नास्ति. इदानीं स्मरणेतु अतीतत्वस्य विषयीकरणं वर्तते. अतीतत्वं संस्कारेण कथम् उपस्थापयितुं शक्यते ? अतीतत्वं तावत् अननुभूतं कथं वा स्मरणेन विषयीकर्तुं शक्यते ? संस्कारस्य तत्र कथं सामर्थ्यम् ? इति कश्चित् प्रश्नो भवति. परन्तु मनः करणं, संस्कारो व्यापारः इति यदा उच्यते तदानीं नास्ति दोषः. संस्कारस्य अननुभूत-विषयोपस्थापकत्वं तावत् प्रत्यभिज्ञायां दृश्यते. संस्कार-सन्निकर्षाभ्यां जायमानं ज्ञानं 'प्रत्यक्षम्' उच्यते. तत्र संस्कारोऽपि कारणम्. तत्र अतीतत्वांशो यः प्रत्यभिज्ञायां विषयीक्रियते सच अतीतत्वांशः संस्कारबलात् उपस्थाप्यते. ततश्च संस्कारस्य अननुभूत-विषयोपस्थापकत्वं सर्वेणापि प्रत्यभिज्ञाविषये अंगीकृतं वर्तते. एवं स्मरणस्थलेऽपि अननुभूतस्यापि अतीतत्वस्य विषयीकरणं संस्कारवशाद् भवति. संस्कारस्य तादृशं सामर्थ्यं सर्वैरपि अंगीकर्तव्यं भवति. इति हेतोः तत्र मनः करणं, संस्कारः व्यापारः, स्मृतिश्च फलम्. एवं स्मरणम् असाधारणं फलं भवति मनसः. तस्मात्,

मनसः इन्द्रियत्वं वर्तते इति हेतोः स्मरणं मानसप्रत्यक्षम्. तस्य प्रत्यक्षभिन्नत्वं कथमपि वक्तुं न शक्यते इति द्वैतदर्शने प्रतिपाद्यते.

एतस्मिन् दर्शने साक्षिरूपम् इन्द्रियं स्वीकृतं वर्तते. आत्मस्वरूपम् इन्द्रियं 'साक्षी' इति उच्यते. अत्रतु अयं विशेषः. 'साक्षी' इति शब्दः इन्द्रियेऽपि प्रयुज्यते, फलेऽपि प्रयुज्यते. अत्र आत्मा तावत् फलरूपोऽपि. साक्षिज्ञानस्वरूपम् अस्ति तथा इन्द्रियस्वरूपमपि, उभयमपि आत्मस्वरूपमेव. साक्षिरूपस्य ज्ञानस्य आत्मस्वरूपं विषयः, आत्मधर्माः सुख-दुःखादयः ये भवन्ति तेऽपि विषयाः, एवं आकाशः, कालः, मनः, मनोवृत्तयः, एते सर्वेऽपि साक्षिविषयाः एतस्मिन् दर्शने स्वीक्रियन्ते.

गोस्वामिचरणैः यदा विषयनिरूपणं कृतं तत्र मया श्रुतं यत् सुषुप्तिकाले चित्तं जाग्रतं भवति. अन्तःकरणस्य प्रभेदेषु अन्यतमद् भवति चित्तम्. चित्तस्य जाग्रत्त्वं स्वीक्रियते. चित्तेन तावद् आत्मनो अनुभवो वर्तते इति. किन्तु द्वैतदर्शने, अद्वैतदर्शने, विशिष्टाद्वैतदर्शने अपि मनः सर्वथा सुषुप्तौ उपरतं भवति. मनसो जाग्रत्त्वं सुषुप्तिकाले कथमपि नास्ति.

नैयायिकाः वदन्ति, सुषुप्तिकाले ज्ञानमेव नास्ति इति. तत्र दुःखाभावो वर्तते. दुःखाभावस्य अनुभवोऽपि नास्ति. कुतः? किमपि करणं तत्र नास्ति. करणानि भवन्ति षट्, बाह्येन्द्रियाणि अन्तरिन्द्रियं च. सर्वाण्यपि करणानि सुषुप्तिकाले उपरतानि सन्ति. एवञ्च ज्ञानसाधनं किमपि नास्ति. तस्मात् सुषुप्तिकाले ज्ञानमेव नास्ति इति.

अद्वैतवेदान्तिनस्तु स्वापकाले आनन्दस्य अनुभवो वर्तते. अयञ्च आनन्दः आत्मस्वरूपभूत इति स्वीकुर्वन्ति. यतोहि ''एतावन्तं कालं सुखम् अहम् अस्वाप्सम्'' इत्येवम् औत्तरकालीनः परामर्शो भवति तस्मात् कारणात् सुखस्य अनुभवो अवश्यं स्वीकर्तव्यः सुषुप्तिकाले. सुखस्य अनुभवः केन वा करणेन भवति? मनः तथा सर्वविधं करणं तदानीम् उपरतं वर्तते.

तदानीम् आत्मा वर्तते. आत्माच स्वप्रकाश:, आत्मस्वरूपं, साक्षिरूपं ज्ञानं आत्मस्वरूपभूतं सुखं विषयीकरोति. सुखानुभव: चैतन्यात्मक: वर्तते इति वेदान्तिनां मतम्.

प्रद्योतकुमार : सुषुप्तिकाले यत् सुखं प्रकाशितं भवति तत्सुखं ...
डी.प्रह्लादाचार : न वैषयिकं सुखम्.
प्रद्योतकुमार : न. आनन्दस्वरूपं नतु वृत्तिरूपम्?
डी.प्रह्लादाचार : नैव. सुखं द्विविधम्. १. मन:परिणामभूतं सुखम् एकम्. एतदेव वृत्तिरूपं सुखम् उच्यते. २. आत्मस्वरूपभूतम् अपरम्. चैतन्यस्वरूपभूतं सुखन्तु सुषुप्तिकाले अनुभूयते. साक्षिरूपस्य ज्ञानस्य अथवा साक्षिरूपस्य इन्द्रियस्य अनेके विषया: भवन्ति. काल: विषय:. ''इदानीम् इदम् अस्ति, इदं नास्ति'' इति वयं वदाम:. 'इदानीम्' इति कालानुभवो वर्तते. अयञ्च कालानुभवो न अनुमानजन्य:. लिंगपरामर्ष: इदानीं नास्ति, शब्द: च नास्ति, उपमानस्य कालविषये प्रसक्तिरेव नास्ति. तथाच प्रत्यक्षानुभव: कालस्य विषये वक्तव्य:. बाह्यानाम् इन्द्रियाणां अन्त:करणस्य च तत्र प्रवेशो नास्ति. किन्तु साक्षिण:.

एवम् आकाशोऽपि साक्षिविषय:. अन्धकारे अस्माभि: हस्तप्रसारणं क्रियते. तदानीम् अस्माकम् अयं विश्वास: ''अस्ति अत्र आकाश:'' इति. आकाशो वर्ततइति सिद्धवत्कृत्य हस्तप्रसारणं कुर्म:. नहि अस्माभि: आकाशो अत्र वर्तते इति केनापि अनुमानेन ज्ञात्वा तदनन्तरं हस्तप्रसार: क्रियते. स्वयं हस्तप्रसार: क्रियते खलु. तस्मात् आकाशोऽपि साक्षिविषय: इति सर्वै: अंगीकर्तव्यं भवति.

मनोरूपम् इन्द्रियं साक्षिविषय:. इतरेषाम् इन्द्रियाणां साक्षिविषयत्वं न उच्यते. बाह्येन्द्रियाणां साक्षिविषयत्वं नास्ति. ''मम मन: एवं वदति'' इति वदाम:. तत्र मदीयं मन: मया अनुभूयते, सुख-दु:खादिमनोवृत्तय: या: भवन्ति तासाम् अनुभवो मम भवत्येव. एवम् एतत् सर्वमपि साक्षिणा

गृह्यते. साक्षिरूपम् इन्द्रियं, साक्षिरूपं ज्ञानं च यदि न स्वीक्रियेते तर्हि आकाशस्य ज्ञानं न स्यात्. अन्तःकरणस्य मनसः आकाशविषये सामर्थ्याभावात्. आकाशो बाह्यः पदार्थः, मनस्तु अन्तरिन्द्रियम्. अन्तःकरणस्य बाह्यार्थे साक्षात् सम्बन्धः केनापि न अंगीकृतः. तथाच कालाकाशादीनाम् अनुभवः कथं भवति इति वक्तुं न शक्यते. एवं सुषुप्तिकाले सुखस्य अनुभवः कथं भवति इति वक्तुं न शक्यते इति हेतोः साक्षिरूपम् इन्द्रियम् अवश्यम् अंगीकार्यम्. अतः इन्द्रियं सप्तविधम् इति एतन्मते स्वीक्रियते.

प्रत्यक्षं तावत् निर्विकल्पकं सविकल्पकम् इति द्विविधं नास्ति. सर्वं ज्ञानं सविकल्पकमेव. शिशोः यज् ज्ञानं भवति तदपि ज्ञानं सविकल्पकमेव. भवन्तः सर्वे वदेयुः कथम् इदमिति. शिशोः यज् ज्ञानं भवति तत् निर्विकल्पकमेव स्याद् इति. परन्तु किमपि प्रमाणं तत्र वक्तव्यम्. शिशोः अनुभवो न मम अनुभवो भवति. भवद्भिः पृच्छ्येत : शिशोः सविकल्पकं ज्ञानम् अस्ति इत्यत्रापि किं प्रमाणम्? इति. परन्तु अस्माकम् अनुभवः परिशील्यतां नाम, अनन्तरं शिशोः अनुभवः परिशीलयितुं शक्येत.

विन्ध्येश्वरीप्रसाद : ... किञ्चिद् इति ज्ञानं जायते ...

डी.प्रह्लादाचार : तर्हि किञ्चित्वप्रकारकं ज्ञानं भवति.

विन्ध्येश्वरीप्रसाद : ...विकल्प...

डी.प्रह्लादाचार : 'विकल्पो' नाम प्रकारः. ''इदं किञ्चिद्'' इत्यत्र किञ्चित्वेन रूपेण ज्ञातं वर्तते. सर्वथा निष्प्रकारकं वस्तुमात्रग्राहकम् ज्ञानं असम्भावितं भवति. अपिच इन्द्रियस्य वस्तुना यदा सन्निकर्षः भवति तदा नैके पदार्थाः भासन्ते इति अवश्यम् अभ्युपगन्तव्यम्. घटो अस्ति, घटे रूपं वर्तते, रूपघटयोः यः समवायः, समवायस्य ऐन्द्रियकत्वं ये अभ्युपगच्छन्ति तन्मते, एते त्रयोऽपि इन्द्रिययोग्याः सन्ति, इन्द्रियेण तेषां सन्निकर्षो भवति. सतिच एवं वस्तुत्रयविषयकं निर्विकल्पकं ज्ञानं जातम् इति वक्तव्यम्. वस्तुत्रयं कुतः? घटत्वं घटः, रूपत्वं रूपम्, समवायत्वं समवायः एवं न्यूनातिन्यूनतया षट्पदार्थविषयकं प्रत्यक्षं जायते इति अवश्यं

स्वीकर्तव्यं भवति.

नैयायिका: वदेयु: : तेषां मध्ये परस्परं सम्बन्धस्तु न अस्माभि: अवगत:, पृथक्तया सर्वेऽपि पदार्था: गृहीता:. तेषां परस्परसम्बन्धस्तु न गृहीत: इति. तत्र किं कारणम्? इति वक्तव्यम्. नैयायिकै: विशिष्टज्ञानं प्रति विशेषणज्ञानं कारणम् इति कार्यकारणभावं सिद्धवत्कृत्य ''रूपी घट:'' ''अयं घट:'' इत्यादिज्ञानं विशिष्टज्ञानं भवति. विशिष्टज्ञानस्य च विशेषणज्ञानजन्यत्वनियमात्, विशेषणज्ञानं पूर्वम् अंगीकर्तव्यम्. विशेषणज्ञानस्यापि सविकल्पकत्वे तस्यापि विशेषणज्ञानजन्यत्वम् इति अनवस्था स्यात्. अनवस्थापरिहारार्थं निर्विकल्पकज्ञानम् अंगीकरणीयं भवति. विशेषणज्ञानं च निर्विकल्पकम् इति उच्यते. परन्तु अस्मिन् नियमे किं प्रमाणम्? इति पृच्छ्यते. विशिष्टज्ञानं प्रति विशेषणज्ञानं कारणं कुत:? सर्वं ज्ञानं विशषेणज्ञानजन्यम् इति नैयायिकेनापि वक्तुं न शक्यते. स्मरणात्मकं ज्ञानं निर्विकल्पकज्ञानं किमपि जायते, तदनन्तरं सविकल्पकज्ञानं स्मरणात्मकं उत्पद्यते इति केनापि वक्तुं शक्यते किम्? स्मरणविषये नास्ति. ...

प्रद्योतकुमार : निर्विकल्पकस्मरणमपि सम्प्रदायविशेषे अंगीकृतम् अस्ति.

डी.प्रह्लादाचार : एवम्. गदाधरभट्टाचार्येणापि. तत्र स्मरणस्य तावत् सविकल्पकत्वमेव अंगीकृतम्. एवञ्च यज् ज्ञानं विशिष्टं ज्ञानं तत् सर्वं विशेषणज्ञानजन्यम् इति नियम: त्यक्त:.

प्रद्योतकुमार : अभावप्रत्यक्षे निर्विकल्पकजन्यत्वं नास्ति.

डी.प्रह्लादाचार : अभावज्ञानं प्रति प्रतियोगिज्ञानं कारणं भवति. तत्र प्रतियोगि विशेषणम् अस्ति. एवञ्च अभावज्ञानं विशिष्टज्ञानं सत् विशेषणज्ञानजन्यम्. अभावप्रत्यक्षविषये विशिष्टज्ञानस्य विशेषणज्ञानजन्यत्वं सिद्धम् अस्ति. यद् विशेषयो: कार्यकारणभाव: तत्सामान्ययो: कार्यकारणभाव: इति न्यायानुसारेण सर्वस्यापि ज्ञानस्य विशेषणज्ञानजन्यत्वम् स्वीकरणीयम् इति नैयायिका: वदन्ति. परन्तु यदि यद्विशेषयो: कार्यकारणभाव: तत्सामान्ययो:

कार्यकारणभावः इति नियमः स्वीक्रियते तर्हि सर्वस्यापि ज्ञानस्य विशेष्यज्ञानजन्यत्वमपि स्वीकर्तव्यं भवति. यतोहि अनुमितिस्थले ‘‘पर्वतो वह्निमान्’’ इति अनुमितिः विशिष्टज्ञानम् अस्ति. इदञ्च विशिष्टज्ञानम् अनुमित्यात्मकं कदा भवति? पर्वतस्य विशेष्यस्य ज्ञानं पूर्वं वर्तते चेत्. पर्वतस्य ज्ञानं, विशेष्यस्य पक्षस्य ज्ञानं नास्ति चेत् अनुमितिः न उत्पद्यते. एवञ्च अनुमितिस्थले विशिष्टज्ञानं विशेष्यज्ञानजन्यं वर्तते. यदि विशेषयोः कार्यकारणभावः इति न्यायः सर्वत्र अनुम्रियते चेत् तर्हि सर्वं ज्ञानं विशेष्यज्ञानजन्यमपि स्वीकरणीयं भवति. एवञ्च अनुमितिस्थले विशिष्टज्ञानस्य विशेष्यज्ञानजन्यत्वदर्शनेऽपि सर्वस्यापि ज्ञानस्य विशेष्यज्ञानजन्यत्वं यथा न स्वीक्रियते तथा अभावज्ञानस्थले अभावज्ञानं प्रति विशेषणज्ञानस्य कारणत्वेन अंगीकृतत्वेऽपि सर्वत्र विशेषणज्ञानस्य कारणत्वं न स्वीकर्तव्यम्. अपिच अस्ति तादृशं विशिष्टं ज्ञानं यद् विशेषणज्ञानजन्यं न भवति, यथा स्मरणात्मकम् , एवञ्च अनेकशो व्यभिचारः दृश्यते इति हेतोः अयं नियमएव अप्रामाणिकः. यं नियमम् आधारीकृत्य अनेकैः दार्शनिकैः, विशेषतो बौद्धैः, नैयायिकैः च निर्विकल्पकं ज्ञानं किमपि समर्थयितुं प्रयत्नः क्रियते.

* * *

चर्चा

द्वैतदर्शने प्रत्यक्षस्वरूपम्

प्रो. डी. प्रह्लादाचार

वी. एन्. झा : प्रमातृस्वरूपम् इन्द्रियत्वेन स्वीकृतम्. तर्हि कर्तृकरणयोः ऐक्यम्...

डी.प्रह्लादाचार : तत्तु सत्यम्. अत्र अयं प्रश्नः. प्रमाता चेतनः साक्षिरूपी इन्द्रियात्मकः इति उच्यते. तत्र भवद्भिः अयं प्रश्नः करणीयः. कर्तृ-करण-फलानां ... कर्तृकरणयोः अभेदः स्वीक्रियते इति. परन्तु अत्र अयं विशेषः. चेतनस्य, साक्षिणः इन्द्रियत्वं यदा उच्यते तदा सः स्वभिन्नं ज्ञानम् उत्पादयति इति न अर्थः. यथा चक्षुः स्वभिन्नं ज्ञानम् उत्पादयति तथा अत्र साक्षिरूपः चेतनः स्वभिन्नं ज्ञानम् न उत्पादयति किन्तु स्वात्मानमेव विषयसम्बद्धतया अभिव्यनक्ति इति हेतोः इन्द्रियत्वेन व्यवहारः क्रियते.

गो. श्या. म. : ‘‘उद्धरेद् आत्मना आत्मानम्’’ आत्मना आत्मानम् उद्धरेत्. कर्तृ-करणयोः ऐक्यम्.

प्रद्योतकुमार : अद्वैतवेदान्ते साक्षिज्ञानं स्वीकृतम्. The reason why they admit Sākṣi Pratyakṣa is this that they admit perception of pleasure etc. But at the same time they find Manas is not an Indriya. And therefore, to account for it they have to admit a separate type of Pratyakṣa. That is there position. The idea is this that here ‘Pratyakṣa’ is used in the same sense Vṛttijñāna. In the Vṛttijñāna what happens is this that Viṣayākar Vṛtti is necessary for any pratyakṣa may be possible whether सुखविषयकः घटविषयकः, विषयाकारवृत्तिः is necessary. But since in the case of Sukha-Duḥkha etc. such Antaḥkaraṇa-Vṛtti is not possible, they admit Avidyā Vṛtti. अविद्यावृत्तिसहायेन यस्य विषयस्य प्रत्यक्षं तत् साक्षिप्रत्यक्षम्. तत्र साक्षिस्वरूपं नतु इन्द्रियं, तत्तु चैतन्यमेव! किञ्चिदुपाधि-विशष्टतया तस्य साक्षित्वेन व्यवहारः. परन्तु अत्र सुखदुःखादीनां यज् ज्ञानं तत् प्रमातृरूपसाक्षिरूपेन्द्रियेण जन्यते. तस्य किं स्वरूपम्? वृत्तिरूपं ज्ञानं तत्?

डी.प्रह्लादाचार : अद्वैतसिद्धान्ते साक्षिरूपं ज्ञानम् अंगीक्रियते. भवद्भिः उक्तरीत्या अविद्यावृत्तिप्रतिबिम्बितं चैतन्यं साक्षि इति अंगीक्रियते. सुख-दुःखादिकं न बाह्यम् अन्तरा भवति. मनःपरिणामभूता एव तस्मिन्नपि मते. परन्तु तत्र शुद्धस्य चेतनस्य विषयग्राहकत्वं न अंगीक्रियते. शुद्धः चेतनः स्वप्रकाशो अंगीक्रियते. स्वप्रकाशः इत्यस्यापि प्रमाणान्तरेण अवेद्यः इति, अद्वैतदर्शने इदं विवरणं दीयते. परन्तु शुद्धस्य चेतनस्य सुखादिग्राहकत्वं नास्ति. यदा वृत्तिसम्बन्धं प्राप्नोति तदानीमेव सः चेतनः विषयं ग्रहीतुं प्रभवति. अतएव अविद्यावृत्ति-प्रतिबिम्बितं चैतन्यं साक्षिरूपं स्वीकृत्य एतस्य साक्षिणो विषयाः भवन्ति सुख-दुःखादयः इति ते निरूपयन्ति.

प्रद्योतकुमार : तत्र साक्षिग्राहकं ...

डी.प्रह्लादाचार : साक्षि तावत् चेतनस्वरूपं ज्ञानम्.

प्रद्योतकुमार : विषयि, नतु इन्द्रिय...

डी.प्रह्लादाचार : इन्द्रियत्वं तैः न उक्तम्.

प्रद्योत कुमार : अनयोः मध्ये श्रेयस्करः पक्षः कः?

डी.प्रह्लादाचार : द्वैतमतेतु साक्षिरूपं ज्ञानं स्वीकृतम्. यथा अद्वैतमते साक्षिरूपं ज्ञानं चेतनस्वरूपं ज्ञानम् अस्ति तद्वदेव साक्षिरूपं चेतनात्मकं ज्ञानं स्वीकृतम् अस्ति. एतस्मिन् अंशे अनयोः

साम्यं भवति. अन्येषु बहुषु विषयेषु वैलक्षण्यम् भवति. अद्वैतसिद्धान्ते साक्षिरूपं ज्ञानम् अयथार्थमपि भवितुम् अर्हति. यतोहि शुक्तिरजतज्ञानं यदा भवति...

प्रद्योतकुमार : श्रुतयोऽपि न प्रमा!

डी.प्रह्लादाचार : शुक्तिरजतज्ञानं यदा जायते तच्च ज्ञानं साक्षिरूपं ज्ञानमेव. तत्र अविद्यापरिणामो वर्तते. शुक्तिरजतम् अविद्यापरिणामः. तद्विषयीकारित्वं स्वीक्रियते. एवञ्च शुक्तिरजतज्ञानं यद् भ्रान्तिरूपं ज्ञानं तत् साक्षिरूपं भवति.

द्वैतदर्शने साक्षिरूपं ज्ञानं नियमेन यथार्थम्. इदं ज्ञानम् अयथार्थं कदापि न अनुभूयते. अस्माकम् ''अहम् अस्मि न वा?'' इति संशयो वा ''अहं न अस्मि'' इति विपरीतनिश्चयो वा नास्ति. यदा ''मयि सुखं दुःखं वा नास्ति तदानीम् अहं सुखी अहं दुःखी'' इति अनुभवो नास्ति. यदा सुखम् अस्ति तदानीमेव ''अहं सुखी'' इति ज्ञानम्. यदा दुःखम् अस्ति तदानीमेव ''अहं दुःखी'' इति ज्ञानम्. एवं साक्षिणा यद्यद् गृह्यते तत् सर्वदा सत्यमेव भवति.

गो. श्या. म. : Synthetic a priori.

डी.प्रह्लादाचार : साक्षिरूपं ज्ञानं कदापि अयथार्थं न भवति. इदं किञ्चिद् वैलक्षण्यम्. भवतां प्रश्नस्तु भवति, साक्षिणः इन्द्रियत्वं कुतः? साक्षिरूपं ज्ञानं स्वीक्रियतां, यथा अद्वैतदर्शने, अत्र साक्षिणः इन्द्रियत्वं कुतः? इति. यद्यपि साक्षी एकएव. इन्द्रियभिन्नं साक्षिरूपं ज्ञानम् अत्र नास्ति. साक्षिचेतनस्तु वर्तते इदानीमपि. सच चेतनो विषयान् अभिव्यनक्ति. चेतनरूपं ज्ञानं नैव जायते. तच्च ज्ञानं नित्यं परन्तु विषयाभिव्यञ्जकत्वं तावत् विशेषतो भवति. पूर्वं विषयाभिव्यञ्जकत्वं यन् न आसीत् तद् इदानीं जातम्. तत्र किं करणम्? स्वयमेव.

प्रद्योतकुमार : आवरणभंगम्.

डी.प्रह्लादाचार : किमपि उच्यताम्. परन्तु विषयाभिव्यञ्जकत्वं यत् पूर्वं न आसीत् चेतनरूपस्य ज्ञानस्य ... ज्ञानन्तु आसीत्. परन्तु तत्र विषयाभिव्यञ्जकत्वम् इति कश्चन विशेषः कोऽपि जातः.

प्रद्योतकुमार : विषय... आवरकत्वं नास्ति.

डी.प्रह्लादाचार : तत्र किमपि अन्यत् करणं नास्ति, स्वयमेव विषयाभिव्यञ्जकमपि भवति इति हेतोः तस्यैव इन्द्रियत्वेनापि व्यवहारः क्रियते.

विन्ध्येश्वरीप्रसाद : ‘‘इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते’’ इति दृष्ट्या इन्द्रियं नैव इन्द्रएव.

डी.प्रह्लादाचार : तद् अस्तु. तत्तु अन्यया रीत्यापि वक्तुं शक्यते. तत्र इन्द्रत्वं नाम महासामर्थ्यशालित्वं यत्किमपि तद् भवतु नाम. अत्र तावत् साक्षिरूपं यज् ज्ञानं वर्तते ... ‘ज्ञानं’ नाम विषयाभिव्यक्तिः ...

प्रद्योतकुमार : सुषुप्तिकाले यत् सुखं प्रकाशितं भवति तच्च चैतन्यस्वरूपमेव इति चेत् तस्य स्वप्रकाशत्वम्. तत्प्रकाशार्थं कथम् इन्द्रियं स्वीकार्यम् ?

डी.प्रह्लादाचार : जाग्रत्कालेऽपि सएव चेतनो अस्ति. स्वापकाले यत् सुखम् अनुभूयते तत् सुखं जाग्रत्काले न अनुभूयते. जाग्रत्काले अनुभूयमानं सुखं हि दुःखमिश्रितं भवति. तत्तु जडभूतं सुखम्. अन्तःकरणपरिणामभूतं वृत्तिरूपं सुखं तत्. चैतन्यात्मकं यत् सुखं ... दुःखामिश्रितं सुखं वर्तते ...

वी. एन्. झा : ... ज्ञानजन्यम्...

डी.प्रह्लादाचार : तद् अभिव्यक्तिमात्रम्. सर्वत्रापि अभिव्यक्तिरेव तत्र.

प्रद्योतकुमार : तत्तु स्वप्रकाशम् ?

डी.प्रह्लादाचार : स्वप्रकाशं नाम ... अभिव्यक्तिस्तु जाता. पूर्वम् अभिव्यक्तिः न असीत्, इदानीम् अभिव्यक्तिः अभूत्.

प्रद्योतकुमार : सुषुप्तिरेव तत्र सहकारिणी ?

डी.प्रह्लादाचार : सुषुप्तिः नाम अवस्थाविशेषः. तस्याम् अवस्थायाम् अभिव्यक्तिः जाता. तादृशाभिव्यक्तेः स्वयमेव तत्र का...

प्रद्योतकुमार : तदवस्थाविशेषे यत् सुखस्य प्रकाशो अस्ति तत्र इन्द्रियस्य किं कार्यम् ?

डी.प्रह्लादाचार : इन्द्रियं किमपि अन्यत् नास्ति.

अच्युतानन्द दास : तत्र एका शंका. यदि साक्षिरूपस्य चैतन्यस्य इन्द्रियत्वं स्वीकुर्वन्ति तर्हि सामान्यतः ''इन्द्रियम् अतीन्द्रियम्'' इति उच्यते. आत्मनस्तु साक्षात्कारो भवत्येव. तथा सति पुनः इन्द्रियस्य लक्षणं किञ्चित् अन्यया रीत्या वक्तव्यं भविष्यति किल ? साक्षिरूपं यद् आत्मचैतन्यं वर्तते ... साक्षिणः इन्द्रियत्वे स्वीकृते सति इन्द्रियम् अतीन्द्रियम् इति कथा कदाचित् अपास्ता भविष्यति. यतः साक्षिणः ...

डी.प्रह्लादाचार : इन्द्रियम् अतीन्द्रियं नाम बाह्येन्द्रियाणां वा मनसो वा अविषयः इति अर्थः. मनस्तु इन्द्रियम् एतस्मिन् अर्थे अतीन्द्रियम्. किन्तु मनः साक्षिविषयम् इति मया प्राग् ... नैयायिकमते भवतु नाम. तत्र नैयायिकान् प्रति ऐन्द्रियकत्वं मनसः साध... एतस्मिन् दर्शने ...

बलिराम शुक्ल : तेषाम् आशयः इदं भवति, तत्र इन्द्रियत्वं नाम किम् ? :

डी.प्रह्लादाचार : इन्द्रियत्वं प्रत्यक्षात्मकज्ञानकरणत्वम्.

बलिराम शुक्ल : तद् यत्र कुत्रापि वर्तते तत्र सर्वत्रापि इन्द्रियत्वम्.

डी.प्रह्लादाचार : एवम्.

बलिराम शुक्ल : तर्हि विषयस्यापि इन्द्रियत्वापत्तिः भविष्यति.

डी.प्रह्लादाचार : तत्तु वर्तते. तथापि सर्वेष्वपि मतेषु योऽपि अयं विषयः चर्चितः तत्र सन्निकर्षः तावत् प्रत्यक्षम् इति उच्यते. प्रत्यक्षम् अक्षस्य यथा अर्थसन्निकर्षो भवति, अर्थस्यापि अक्षसन्निकर्षो वर्तते. एवञ्चेत् 'प्रत्यक्षं' ज्ञानम् इति कुतः ? 'प्रत्यर्थं' ज्ञानम्

इति व्यवहार: स्यात्. ...इति तै: शास्त्रिभि: उक्तम्. तत्र अक्षस्य करणत्वात् करणस्य प्राधान्यं स्वीकृत्य खलु व्यपदेश: स्वीक्रियते.

प्रद्योतकुमार : भवतो अभिप्राय: एवम् आसीत् यद् विशिष्टज्ञानं विशेषणज्ञानपूर्वकम् इति नियमे का युक्ति:? नास्ति युक्ति: तत्र. कथम्? यदा विशेषणज्ञानपूर्वकं विशिष्टज्ञानम्, अनुमिति शब्दोऽपि that rule will be applied. But in that case you have not done distinction between ... if I say in case of Anumiti, Śabda all these cognitions are necessarily, नियमतो विशिष्टवैशिष्ट्याावगाही नतु विशिष्टज्ञानम्.

डी.प्रह्लादाचार : विशिष्टवैशिष्ट्यज्ञानं विशिष्टज्ञानमपि भवति. विशिष्टवैशिष्ट्यज्ञानं विशेषणतावच्छेदक-प्रकारकज्ञानजन्यं विशिष्टज्ञानं विशेषणज्ञानजन्यम् इति एवम् उच्यते. शाब्दरूपं ज्ञानम् अनुमित्यात्मकं ज्ञानं विशिष्टवैशिष्ट्याावगाहिज्ञानं भवति. प्रत्यक्षमपि तथैव. यथा ''घटो रूपी'' इति प्रत्यक्षं जायते तदानीं रूपत्वविशिष्ट-रूपवैशिष्ट्याावगाही इदं ज्ञानं भवति. अयं घट: इति ज्ञानन्तु घटत्वविशिष्टज्ञानं यदि घटत्वस्य स्वरूपतो भानम् अंगीक्रियते. ''दण्डी पुरुष:'' इत्यादौ तावत् विशिष्टवैशिष्ट्याावगाही ज्ञानं ...

(अत्र सहसा विद्युत्प्रवाहोपरोधाद् ध्वनिमुद्रणभंग:)

Perceprion:
Sāṅkhya and Śuddhādvaitic Views

Dr. Sunanda Y. Shastri

In the field of epistemology, perception as means of valid knowledge has been unanimously accepted by the systems of thought as an important one. Sāṅkhya system has accepted three means of valid knowledge i.e. perception, inference and testimony.

> दृष्टम् अनुमानम् आप्तवचनं च सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्।
> त्रिविधं प्रमाणम् इष्टं प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद् हि ॥
> (सांख्यकारिका ४)

Sāṅkhyas do not accept the other means of valid knowledge like comparison(उपमान), assumption (अर्थापत्ति), non-apprehension(अनुपलब्धि), (ऐतिह्य) tradition, intuition (प्रतिभा) etc. All these other valid means of knowledge can be reduced to either perception, inference or testimony. Anything that can be known must be demonstrably established in relation with one of these means of valid knowledge.

Sāṅkhya Sūtra "तत्सिद्धौ सर्वसिद्धेः नाधिक्यसिद्धिः" (I.88) emphasizes that there should be only three Pramāṇas. While commenting on this Sūtra Vijñānabhikṣu (सांख्यप्रवचनभाष्य १।८८) explains that for the accomplishment of all purposes perception, inference and testimony alone are enough. Accepting additional Pramāṇas is unnecessary. त्रिविधप्रमाणसिद्धौ च सर्वस्य अर्थस्य सिद्धेः न प्रमाणाधिक्यं सिध्यति, गौरवाद् इति अर्थः. In this regard Vijñānabhikṣu quotes Manu:

प्रत्यक्षम् अनुमानं च शास्त्रं च विविधागमम्।
त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिम् अभीप्सता।।

(XII.105)

"One who desires purity in the path of righteousness should resort to these three means of valid knowledge viz. perception, inference and scriptures".

Sāṅkhyakārikā places perceprtion in the first place in Kārikā 4 and on it Māthārācārya says: "यथा श्रोत्रादीनां शब्दादयः पञ्चेन्द्रियार्थाः पञ्चानां दृष्टं प्रमाणम्. प्रथमम् इदं मुख्यं सफलप्रमाणानाम्". Perception is caused by sense capacities. Perception is the principle instrument of knowledge and is hence stated first. Vācaspati states three reasons why perception has to be considered first of all the means of valid knowledge viz. 1. Perception occurs in time before the other means of valid knowledge such as inference etc. 2. the other means of valid knowledge dependent on perception and 3. every system of philosophy accords first place to perception. Sānkhyakārikā has given word 'दृष्टम्' for perception and Māṭharācārya has explained what 'दृष्टम्' means in the Kārikā. It says 'दृष्टम्' is synonym of 'प्रत्यक्ष'=perception. "दृष्टम् इति प्रत्यक्षपर्यायः. अक्षम्

इन्द्रियं प्रतीत्य यद् उत्पद्यते ज्ञानं तत् प्रत्यक्षं दृष्टम् उच्यते''. The knowledge which arises through sense object contact is called perception.

Definition of perception put forth by Sāṅkhyakārikā is ''प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टम्''. Perception is The reflective discerning (अध्यवसाय) that rises through sense-contact with the particular object of sensing. (सां.का.४). अध्यवसाय Could be understood as belief or discrimination. Mātharācārya explains the 'अध्यवसाय' as, the knowledge obtained through eye etc., five sense organs - object contact i.e. ''विषयं विषयं प्रति यो अध्यवसायो नेत्राणाम् इन्द्रियाणां पञ्चानां रूपादिषु पञ्चसु तत् प्रत्यक्षं प्रतिपत्तिरूपं दृष्टाख्यम्''. Vācaspati defines perception as ''reflective discerning'' as belief (निश्चय) as opposed to doubt or vacillation (संशय). Vijñānabhikṣu's definition is not far from the above definition. Commenting on Sāṅkhyasūtra, ''यत्सम्बद्धं सत् तदाकारोल्लेखि विज्ञानं तत् प्रत्यक्षम्'' (सांख्यप्रवचनसूत्र I.89). Vijñānabhikṣu says, when connected with the object, the (बुद्धिवृत्ति) modifications of mind take the form of that object, that is perception. ''सम्बद्धं भवत् सम्बद्धवस्त्वाकारधारि भवति यद् विज्ञानं बुद्धिवृत्तिः तत् प्रत्यक्षं प्रमाणम् इति अर्थः'' (सांख्यप्रवचनसूत्रभाष्य I.89). This clearly signifies that for the accomplishment of perception unhindered sense object contact is necessary.

Process of perception according Sāṅkhyas is more or less understood from their definition of perception. Sāṅkhyakārikā does not clarify the process of perception. It simply says 'दृष्टम्' and defines, ''प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टम्'' from which one understands only that five sense organs perceive sense objects.

Vācaspatimiśra has elaborately described the process of perception, that is, "Perception is the reflective discerning (अध्यवसाय) that arises through the direct contact (सन्निकर्ष) between a sense-capacity (इन्द्रिय) and a real object to be known (प्रमेय)such as earth, pleasure etc". Such reflective discerning, which is on operation of intellect, is one important kind of awareness, and this kind of awareness arises when the intellect is in its Sattva modality has been subverted. When there is such contact between a sense capacity and an object with the resulting awareness taking place in intellect, the condition is also known as an operation (वृत्ति). Awareness, operation and intellect, it should be noted are manifestations of materiality, and thus are devoid of consciousness. Nevertheless, the intellect casts a kind of shadow of perhaps better, becomes a reflection (प्रतिबिम्ब) in the pure medium of consciousness so that it appears as if it were consciousness. By the same token the images that manifest themselves in consciousness appear to characterize the nature of consciousness. Finally, it should be noted that the description of perception as direct contact with specific object excludes doubt, misconception, inference and memory (Encyclopaedia of Indian Philosophies, vol.IV Sankhya,p.303). Sāṅkhyapravacanabhāṣya's definition leads us to understand the process more clearly, i.e. modification of mind/intellect take form of outer object.

The process by which a means of valid knowledge works in this— first intellect assumes the form is reflected as an image in consciousness. Since consciousness can not be modified, his reflection can only be an image. ‘‘इन्द्रियप्रणालिकया अर्थसन्निकर्षेण लिंगज्ञानादिना आदौ बुद्धेः अर्थाकारा वृत्तिः जायते’’ (सांख्य.प्र.भाष्य I.87).

The Yoga school calls the process of awareness as ‘चित्तवृत्ति‘ instead of ‘बुद्धिवृत्ति’ or ‘अन्तःकरणवृत्ति’ Vyāsabhāṣha on Pātañjala Sūtra defines the process of perception as the modification of the mind being connected with an outside object through the channel of sense organs and making that object its own. Mainly comprehends the special nature of the object which has general and special characteristics is the source of correct knowledge called ‘perception’. The result of perception is the knowledge of modification of the mind as belonging to the Puruṣa (self) which is identical with the modifications of mind. Puruṣa is conscious by reflection.

> ‘‘इन्द्रियप्रणालिकया चित्तस्य बाह्यवस्तूपरागात् तद्विषयः सामान्यविशेषात्मनो अर्थविशेषावधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षं प्रमाणम्. फलम् अविशिष्टः पौरुषेयः चित्तवृत्तिबोधः. बुद्धेः प्रतिसंवेदी पुरुषः इति’’
>
> (पातं.सू.समा.पा.७.व्यासभा.)

Vijñānabhikṣu explains Vyāsabhāsya even more perfectly. He says: ‘‘The senses are themselves the channels i.e. the path through which the mind travels, combining with them and through their parts, the mind affected by the outside objects, becomes one with the objects, only with the help of the senses. The mind alone does not become one with the object, just as, when the conch is seen yellow, it is the presence or absence of bile in the eyes, which is its cause. Therefore, in seeing colour and so on, the eyes etc. also is mentioned as 'cause' in the Śāstras and not the mind alone.

> "इन्द्रियाण्येव नाडी-चित्तसञ्चरणमार्गः, तैः संयुज्य तद्गोलकद्वारा बाह्यवस्तुषु उपरक्तस्य चित्तसेन्द्रियसाहित्येनैव अर्थाकारः परिणामो भवति न केवलस्य चित्तस्य, शंखपैत्त्याद्याकारतायां नयनादिगत-पित्ताद्यन्वय-व्यतिरेकाभ्याम्. अतो रूपादिवृत्तिषु चक्षुरादीनामपि कारणत्वं शास्त्रेषु उच्यते".

(Vijñānabhiksu's Vārtika on Vyāsabhāṣya, Samādhipāda-7).

This indicates only the outside object's knowledge or perception. It does not include perception of Ātman or Īsvara, since it combining with the senses does not give rise to it. In the perception of Ātman or Īśvara, there are no senses involved.

We gain perceptual knowledge through five sense organs of sound, touch, colour, taste and smell. Sometimes knowledge of perception is obstructed due to many reasons. Sāṅkhyakārikā enumerates eight such reasons viz.

1. being very far,
2. being very close,
3. disability of sense organs,
4. mind being inattentive,
5. object being too subtle,

6. object being hidden,
7. being overpowered by some other object and
8. being mixed with similar things

—sense object contact does not take place and prevent ordinary perception.

अतिदूरात् सामीप्याद् इन्द्रियघातात् मनोऽनवस्थानात्।
सौक्ष्म्याद् व्यवधानाद् अभिभवात् समानाभिहारात् च॥
(सांख्यकारिका ७)

Thus non-apprehension of existents is of eight kinds, whereas, non-existence (अभाव)is of four kinds viz. 1. prior non-existence (प्रागभाव) 2. posterior non-existence (प्रध्वंसाभाव) 3. absolute non-existence (अत्यन्ताभाव) and 4. mutual non-existence (अन्योन्याभाव) . This makes non-apprehension as of twelve kinds. Māṭharācārya says: ''एवम् इयं द्वादशधा अनुपलब्धिः. सताम् अष्टधा हि असतां चतुर्धा'' For ordinary persons, perceptions are limited to specific awareness related to the gross aspects of experience, by Yogis and other higher beings are also able to perceive 'non-specific' (अविशेष) matters, such as the subtle elements.

It is necessary to note that Vācaspetimiśra for the first time made clear distinction between indeterminate (निर्विकल्प) and determinate (सविकल्प)perception in Sāṅkhya epistemology. The sense organs can only sense (आलोचनमात्र) the object without any mental ordering and verbal characterization i.e. mind is not involved in this stage nor can it be described by speech. This is inderminate (निर्विकल्प)perception. Then mind performs the task of ordering and verbalizing the impression of the senses i.e. mind is involved in this stage and makes perceptual knowledge determinate (सांख्यकौमुदी).

Regarding the theory of perception, Vijñānabhiksu's special contribution is two fold (सांख्यप्रवचनभाष्य - -II.32). 1. Vijñānabhikṣu disagrees with Vācaspati and states that sense organs are capable of both indeterminate (निर्विकल्प) and determinate (सविकल्प)perception. Mind only plays a role of focusing attention (संकल्प) and initiating mental constructions (विकल्प). Here, Vijñānabhikṣu relates the role and function of sense capacities in perception and 2. Sāṅkhyakārikā and Pātañjala Sāṅkhya refer respectively to 'बुद्धिवृत्ति' and 'चित्तवृत्ति' but do not explain their functions in the cognitive process. Vācaspati carried the discussion further by attributing mere awareness with mental elaborations (निर्विकल्प) to the sense capacities and mental elaboration (सविकल्प) to mind. According to Vijānabhikṣu, perception is primarily a result of interaction or will and sense capacities. Mind as the result plays a very minor role.

"कश्चित्तु निर्विकल्पकं ज्ञानमेव आलोचनम् इन्द्रियजन्यं च भवति, सविकल्पकन्तु मनोमात्रजन्यम् इति श्लोकार्थम् आह, तत् न...योगभाष्ये व्यासदेवैः विशिष्टज्ञानस्यापि ऐन्द्रियकस्य व्यवस्थापितत्वात्, इन्द्रियैः विशिष्टज्ञाने बाधकाभावात् च. सएव सूत्रार्थमपि एवं व्याचष्टे बाह्येन्द्रियम् आरभ्य बुद्धिपर्यन्तस्य वृत्तिः उत्सर्गतः क्रमेण भवति कदाचित्तु व्याघ्रादिदर्शनकाले भयविशेषाद् विद्युल्लतेव सर्वकरणेषु एकदैव वृत्तिः

भवति इति अर्थ: इति. तदप्यसत्, सूत्रे इन्द्रियवृत्तिनामेव क्रमिकाक्रमिकत्ववचनात् न बुद्ध्यहंकारवृत्त्योः प्रसंगोपि अस्ति''.

(सांख्यप्रवचनभाष्य २।३२)

In Prasthānaratnākara, Puruṣottamacaraṇa has clearly accepted four means of valid knowledge viz. testimony/authority, perception (Pratyakṣam); tradition (Aitihya) and inference (Anumāan) ''श्रुतिः प्रत्यक्षम् ऐतिह्यम् अनुमानं चतुष्टयम्'' (प्रस्थानरत्नाकर २।२।९). First placeis given to Śabapramāṇa or testimony, since all other means of valid knowledge are dependent on Śruti (प्रस्थानरत्नाकर - II.II.12) ''सर्वाण्येव प्रमाणानि सत्त्वमेव कथञ्चन, उपजीवन्ति तद् हेतौ कथितः पूर्वम् आगमः''), whereas, Sāṅkyas consider only three Pramāṇas (प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द) and they place Perception first.

Puruṣottamaji defines perception as ''इन्द्रियात्मकं प्रमाणं प्रत्यक्षम्'' (प्रस्थानरत्नाकर - p.127) perception is indentified with sense organs; that means sense organs are the instruments of direct perception. This knowledge of perception is gained through six instruments viz. five sense organs and the mind. ''प्रत्यक्षे चक्षुरादिभेदेन षट्र करणानि'' (प्रस्थानरत्नाकर p.127).

Sāṅkhyas do not consider Perception as 'इन्द्रियात्मक', but according to them, Perception is reflective discerning (अध्यवसाय).

Perceptual knowledge is of six kinds viz.

1. visual (चाक्षुषप्रत्यक्ष)

2. Tactual (त्वाचप्रत्यक्ष)
3. Gustatory (रासनप्रत्यक्ष)
4. Auditory (श्रावणप्रत्यक्ष)
5. Olfactory (घ्राणप्रत्यक्ष) and
6. mental (मानसप्रत्यक्षः).

Manas is regarded as internal organ (अन्तःकरण) "तानि चक्षुः-त्वक्-घ्राण-रसन-श्रवण-मनो-भेदेन षट्"(प्रस्थानरत्नाकर p.127). These six faculties are considered atomic in size. They can not be perceived by sense organs, they are non-eternal yet long lasting and subject to transfermation. "एतेषां इन्द्रियाणां स्वरूपन्तु अणुतमम् अतीन्द्रियम्, अनित्यम्, चिरस्थायी विकारी च" (प्र.र.p.128). Eyes can perceive form, cloour and size when it is manifested. Similarly, sense qualities of touch, smell, taste and sound should be manifested for the sake of perception. (प्र.र.-p.128-129). Desires, affection, passions etc. are perceived by the mind. "मनसस्तु कामादयो वृत्तयएव मनोग्राह्याः"(प्र.र.p.130).

Perception of the self (Ātma) in its pure form can not be perceived by ordinary perception. "आत्मातु केवलः शास्त्रीयसाधनम् अन्तरेण न प्रत्यक्षः तथा तद्धर्माः च"(प्र.र.p.120).

Only through proper means prescribed by the scriptures, the perception of the self (Ātma) is possible. The self can be experienced through the notion 'I' by an individual, due to the identification of self with ego. "अहंबुद्धिस्तु पटावृतघटबुद्धिवद् अहंकारसंसर्गद्वारिका व्यवहारोपयोगित्वात् प्रमाभासरूपैव, अहन्तातादात्म्यभानेन भ्रमरूपत्वात्"(प्र.र.p.130). Perception of the God is possible only through the grace of God. This kind of perception is the seed of devotion-Bhakti. (प्र.र.p.160-161).

Tamas (darkness) is considered as separate category which can be perceived. It is not mere negation of light. Tamas is considered as production of Māyā. Human beings can not see through darkness, but animals like cat and owl can see in the darkness, because darkness of Māyā can not cover their eyes.

> ''अन्धकारस्थघटादिषुतु नृचक्षुः प्रति मायया तमोजननात् तदेव विषयीक्रियते, नतु विषयः तदावृतत्वात्. एवञ्च विषयालोकसंयोगस्य सहकारितापि न कल्पनीया, अभास्वर-द्रव्य-चाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति दूरत्व-व्यवधानाभावादि-विशिष्टस्य विषयतयैव निर्वाहात्, ''यथाहि भानोः उदयो नृचक्षुषां तमो निहन्यात् नतु तद् विधत्ते'' (भाग.पुरा.१०।२८।३४) इति वाक्ये भगवता सूर्योदयस्य नृचक्षुः-सम्बन्धि-तमोनिवारकत्वेनैव कथनेन आलोकसंयोगस्य विषयादिसंस्कारतायाः विरुद्धत्वात्. एवञ्च उलूकबिडालादीनाम् आलोकसंयोगाभावे वस्तुचाक्षुषमपि अनुकूलीभवति. तमस्तु पदार्थान्तरमेव न तेजोभावो ''अन्धकारोऽस्त्रियां ध्वान्तम्' (अमरकोश १।८।३) इत्यादिनामपाठात् ''ध्वान्ते गाढे अन्धतमसम्'' (तत्रैव १।८।३) इत्यादिभेदपाठात्, ''हृतरूपन्तु तमसा वायौ ज्योतिः प्रलीयते, स्वतेजसा अपिबत् तीव्रम् आत्मप्रस्वापनं तमः'' (भाग.पुरा.१०।३।१४) इति वध्य-घातकविरोधवचनात् च''.
>
> (प्र.र.१३०-३१)

Similarly reflection (प्रतिबिम्ब) also is accepted as separate category and product of Māyā ''तथा प्रतिबिम्बस्यापि पदार्थान्तरत्वम्'' (प्र.र. - १३१).

Abhāva (non existence) is locus of negated object. Negation is itself regarded as the positive existence of the locus in which the negation appears with specific reference to the appearance or dissapearance of the negated object. Non-existence is connected with material cause. When, material cause is seen, appearance and dissapearance of the product of that cause is subject of perception (प्र.र. p.131-36).

According to Sāṅkhyas, the object beyond sense-perception (अतीन्द्रिय) are subject of inference and authority "अतीन्द्रियाणां प्रतीतिः अनुमानात्" (सांख्यकारिका-६) which is different than Vallabha view, which accepts perception of self through scriptures and not through Inference. In the earlier, Sāṅkhya school, perception of God is not accepted because existence of God can not be proved "ईश्वरसिद्धेः" (सांख्यसूत्र १।९२)..

Four kinds of Abhāva (non-existence) is accepted by Vallabhas as well as Sāṅkhyas. Neither Vallabhas, nor Sāṅkhyas accept non-apprehension (अनुपलब्धि) as an independent means of valid knowledge. After evaluating views of other schools of thought, in this regard, Puruṣottamacaraṇa has stated that it is not necessary to accept non-apprehension as an independent means of valid knowledge to perceive. Because, just as after perceiving particular object through the eyes, its knowledge is manifested. Similarly, we do not get knowledge of any object through non-apprehension "अनुपलब्धेः न अभावग्रहणं प्रति करणत्वं, चक्षुषा अवगतः, इतिवद् "अनुपलब्ध्या अवगतः" इति प्रत्ययाभावात्" (प्र.र.१४१).

Process of direct perception according to Puruṣottamacaraṇa as follows—

> ‘‘तत्र अयं क्रमः - ‘‘दैवानुकूल्येन अन्तर्यामिणा मनः तत्तत्कार्यार्थं प्रेर्यते, तत् चइन्द्रियप्रेरणाय तत्तदिन्द्रियेण संसृज्यते. तत्र तत्तदिन्द्रियदेवतानुकूल्ये विषयसंसृष्टैः इन्द्रियैः स्वावच्छिन्ने मनसि पूर्वं निर्विकल्पकं उत्पाद्यते. तदा इन्द्रियदेशे बुद्धेः वृत्तिः. ततो बुद्ध्यापि वृत्तिद्वारा तदनुग्रहे सविकल्पकं भवति’’.
>
> (प्र.र.p.147 - 148)

1. Mind becomes ready for particular action, inspired by inner controller (अन्तर्यामी);
2. then mind inspires concerned sense organs;
3. when sense organs are in agreement with their presiding deities, then only sense organs come in contact with objects;
4. then indeterminate knowledge is generated after objects are reflected in the sense organs;
5. then along with the mixing and friction of the three Guṇas in intellect, intellect may grace the sense organs, partially or totally;
6. then mental states accordingly, manifest and different kinds of determinate knowledge arise;
7. emotions like attachment, aversion or neutrality etc. become strong according to the different kinds of determinate knowledge;
8. from those emotions, inner and external activities, like will

efforts etc. emerge;

9. then the activity of accepting or rejecting or neutral attitude takes place and
10. in the end, gain and loss which is cause of happiness and sorrow or indifference manifest.

The division of indeterminate (निर्विकल्पक) and determinate (सविकल्पक) knowledge is explained by Puruṣottamacaraṇa in the above process itself. Indeterminate knowledge created by the sense-object contact achievers its visual etc. determinate state through mental states (वृत्ति).

Here, Puruṣottamacaraṇa presents the Sāṅkhyas as prior view and refutes it. According to Sāṅkhyas, the form of the objects seen outside, can be felt within after closing eyes. This form can not be of the outer object, because abandoning outer substratum, entering of that form within seems impossible. Therefore, that form has to be accepted as the form of some inner object within. Sāṅkhya school calls it 'Vṛtti' (mental state) as different egoistic principle.

> ''तत्र नेत्रे निमीलने कृते बहिर्दृष्टपदार्थस्येव कश्चिदाकारो नेत्रान्तर् भासते. स आकारो न बाह्यवस्तुनः, आश्रयम् अतिहाय तत्र तस्य अशक्यवचनत्वात्. अतः स आन्तरस्यैव कस्यचन भवितुम् अर्हतीति तदाश्रयत्वेन साङ्ख्यैः आहङ्कारिकं तत्त्वान्तरं वृत्ति नामकं कल्प्यते''.
>
> (प्र.र.p.144)

Sāñkhyas believe that the perceived object takes form of internal state, but treat it as different principle or different property of Ātman. Puruṣottamacaraṇa disagrees with this stand and says that it is necessary to note that the form of the perceived object in the eyes is the matter of experience (अनुभवगोचर), therefore, it is proper to accept internal state. But should not be deemed as different principle or different inherent property of Ātman. Because, this is some particular state of intellect take form of outer object, answer to such a doubt is, when sense organs combined with the mind come in contact with outer objects, then form of the object is reflected in sense organs, jst as one's face is reflected in the mirror. Continuous mixing and friction of the Sattva, Rajas and Tamas cause disturbance and non-disturbance in the intellect; therefore, due to this disturbance mental state, sometimes is transformed, partially or totally taking the shape of reflections in the sense organs of outer objects and sometimes it may not take any shape also. It happens so because intellect helps cognitive organs and organs of actions, therefore, when intellect on position of helping the organs, determinate knowledge of error arises. Thus all the mental states are particular state of intellect only. After intellect is shaped in the form of object supplied by sense-object contact, then only direct perception takes place, otherwise, if intellect shaped in the form of different than the object, then it is believed to be an error. Similarly, due to the various kinds of mental states, all other subdivisions of knowledge should be understood as an outcome of different mental states. As per the statement of Bhāgavata, "mental states, viz., awakening, dreaming and deep sleep emerge from Guṇas and individual soul is definitely different from them as a spectator" proves that all kinds of knowledge is mental state only. When the enjoyment giving Karmas arise, that is waking state, when those Karmas become dormant, then it is dream or state of deep sleep. Instead of accepting such kind of theory, it is proper to accept that, the mixing and friction among three Guṇas, which are manifested for the sport of God, goes on according to will of God.

Thus, it is better to accept that, Guṇas are the nearest cause of different states of intellect. That is why, in the eighteenth chapter of Bhagvadgītā, it is said, that, "body as substratum, Jiva as agent, instruments such as sight etc., external sense organs, four kinds of internal instruments, action of Prāṇa etc. vital airs called Cestā, time and God's will called destiny, or the inner controller (Antaryāmī) of all living beings" described in the sixty first verse, in the same chapter, become instrumental in all our activities. (Prasthānaratnākara, Introduction,p.65-66).

In the light of the above discussion, few similarities and dissimilarities emerge between these two schools of thought. Sāṅkhyas accept three means of valid knowledge, whereas Vāllabha accept four. Both of them accept 'बुद्धिवृत्ति' i.e. mental states but process of analysis of perception differs from each other. Sāṅkhyas deem that the perceived object take the form of internal state, which is different egoistic principle.

Vāllabhas do not consider it as separate principle. Sāṅkhyas do not accept the presiding deities of sense organs, whereas Vāllabhas believe that the operation of sense organs is not possible without their grace. Sense organs are not involved in the perception of self. According to Sāṅkhyas and perception of God is not possible because existence of God can not be proved by any means of valid knowledge. According to Vāllabhas, perception of self is possible through means described by the scriptures and it can be experienced through the notion 'I', due to the identification of self with ego. Perception of the God also is possible through the Grace of God.

Bibliography :

1. Prasthānaratnākara - Gosvāmī Puruṣottama Granthmala series, 3rd ed. Goswami Shyam Manohar, Shri Vallabha Vidyapeeth - Shri Vitthalesh Prabhucharana Trust, Kolhapur, V.S. 2056.
2. Sāṅkhyasūtra with Vijñānabhikṣu's commentary, (Hindi) Dr. Ramshankar Bhattacharya, Bharatiya Vidya Prakashan, Varanasi, V.S. 2022.
3. साङ्ख्ययकारिका - ईश्वरकृष्ण with माठरवृत्ति, Chowkhamba Sanskrit series office, Benares, 1922.
4. साङ्ख्यतत्त्वमनोरमा - डो. दीनानाथ पाण्डेय, मनोरमा प्रकाशन, वाराणसी, 1991.
5. Yogavārttika of Vijñānabhikṣu Vol.I-Samadhipāda, Tr. T.S. Rukmani, Munshiraṁ Manoharlal Publishers Pvt.Ltd., New Delhi, 1981).
6. Encyclopedia of Indian philosophies-Vol.IV-Sāṅkhya, Larson and Bhattacharya, Motilal Banarasidass, Delhi, 1987.

7. Philosophy of Shri Vallabhacharya - Life and works of Shri Vallabhacharya - Dr. Sunanda Shastri (Paper).

......+......

चर्चा

Perceprion : Sāṅkhya and Śuddhādvaitic Views

डॉ. सुनन्दा शास्त्री

सिद्धेश्वर भट्ट : I have two queries. Why is it that the word 'Dṛṣta' is used by the Sānkhya thinkers instead of 'Pratyakṣa'? Is it just stylistic or there is some philosophical significance? Other query is both Sānkhya and Vāllabh thinkers follow the Vṛtti model and not the Sannikarṣ model of Nyāya. In Sannikarṣa model there is sense-object contact. Whereas in Vṛtti model the Antaḥkaraṇ goes out, meets the object i.e. attends the object. The initiative is from the Antaḥkaraṇa. Why is it that we resort to the language of Sannikarṣvāda even while describing the Sānkhya or the Vallabha view of Praktyakṣa? Because in Vedāntsār they use the word 'Tadākaritā' they don't use the word 'Sannikarṣa'. So they use different language.

I think, here also, that sort of clarity should be observed.

सुनन्दा शास्त्री : ''Dṛṣṭam iti pratyakṣa-paryāyaḥ''. So 'Dṛṣṭa' is what is seen. And what is sensed by the Indriya that is sent by the sense organ that is Pratayakṣam. So 'Dṛṣṭam' is used because it is directly pursued by the sense organ.

सिद्धेश्वर भट्ट : My hunch is that in Sānkhya you have a gestalt view of the object. Whereas in Nyāya-Vaiṣeṣika systems we have an associationistic view. And perhaps that might be responsible for the choice of a particular word to express perceptual cognition.

कृष्णमूर्ति शास्त्री : प्रत्यक्षज्ञान पांचों इन्द्रियोंसे या मनके साथ छह इन्द्रियोंसे होता है. लेकिन जो ज्ञान आंखोंसे होता है उसे मुख्यतया हम प्रत्यक्ष कहते हैं. चक्षुषा दृष्टं तत्रैव अस्माकं प्रामुख्यम् आस्ति. कुतः? 'दृश्' धातुका अर्थ चक्षुर्जन्यज्ञान ऐसा एक मत है. लेकिन दूसरा मत ऐसा भी है कि सर्वेन्द्रियजन्य ज्ञान 'दृश्'का अर्थ हो सकता है. लेकिन चक्षुर्जन्यज्ञानके अर्थमें 'दृश्' धातुका प्रयोग बहुतर होता है. वेदमें आत है कि एक आदमी कहता है कि ''देवदत्त यहां आया है. आपने सुना या देखा?''. मैने केवल सुना है तो वह असत्य हो सकता है. देखा है तो सत्य है. चक्षुसे जो ज्ञात होता है उस ज्ञानमें दाढ्र्च बहुत होता है. इसीको लक्ष्यमें रख कर 'दृश्'का प्रयोग है. अन्य पांच इन्द्रियोंसे जो ज्ञान होता है वह गौण प्रत्यक्ष हैं. मुख्य प्रत्यक्ष तो चक्षुर्जन्य ही है. ऐसा मैं मानता हूं.

एस्. बोकिल् : You say "Sānkhya do not accept the other means of knowledge like Upamāna, Arthāpatti, Anupalbdhi, Aitihya, Pratibhā etc. All these other valid means of knowledge can be reduced to either perception, inference or testimony". And according to them these are the only three Pramāṇas accepted. My comments are on your sayings "Anything that can be known must be demonstrably established in relation with one of these means of valid knowledge". Now consider perception. I really do not know what it is to demonstrate something that I know through perception. If I know through perception, there is no question of demonstration at all. All that I can say is that I shall verify. But verification doesn't amount demonstration. Then consider inference. With respect to inference, yes I can think of demonstration of a certain proposition. I construct the truth and prove it, I demonstrate it. But in that process of demonstration, remember, I have depended on some other propositions which operate as premises. Now the question of the demonstration of that premises will arise. So that will cause certainly infinite regress. And therefore, inference can not be accepted as valid knowledge. Because that will involve further questions. Again, testimony, it is accepted on just Śraddha, belief. There is no question of demonstrating the testimony. Now, Sānkhya might have taken that position. But thing, we should really find out the reasons what is there rationality behind these assertions that something which I know by perception can be demonstrated, something which I know through inference can be demonstrated and something which I know through the testimony can be demonstrated.

* * *

Thomistic Philosophy of Perception : Some Reflections

George Karuvelil, SJ

Since there is no specifically Christian philosophy of perception, and I am supposed to speak in terms of Christianity, what I shall do is to provide a brief sketch of the Thomistic philosophy of perception. After that I shall point out a few possible comparisons that struck me as I was reading through the material on Vallabha school's theory of perception. Finally in the third part of the paper I shall draw your attention towards some contemporary developments in the Western philosophy of perception.

1. A brief sketch of the Thomistic philosophy of perception :

Thomistic philosophy, like other pre-modern Western philosophies, is metaphysical in its approach. Although scepticism was not unknown to the ancient Greeks, the great metaphysicians of the time do not take scepticism as the starting point of their epistemology. Rather, they assume the possibility of knowledge, which Plato defined as "true belief with an account"[1] Although this sounds deceptively similar to the contemporary definition of knowledge as Justified True Belief, to give an account in the metaphysical scheme is rather different from providing justification. An account involves a description of the elements that go into the making of knowledge and an explanation in terms of the described elements[2]. Since the possibility of knowledge is taken for granted, the question they raise is: What must the world and we be like if we are to know something ?[3] Their descriptions are meant to respond to this question.

As far as the Thomistic description of the world goes, he took it as a matter of common sense that we live in a readymade world: a world of apples and oranges, barking dogs and striped zebras, of fat men and little children. In giving a description of this world of multiplicity, he is heavily indebted to Aristotle. All these multiple entities are made up of matter and form. Form makes a thing to be what it is by 'informing' matter, which by itself has no form whatever. The Thomistic account of the human knower is the faculty psychology that is largely a legacy of Plato and Aristotle. Accordingly, human beings have three faculties: senses, intellect or understanding and the will. Of these the last is not a knowing power;[4] its job is to strive to attain what is known. As far as the senses are concerned, there are five external senses and four internal ones. The internal senses and their operations are as follows:

1. Central or general sense: synthesises the input from different external senses.
2. Imagination: retains the impression made on the external senses, after their objects have disappeared.
3. Memory: associates objects with the past.

4. Cogitative sense: called estimative sense' in non-humans, it collates all the sense impressions and arrives at a judgment.

Given this understanding of the knower and the world, knowledge is a matter of getting hold of the form of entities by means of the knowing faculties (senses and intellect). In other words, while all things are made up of matter and form, knowing beings differ from others in this that the latter "possess their own form only, while the knower is adapted from its origin to possess also the form of another thing"[5] Since matter is a limiting principle, the more immaterial a being, the more capable it is of knowing. Thus, humans can know more than animals; angels more than humans; and God, of course, is all knowing. Thus, each type of knower comes to possess knowledge according to the mode proper to its nature.

Human perception arises from being stimulated by sensible objects and the operation of the internal senses upon the input from the external senses. Thus, for example, in perceiving a barking dog the sensible qualities such as the size and shape of the animal and the sound it produces are received by the external senses. The central or the general sense synthesizes these inputs from the different externals senses (eyes, ears, nose etc) as coming from one entity. After imagination and memory have played their role, the cogitative or estimative sense finally arrives at a concrete judgement: "This barking dog is dangerous".

Thus far the perceiving process is not very different from that of other higher animals; they too have to sense their environments and adjust to it. What is special to the human knower is the ability to grasp the universal characteristics (rationes) of things. This ability is called intellect. There are three acts of the intellect: A. Intelligibility or understanding (intellectus) is the simple apprehension of some meaning that involves no judgement; B. Judgement is that which could be true or false; and C. Discursive reasoning or ratiocination: moving from one or more known judgments to a new one, as in syllogisms. One implication of this theory of perception is that humans cannot perceive anything that is immaterial, such as souls, angels or God (all of which he believed exists) These are known through reasoning from effects to cause: if it can be shown that certain of our experiences cannot be explained with reference to bodily causes, we can argue to the existence of non-bodily causes. For example, he argues that our intellectual and volitional activities cannot be caused by bodily causes and therefore we must have souls.

2. Some Possible Comparisons With The Vallabha School:

Comparison is a risky business, especially when it involves comparing two vastly different philosophical systems whose developments are completely independent of one another, as in the case the Tomistic and Vallabha schools. For the same reason, I do not want to make any straightforward comparisons; I shall only point out what struck me as some areas of possible comparisons and leave to scholars to decide whether they really are comparable.

A first and obvious point of comparison is their overall concern. Both thinkers are great theologians and religious pursuit remains their primary purpose. But both see the need to engage the intellectual currents of their times. A second point of comparison seems to be their method. Both are metaphysical in their approach. As pointed out in the beginning, the metaphysical approach, unlike that of modern Western philosophy, begins with some descriptions of the world, the knower, and knowledge; then it strives to provide an account of these in a coherent manner. It is true that their descriptions are different: the Vallabha school is indebted to the descriptions provided by the Naiyayikas and the Samkhya school, whereas St. Thomas largely relies on the descriptions provided by Aristotle and to a lesser extent on some Arabian thinkers. But both rely on certain metaphysical descriptions to provide an account of their theories of perception.

A more substantive point of comparison concerns their approach to religious perception. Neither SriPurushottam nor St. Thomas thinks it possible to have religious perception. Although the Vallabha schools accepts yogic perception, it is clearly stated that perceiving God is possible only through Grace and not through the means of valid knowledge. Similarly for St. Thomas, any substantial knowledge of God is to be had from revelation and not through any ordinary or natural means. The main reason for is the faculty psychology he has adopted from Plato and Aristotle, together with the devaluation of the senses that characterise Plato. Since senses are what we share with other animals and senses can give us knowledge only of sensible things, it follows that we cannot perceive God who is immaterial. The only natural avenue to knowing God is through reason and that too would take us only to the doorsteps of religious knowledge by showing that God exists without telling us what God is. Having been brought to the doorsteps by means of reasoning, revelation takes over. Therefore, unlike contemporary authors like William Alston who talks about 'perceiving God' or John Hick who talks of religious faith as an 'experiencing-as' there is no philosophy of religious experience to be found in Thomas Aquinas. This situation began to change in Western epistemology only in the post-Kantian period as a response to Kant's conclusion that we cannot have any knowledge of God because there is no possibility of any sensible intuition of God.

There is also some similarity and contrast regarding perception of the soul. In the Vallabha school there is the distinction between soul in its true form and the ego or theI. The former is not a matter of ordinary perception, whereas the latter is. Since such a distinction between soul and ego is not found in St. Thomas, there is no question of perceiving the soul either. The existence of the soul needs to be inferred as already mentioned.

Another possible comparison is between the identity-contact of the Vallabha tradition and what is known as knowledge by connaturality in St. Thomas. Although such knowledge is not strictly a matter of perception, it is not inference, either. Here is what he says on the matter :

> Now rightness in judging can come about in two ways, through the perfect use of reason or through a certain natural kinship with the things one is judging about. Thus in matters of chastity, one who is versed in moral science will come to a right judgment through rational investigation, another who possesses the virtue of chastity still be right through a kind of instinctive affinity. So it is with divine things[6].

Although I have said this sounds similar to the identity contact in the Vallabha tradition, the difference between the two is also immediately clear: identity-contact is one of the five kinds of contact operative in ordinary perception. Perception of inner states like determination, doubt, pleasure etc., are said to result from identity contact. In St. Thomas, however, connaturality is not an ordinary means of knowledge. It is worth noting that Robert K. C. Forman, in a recent book, has suggested a theory of 'knowledge by identity' to deal with mystical experiences. The basic point of the suggestion is that "I know it because I am it or live it"[7]. This seems very similar to what Thomas says of knowledge by connaturality.

3. Some Contemporary Developments:

If there is one thing that is common to the pre-modern or metaphysical approach in Western philosophy and the contemporary naturalistic approach to human knowledge, it is their anti-foundational convictions. The moderns thought that they could secure their philosophy on firm foundations by eschewing prior descriptions. This can be said of rationalists like Descrates as well as empiricists like Locke, with some variations. One of the contentions of naturalized epistemology is the impossibility doing epistemology without any prior descriptions. In other words, some prior description of the knower and the world cannot be avoided. In this respect, the procedure of Sri. Purushottam and St. Thomas are being vindicated by naturalized epistemology. This is something that Thomists could be happy about because one of the things that they boast of is Aquinas' empirical, or even naturalistic approach to human knowledge and yet being able to synthesise it with religious faith[8]. On the other hand, the sort of metaphysical descriptions adopted by St. Thomas may seem problematic today. In its place we might need more non-controversial phenomenological descriptions. Let me point out some of the descriptions of the Thomistic philosophy that could be problematic today.

Let us begin with the description of the human knower in terms of faculty psychology. Thomism, in its history, has tended not merely to distinguish these different faculties, but also to separate them[9]. Taken in this manner, sensing is something that we humans share with animals and then the intellect, with its conceptualising and reasoning abilities, takes over. This is clearly a false picture of the human knower, as it has been shown beyond doubt that there is a close and inseparable link between percepts and concepts such that conceptual richness leads to perceptual richness. To put in terms of contemporary cognitive psychology, perception is complex process that involves both a 'concept-driven' or 'top-down' processing as well as a 'data-driven' or 'bottom-up' processing.

Even more than the involvement of concepts in perception, there is the phenomenon of selective attention that must find a place in any description of the human knower. Only a fraction of the myriad sights, sounds and smells with which we are constantly bombarded, gets entry into our consciousness[10]. Bernard Lonergan, a contemporary interpreter of Thomistic epistemology was fond of giving the example of the milkmaid who laughed at Thales for falling into the well, as he walked along with his eyes fixed on the stars. The point is that "the causal sequence set off by the proximate stimulus determines what can be perceived in any given conditions, but not necessarily what will be perceived"[11]. What will be perceived is also dependent on what we pay attention to. What it indicates is that there is a close collaboration not only between the senses and the intellect, but also with will, once considered a non-cognitive faculty. While it seems unlikely that a thinker of the calibre of St. Thomas was not aware of this phenomenon of attention, I should confess that I am not aware an adequate treatment of it in Thomism. It is Heidegger and the pragmatists who force us to take note of this.

Also problematic is the Thomistic description of the world in terms of matter and form. Understanding knowledge in terms of the mind taking on the form of the object gave a good explanation of the phenomenon of the stability of perception. That is to say that when something is judged to be a mango we continue to judge so later on too; and this is well accounted for by saying that the object is composed of form and matter and that in the process of knowing the form is taken into the mind without matter. However, it becomes problematic when we consider that not only is there the phenomenon of stability but also the phenomenon of multi-stability or perceptual polymorphy. Wittgenstein's duck-rabbit case, where the same stimuli could be seen as a duck or as a rabbit, is a famous example. There are a good number of such cases that are well documented in cognitive psychology. Another well-known multi-stable figure is given here: it could be seen either as two faces facing each other or as a vase. What needs to be further noted is that multi-stability applies not merely to artificially drawn cases like these, but is a phenomenon of ordinary perception. Consider this example from J.L. Austin: "Suppose that I look through a telescope and you ask me, what do you see?" I may answer (1) A bright speck; (2) A star; (3) Sirius; (4) The image in the fourteenth mirror of the telescope. All the four are perfectly legitimate and correct answers. In Thomistic language, there is more than one intelligibility, which in turn, leads to four different judgments, all of which are equally valid. The point is that there is no one form of the object that is taken into the mind in the process of perceiving. Meaning or the intelligibility that accompanies perception is a much more complex affair than was assumed in the metaphysical approach that begins with the assumption of a ready-made world of objects.

Let me conclude by outlining an alternative view of perception that I like to call a relational theory. Rather than begin with the assumption of a pre-fabricated world as in the metaphysical approach we begin by standing back and asking like Heidegger, how do these multiple entities that we take so much for granted come to be or alternately, come to have any meaning for us? The briefest answer to this question is provided by Hilary Putnam when he says, 'Objects' do not exist independently of our conceptual schemes. We cut up the world into objects when we introduce one or another possible scheme of description. [12]"I prefer to call it a relational theory of knowledge" since that is much less misleading than other terms like constructivism, cognitivism and the like. Human knowledge, upon this view, is like a family brought forth through a love relationship between two persons. Putnam's idea of a joint making conveys this notion of knowledge being produced by a mutual relationship. Obviously, we do not begin with the assumption of any pre-existing fact world. And this starting point is very problematic for many. Besides the fact that it seems to go against our ingrained natural attitude, such a starting point invites the objection that if knowledge is the result of a relationship, the relata must first exist. So how can we not start with a fact world, a world of existing entities?

A proper understanding of this matter is very crucial if we are not to end up in the sort of contradictions Kant is said to make: On the one hand, there exists a mind independent thing-in-itself which is unknowable; on the other hand we know our experience to be caused by that thing-in-itself. In order to avoid such contradictions, we must recognize that just as there is no family prior to a certain relationship, there is no world (cosmos, ordered universe of meaningful entities) prior to the relationship between a knowing mind and its surroundings. Notice that there is no thing-in-itself' here. That is a totally misleading expression because it makes us think of objects like oranges and apples, animals and persons (i.e., a pre-fabricated world) as known to us to be existing, but none of these objects can be really known; all that can be known are their appearances. Such talk is obviously non-sense. The relational theory says, rather, that anything that may be considered an object are those which we can call by names such as 'apple' and 'orange' and it is the product of a relationship; such objects have no existence prior to that. All that can be said about the relata that exists prior to the relationship is a knowing mind and its surroundings (the environing world, as the phenomenologists would say). Nothing can be said of the shapes and contours of this environing world except that it is there and that we are constantly interacting with it, like explorers in an unknown land. It is in the course of the explorations that the environing world becomes a fact world. And only about a fact world can we say that it is made up of different objects arranged in a certain way; it is such a fact world that is meaningful to us and not an amorphous surrounding world.

Once it is recognized that we cut up the world into objects according to our conceptual schemes, the next question that naturally arises is this: where do these schemes come from? It is here that evolutionary epistemology comes into the picture and answers the question in terms of our phylogenetic experience or the explorations done by our evolutionary ancestors[13]. The relationship between action and knowledge is reversed in this scheme of things. R.W. Newell succinctly puts this view when he says,

> We may see them [human persons] as agents acting in the world and guided by their beliefs, motives, desires and needs; and thus seen, explain epistemological ideas by focussing on human activities and practices[14].

Human actions oriented to fulfilling our needs and desires come, then, at the very centre of our conceptual schemes and accordingly, of our knowledge. Not only does this sort of theory recognize the intimate relationship between the three faculties in the process of knowing, but also would make room for scientific and religious knowing, if it can be shown that they are oriented to fulfilling needs and desires are significantly different from what is involved in perceptual knowing. Such knowledge, especially religious knowledge, would be a matter of connaturality arising from one's practice of prayer and meditation. Thus, a relational theory can maintain both the naturalistic as well as the religious concerns of St. Thomas.

1. Plato, Theaetetus, 201c
2. See, Stephen Everson, ed. (1990) Epistemology: Companions to Ancient Thought 1, Cambridge: Cambridge University Press, 1990, p.4.
3. White, 'Plato' in Dancy & Sosa eds., A Companion to Epistemology Basil Blackwell, 1992, p.345.
4. Vernon J Bourke, The Pocket Aquinas: Selections from the Writings of St. Thomas. New York: Washington Square Press, 1960. p.4
5. Thomas Aquinas, Summa Theologiae, 1, 14,1e. Bourke, p.8
6. Thomas Aquinas, Summa Theologiae 2 .2, q.45, a.2
7. Robert K. C. Forman, Mysticism, Mind, Consciousness. Albany: State University of New York Press, 1999,

p.121

8. See, for example, Bourke, p.5

9. See, Joseph Flanagan, Quest for Self-Knowledge: An Essay in Lonergan's Philosophy. Toronto: University of Toronto Press, 1997, p.195-6

10. D.H. Dodd, R.M. White Jr., Cognition: Mental Structures and Processes. Boston: Allyn and Bacon, Inc., 1980 p.23

11. David Kelly, The Evidence of the Senses: A Realist Theory of Perception. Baton Rouge and London: Louisiana State University Press, 1986, p.148, emphasis added.

12. Hilary Putnam, Reason, Truth, and History. Cambridge: Cambridge University Press, 1981, p.52.

13. Franz Wuketits, ed. Concepts and Approaches in Evolutionary Epistemology: Towards an Evolutionary Theory of Knowledge. Dordrecht: D.Reidel Publishing Company, 1984, p.81.

14. R.W. Newell, Objectivity, Empiricism, and Truth. Routledge and Kegan Paul, 1986, p.7.

……+……

चर्चा

ज्योर्ज करुवेलिल् एस्.जे.

प्रद्योतकुमार : When you come to the modern period you notice that there is a tendency towards naturalism. So modern epistemology is basically naturalistic. And this naturalistic epistemology you almost equate with non-foundationisitc epistemology. In current epistemology we draw a distinction between the epistemological theories that are foundationalist and coherentist. So as per your reading it must be that all modern naturalistic epistemology are coherentistic epistemologies...

The other thing, when you speak of Quine, he is a naturalistic no doubt, but his naturalize philosophy is not necessarily naturalistic philosophy. What he only mean to say is this that earlier conception of epistemology has got no basis what so ever. And with that conception your JPT thesis is very closely related. That JPT hypothesis, that conception of knowledge, which is also a modern conception of knowledge traced back to Plato by Gettier, he has revived in this time. Now his point is little deferent. So what Quine mean is this that it was in a modern period only that this conception of epistemology as primary philosophy arose. And his objection to that, that there can not be any primary philosophy so there can not be any search for certainty. All that he can search for is genetic explanation or causal explanation. And that he says to be naturalized epistemology. So your understanding of naturalized epistemology is not doing justice to Quine at all. That is not his conception.

Now about your remark that what Kant says is nonsense. I think it is not. It makes perfect sense if you place him in context. He is not uttering any contradiction when he says that there are things in themselves and we do not know them. For knowing, has a very definite sense in Kant. He says that we cannot grasp them through the theoretical exercise of reason. So his conception that comes very much from the Neo-platonic tradition also that two distinct applications or use of 'reason' are there: theoretical and practical. So we can still know them, even God we can know, immortality you can know as presupposition. And that is a matter of practical reason.

One more thing I would say that, you have very well brought out the Thomistic conception of general sense organ. That is very useful in the sense that there was a synthesiging factor in our perception. Otherwise all the deferent sense organs get deferent information. And there is very beautiful expression in our Śāstra इन्द्रियाणां परस्परसंवादाभाव:. We admit, one sense organ, which is called Manaḥ is सर्वविषयकानुभूतिसाधक. Whereas others have विषयव्यवस्था, Manas have no विषयव्यवस्था. But this point of comparison is quite good. I think it can be carried on.

ज्योर्ज करुवेलिल् : I did not intend to reduce naturalized epistemology to non-fundationalism. All that I wanted was that it originates with Quine. But then there is lot of further developments.

प्रद्योतकुमार : But I don't think that there is no further development. I don't know anyone who is the follower of Quine in the mater of naturalize epistemology. I think it started with Quine, it ends with Quine.

ज्योर्ज करुवेलिल् : Number of defferent people are there. I could give you a list of them if you want.

प्रद्योतकुमार : Putnam is totally opposed to it. And this thing brings another thing. You say relational theory of perception. But that again is misleading. Relational theory of knowledge was long back proposed by Russell in his "problems of philosophy". But the point what Putnam say is, that all our observations are theory-laden. that is what is their point. So that doesn't make it as relational.

ज्योर्ज करुवेलिल् : Let me complete what I was saying first about the naturalized epistemology. There are lot of further developments after Quine is what I wanted to say. Among these developments, I just adopted one point, which I thought would fit in here with the continuity of metaphysical tradition. Continuity... in the need for descriptions prior to proposing a theory. And describing certain things which are non-controversial and proceeding further. And even in describing, metaphysical description can be problematic. But then there are certain common phenomena that can be described and then their explanation that give a best coherent account of those non-controversial phenomena. It is this methodology that was adopted. This necessity for description is another way of saying what you said Quine to be saying: that there can not be any first philosophy in the modern sense, a first first philosophy without any prior assumptions (descriptions).

As for Kant again is a complex thinker. Each and every one of these thinkers is coherent sensible in their own systems. And that way I can not scold of Kant ...

प्रद्योतकुमार : Then please don't use the word 'nonsense'.

ज्योर्ज करुवेलिल् : That is why I qualified earlier "He *seemingly* makes contradiction". I have used that word.

प्रद्योतकुमार : Then it can not be nonsense.

ज्योर्ज करुवेलिल् : Afterwards I said "understood in this sense it is nonsense". I have no said Kant to be saying nonsense. Not at all. I have great admiration for Kant. And I have profited a lot from him.

Now while interacting about a relational theory other then the word there is nothing common between Russell and the theory I proposed.

प्रद्योतकुमार : Another important question you raised was where from came this conceptual frame itself. So this question is un-permissible in their thinking.

ज्योर्ज करुवेलिल् : That's what I said, other then the word 'relation' there is nothing common to Russell. Russell already takes a ready made world for granted. That is being questioned here. Here 'relation' is taken from human relations especially from the book of Vincent Bruemmes who talks about love as a mutual relationship between two persons. So only that idea is being taken. There is a surrounding world with which we are in constant interection; in Heideggerian terminology, we are thrown into a situation with which we are totally unfamiliar. And in the process of meeting our practical needs we come to understand our surroundings in terms of something as something. He gives the example of hammering. ... So it is that sort of thing that I am referring to and not Russell.

सिद्धेश्वर भट्ट : It seems that you are using this expression 'relational theory of meaning' in a very specific sense. But otherwise there can also be another version of the relational theory of knowledge wherein it can be granted that there are objects located in an ordered way and we may apprehend the objects and their relations and reconstruct them. That means there can be order at the objective level, there can also be order at the inter-subjective level. And at that level we may view them in this particular sort of order or that particular sort of order. But there is no incompatibility between the original order and the constituted order. If there were no order there already, I think, any construction of an order would be just simply a superimposition, simply an imagination. And it would be groundless. So, why should we not grant that there is an order there. We apprehend the order but we reconstruct it.

ज्योर्ज करुवेलिल् : There is precisely the point of relational theory. ... If you begin with a fact-world [and an objective order, then the problem would always be, "How can we be sure that we have captured that objective order?". On the other hand, if there is no objective order, our perception would be pure superimposition, a fiction. Relational theory seeks to avoid both these extremes. It does not deny that there is mind-independent reality; but it derives that the categorical world (reality that can be described in categories) is mind independent.

The mind-dependence of the categorical or factual world, however, is a conclusion and not the starting point of relational theory. Its starting point is that we use categories for describing reality. From this non-controversial starting point it takes a step back and asks "How do we come to have these categories?". Relational theory is an answer to this question. It says that we humans are thrown into a situation (non-categorical, formless surrounding reality) and in the process of our interacting and relating to that surrounding, reality gains its form for us and our categorical world comes to be. This is basically the view of Heidegger. The point is that the surrounding reality must have certain features that enable the categories to develop in the way they do]. A psychologist like like J. J. Gibson etc. he would talk about the affordances of the things that are there. They have their affordances. So that it can not be an arbitrary construction. That's why though I used the word 'constructivism' earlier, I avoided that word precisely to do away with the impression that it is merely a human construction. The objects or the world or our surrounding has certain capabilities and not other capabilities. [The basic differecne between this view and our traditional coman sense view of a ready-made fact world is that in the traditional view there is just one fixed set of objects and categories whereas the relational theory says that the objects and categories would be different if our manner of relating to the surrounding would is different]. Our surroundings could be approached in terms of Martin Buleer's 'I'-'it' which is basically a practical relation. It could also be approached in terms of I-thou, then the worlds become completely deferent. And that's precisely why I want to avoid the notion of a ready made world.

सिद्धेश्वर भट्ट : But this reconstruction may take place in deferent ways. E.g. it can be in such a way that my reconstruction and your reconstruction may tally. Or it could also be possible that my construction and your construction may be radically deferent. E.g. a normal man also can reconstruct and abnormal schizophrenic person also undertakes reconstruction. And we do say that ours is something which is commonly acceptable but a reconstruction of a schizophrenic's is not acceptable. And therefore we give treatment to that person. So, there can be diferent ways of reconstructing the relations among objects.

डी. प्रह्लादाचार : As per St. Thomas, who follows Aristotle and Plato, senses are of two kinds: Five external senses and four internal ones. The four internal ones are: 1. Central or general sense 2. Imagination 3. Memory 4. Cogitative sense. It seems that all kinds of cognitions can be produced by these five plus these four only. That means, according to St. Thomas there is only one kind of cognition, namely perceptual cognition and there is nothing else, is it so?

ज्योर्ज करुविलेल् : This is an explanation of perception then as I said there is an intellect coming to the picture. And there is inference ... then, of course there is revelation.

डी. प्रह्लादाचार : The examples that you have given ...

सिद्धेश्वर भट्ट : I think they are comparable to the functioning of Ahankāra in terms of मन बुद्धि चित्त अहंकार but not exactly the same. Because in Mind there is Samśaya. But there, there is no role of doubt. But correspondence is there in the functioning of Antaḥkaraṇa.

गो. श्या. म. : ''चक्षुषा आलोच्य वस्तूनि, विकल्प्य मनसा तथा, अहं मत्यापि अहंकाराद्, बुद्ध्यैव अध्यवसीयते'' (द्रष्टव्य : संगोष्ठ्युत्तर-लेखनीक१).

……+……

संगोष्ठ्युत्तरलेखन

गो.श्या.म.

श्रीज्योर्ज करुवेलिल् एस्.जे.के सुवैदुष्यपूर्ण आलेखकी समालोचना या समर्थन के रूपमें नहीं, केवल इनके द्वारा छेड़े गये मुद्दोंको सुन कर जो विचार मेरे मस्तिष्कमें घुमड़ रहें हैं, उन्हें इस संगोष्ठ्युत्तरलेखनके रूपमें लेखबद्ध कर देना चाहता हुं.

प्रत्यक्षप्रमाणकी प्रक्रिया (The theory of perception) का अध्ययन अनेकधा सम्भव है : पदार्थमीमांसा (Metaphysics), प्रमाणमीमांसा (Epistemology) मनोमीमांसा (Psychology), प्रकाश-जैविकसंरचनाकी परस्पर प्रतिक्रियाका विज्ञान (Photodynamics), मस्तिष्कीयविद्युत्तरंगोंके अध्ययनका विज्ञान (Electroencephalogramics), अथवा चक्षुर्विज्ञान (Opthalmalogical science) यों ऐसे अनेक शास्त्रोंपर आधारित प्रत्यक्षप्रमाणकी प्रक्रिया हमारे अध्ययनका विषय बन सकती है.

इन विविध शास्त्रोंकी अन्वेषणाकी रीति और उसपर अवलम्बित निष्कर्षोंमें आन्तरिक प्रभेद ही नहीं प्रत्युत परस्पर विरोधाभास भी प्रकट हो ही सकते हैं.

[१] दृश्य वस्तु : वर्ण आकृति परिमाण गति स्थैर्य गुणधर्म धर्मी द्रव्य सम्बन्ध आदि.

[२] दर्शनोपकरण : अकृत्रिम मानवीय नयन, मानवेतर प्राणिओंके नयन अथवा दूर/सूक्ष्म व्यवहित/अव्यहित प्रकाशित/अप्रकाशित वस्तुओंके प्रदर्शक आधुनिक कृत्रिम उपकरण भी.

[३] द्रष्टा : मानवीय नेत्रसंस्थानसे सम्पन्न स्वस्थमना या अस्वस्थमना व्यक्ति. इसी तरह अनेकविध नेत्रसंस्थानोंसे सम्पन्न मानवेतर प्राणी भी.

[४] दर्शनानुभूति : मानवीय मस्तिष्कमें घटित होती अथवा स्वतश्चालित राडर आदि वैज्ञानिक उपकरणोंमें दर्ज होती.

इनका स्वरूप इस लघुतम सूचिके अवलोकनमात्रसे ही इतनी विविधता प्रकट करता है कि जिसकी कल्पना भी शक्य नहीं. इस सूचिमें कहीं और भी कुछ यदि जोड़ा जाये तब तो कुछ भी गणनार्ह ही नहीं रह जायेगा. किसी भी सूरतमें इन सभी शास्त्रोंका परस्पर संवाद और/अथवा विवाद बंद नहीं पड़ना चाहिये. और न किसी एक शास्त्रके आधारपर

दूसरे शास्त्रकी अध्ययनपद्धति या निष्कर्ष की अकारण ही अवहेलना की जानी चाहिये.

अतएव इस विषयमें प्राचीन आर्ष शास्त्रोंके निष्कर्ष भी वैचारिक दृष्टिसे ओझल नहीं होने देने चाहिये. जैसाकि इन विचारगोष्ठिओंमें अनेक बार हम प्रतिश्रुत हुवे हैं. वाल्लभ वेदान्त, अतएव, वेदादि शास्त्रोंकी व्याख्या होनेके रूपमें प्रवृत्त हुवा चिन्तन होनेपर भी इसी प्रयोजनवश ज्ञानकी जिस किसी विधाके साथ अपना संवाद विसंवाद या विवाद जो भी हो उसे समझनेको ही ऐसी विचारगोष्ठीका आयोजन करता रहा है. अतएव सन्त थोमस अक्वीनाके प्रत्यक्षप्रमाण सम्बन्धी ईसाई चिन्तनके महत्त्वको, वैज्ञानिक अध्ययनोपात्त निष्कर्षोंकी तुलनामें, हम कभी भी अब अप्रस्तुत मानना नहीं चाहते. अतएव श्रीज्योर्ज करुविलेल्का इस विचारगोष्ठीमें सहभागी हो कर विद्वत्तापूर्ण आलेख प्रस्तुत करना हमारेलिये निश्चय ही हार्दिक सन्तोष एवं उपलब्धि की बात है.

अस्तु, प्रत्यक्षप्रमाणकी गोचर दृश्य वस्तुका वास्तविक स्वरूप प्रत्यक्षानुभूतिमें बिम्ब-प्रतिबिम्बन्यायेन दृष्टिका विषय बनता है. वह प्रतीकालम्बन और तदनुकूल प्रतीकसंरचनाके न्यायसे प्रतीकैकाध्यवसायिनी बुद्धिका विषय भी बन सकता है. वह वस्तुतः तो दर्शनके सर्वथा अयोग्य वस्तुका परन्तु हमारे ज्ञानोपकरणकी संरचना या वासना के वश उभरते प्रत्ययोंके माध्यमसे प्रकट होती थोथी कल्पनाका विषय भी बन सकता है. अथवा सक्रियबुद्धि और निष्क्रियदृश्यवस्तु के इतरेतरोपरक्त स्वरूपका भी प्रत्यक्षमें साक्षात्कार हो सकता है. इनमेंसे किसी भी प्रक्रियाको ऐकान्तिकतया ही शक्य अथवा ऐकान्तिकतया अशक्य ही मान लेना मुझे उपपत्त्यर्ह नहीं लगता. क्योंकि प्रस्तुत चर्चाके उपसंहारमें मैंने हमारे यहां *प्रमेयरत्नार्णव* नामक ग्रन्थमें प्रस्तुत लक्ष्मीतन्त्रकी प्रत्यक्षप्रक्रियाका प्रतिपादन करनेवाली कारिका जो उद्धृत की, तदनुसार सर्वप्रथम चाक्षुष आलोचनकी प्रक्रिया ही इतनी जटिल लगती है कि उसी स्तरपर चक्षु और तद्गोचर पदार्थ प्रकाश-जैविकसंरचनाकी परस्पर प्रतिक्रियाका विज्ञान (Photodynamics),

मस्तिष्कीयविद्युत्तरंगोंके अध्ययनका विज्ञान (Electroencephalogramics), अथवा चक्षुर्विज्ञान (Opthalmalogical science) की अध्येतव्य सामग्रीके रूपमें इतरेतरोपरक्त होते माने जा सकते हैं.

द्वितीय मानसविकल्पना, तृतीय अहंकारानुगति, चतुर्थ बुद्धिकी विविध अज्ञान संशय भ्रान्ति निश्चय वृत्तिओंमेंसे किसी भी एकतम वृत्ति, यों इतने स्तरोंपर घटित होती प्रक्रियाओंको मनोमीमांसा एवं प्रमाणमीमांसा (Psychology & Epistemology), का अध्येतव्य विषय बनाया ही जा सकता है.

अन्तमें इन सभी ज्ञान-विज्ञानकी विधाओंका साकल्येन निरूपण करना चाहती पदार्थमीमांसा (Metaphysics), भी इनके निष्कर्षोंसे ऊपर उठ कर प्रत्यक्षानुभूतिके घटक पदार्थोंका प्रतिपादन करनेवाला पदार्थमीमांकीय स्वरूप भी विचारार्थ प्रसक्त हो सकता है.

प्रत्यक्षानुभूति न तो एकाकी आत्मचेतनामें और न केवल पांचभौतिक देह या बाह्याभ्यन्तर इन्द्रियों के संघातमें घटित होती कोई एकरसात्मक घटना है. वह तो इन सभीके संघातमें ही केवल नहीं प्रत्युत बहुविध बाह्यविषय और सजीव व्यक्ति की परस्पर क्रिया-प्रतिक्रियामें सम्पन्न होती घटना है. वह, अतएव, कदापि ऋजु-आकारमें परिभाषित हो ही नहीं पायेगी. यह बात इस तथ्यके अवधानसे और अधिक सम्पुष्ट होती है कि बाह्य किसी वस्तुका जब चक्षु आलोचन कर पाती है, तब उस आलोचनकी प्रक्रियाको स्थगित या निरस्त करके मन स्मर्यमाण विकल्पोंका अवगाहन नहीं करता. चाक्षुषालोचनके, प्रत्युत, सातत्यमें ही उस आलोचनको यथासम्भव विकल्पोंसे संयोजित करता जाता है. इसी तरह अहंकार भी उस सविकल्प चाक्षुषालोचनको ''अहं पश्यामि'' के पहलुसे जो मण्डित करता है तो वह भी सविकल्प चाक्षुषालोचनको स्थगित या निरस्त करके नहीं. उसके सातत्यमें ही उसे अहंकारानुस्यूत बनाता है. बादमें बुद्धिकी विविध वृत्ति—अज्ञान संशय भ्रम प्रत्यभिज्ञा निश्चय आदि—से ''इमं

न ज्ञातुं शक्नोमि'' ''किम् इदं घटं वा अन्यत् किमपि!'' ''नायं घटः'' ''घटोऽयं पूर्वमपि दृष्टएव'' अथवा ''अयं घटमेव'' आकारवाली प्रत्यक्षानुभूति होती है तो वह भी ''मच्चक्षुगोचरम् इदम्'' के सातत्यमें ही उसे इन विविध वृत्तियोंमें से किसी एकतमसे बुद्धि संयोजित करती हुयी पायी जाती है. अतः स्वरूपदृष्ट्या और कारणकलापदृष्ट्या भी कोई भी प्रत्यक्षानुभूतिकी घटना निरंश ऋजुता लिये हुवे नहीं होती. वह तो शतपत्रवेधवत् दुर्लक्ष्य सांश जटिलता लिये हुवे ही होती है.

अतः अनुव्यवसायके स्तरपर अनुभूत होती निरवयव एकताके बारेमें वाल्लभ मतकी अवधारणाओंके अनुसार इस घटनाको संघातवश उत्पन्न नूतन आरम्भ अथवा संघातघटक अनेकत्वमें एकत्वकी भ्रान्ति माननेके बजाय संघातघटक अनेकत्वमें निहित शक्य या सम्भाव्य एकत्वका वास्तविक एकत्वेन प्रादुर्भाव मानना उचित लगता है.

क्योंकि लौकिक दृश्यवस्तुओंके ब्राह्मिक पहलुओंका ज्ञान जैसे हमें ब्रह्मशास्त्रोंद्वारा ही मिल सकता है, वैसे ही ब्रह्मके दृश्यवस्तुतया प्रकट होनेके कारण दृश्यवस्तुओंसे घीरे जैविक अधिष्ठानमें घटित होती जैविकी प्रतिक्रिया या मानसिक प्रतिक्रिया या बौद्धिक प्रतिक्रिया अथवा दृश्येतर अन्य भौतिक पदार्थोंके साथ घटित होती भौतिकी प्रतिक्रिया की गवेषणामें रत विभिन्न ज्ञानप्रणालियोंद्वारा भी उन्हें जाना ही जा सकता है. उदाहरणतया दृश्यवस्तुके वर्ण आकृति तुलनात्मकपरिमाण गति स्थिति तादात्म्य या संयोग आदि अनेक पहलुओंकी संगणकमें संख्याकीय एककोंमें न केवल व्याख्या प्रतिकृति या प्रतिरूप प्रत्युत प्रदर्शनीय प्रतिभास भी अब शक्य बन गया है. एतावता वास्तविक बाह्य जागतिक वस्तुओंको संगणकीय एककोंका केवल संघात नहीं माना जा सकता. यह तो वैसी कथा हो जायेगी कि अजैविक जयपुर-फुट पहन कर कोई चल या नाच पाता हो एतावता जैविक चरणोंको जैविक न मानना.

आज तो दृश्य प्रकाशतरंगकी तरह मानवचक्षुसे अगोचर एक्सरे इन्फ्रारेड्

अल्ट्रावायोलेट् ही नहीं प्रत्युत श्रव्य और अतिश्रव्य तरंगोद्वारा भी किसी वर्ण/आकृति/परिमाण/गति/स्थितिशील वस्तुओंका साक्षात्कार शक्य बन गया है.

हम मनुष्योंने अकारण ही यूनानी दर्शनके पिता सुकरातकी सी भोली श्रद्धाके वश अपने-आपको तार्किक पशुके रूपमें बिरदा कर अज्ञान संशय भ्रम इच्छारूप संकल्प या स्मर्यमाण विकल्पों की हमारी शक्तिओंको हीनदृष्टिसे देखनेकी मनोवृत्ति घड़ ली है. अन्यथा ओषधिहेतुक पीड़ाका अज्ञान, निद्राकालीन बाह्यविषयोंका अज्ञान, क्रियासमाधि या असम्प्रज्ञात ध्यानसमाधि की दशामें चित्तकी एकाग्रता के कारण होता अनपेक्षित वस्तुओंका अज्ञान तो अति श्लाघ्य ही होता है! इस दृष्टिसे निहारनेपर अज्ञान आदि भी हमारी चेतनामें प्रकटे अति श्रेष्ठ वरदान ही हैं! जीवनमें यदि हमारी बुद्धि यदि संशयकी सामर्थ्यसे सर्वथा वंचित बनायी जा सकती हो तो दार्शनिक या वैज्ञानिक विकासकी सारी सम्भावनायें ही निःशेष हो जायेंगी. प्राकृतिक आपदाकी पूर्वसूचना देते दृश्य-श्रव्य आदि चिह्नोंमें, भूकम्प या युद्धकी पूर्वसूचना देनेवाले सायरन् अथवा सिंह व्याघ्र आदिकी क्रूर ध्वनिओंमें, भीतिजननार्थ शब्दोंमें की जाती घोषणाओंमें वे जिन पदार्थों या घटनाओं के सूचक द्योतक या वाचक हों उनके साथ तादात्म्याध्यास प्रकट न हो पाता हो तो सजीव प्राणीका भूतलपर जीवित ही रह पाना असम्भव हो जायेगा! अतएव इन अज्ञान संशय भ्रम स्मृति आदि, दर्शन आदि शास्त्रोंमें निन्दित, बुद्धिवृत्तियां बुद्धिरहित मानवेतर प्राणिओंकी ही नहीं प्रत्युत मानवरूप प्राणीकी भी जीवनरक्षामें बहोत श्लाघ्य उपयोगी और अनिवार्य होती हैं.

अतएव देवीसूक्तमें भगवती देवीका **''या देवी सर्वभूतेषु चेतनारूपेण निद्रारूपेण बुद्धिरूपेण (तथा) भ्रान्तिरूपेण संस्थिता''** (देवीसूक्ते : ७,८,२६) ऐसा उल्लेख मिलता है. अतः इन्हीं बुद्धिवृत्तिओंको भगवान्‌की शक्ति या लीला की दृष्टिसे निहारनेपर ये वन्दनीय भी लगती हैं, केवल निन्दनीय ही नहीं. महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यका इस विषयमें नितान्त अनुसन्धेय एक

वचन यों है : ''**सर्वरूपसमर्थत्वम् अतो ब्रह्मणि गीयते अन्यथा प्रतिभानं यद् उच्चनीचादिभेदतः तद् भानं तस्य कर्ता च हरिरेव तथाविधः. यत् किञ्चिद् दूषणन्तु अत्र दूष्यं चापि हरिः स्वयम्. विरुद्धपक्षाः सर्वेऽपि सर्वम् अत्रैव शोभते!**'' (सुबो.२।९।३२).

अर्थात् ब्रह्म यदि एकमेव अद्वितीय पदार्थ हो तो उसे सर्वरूपोंको प्रकट या धारण करनेमें समर्थ मानना ही पड़ेगा. उस ब्रह्मकी अवधारणासे विपरीत जो भी कुछ पुण्य-पाप सुन्दर-असुन्दर शुभ-अशुभ सत्य-असत्य ऋत-अनृत ऊंचा या नीचा भान होता हो उसे ऐसे भानको और भानको प्रकट करनेवालेको भी ब्रह्म ही मानना चाहिये. यदि ऐसी अवधारणामें दूषण अथवा दूष्य स्फुरित होते हों तो उन्हें भी भगवान्के लिये विविध रूप मान लेने चाहिये. परस्पर विरोधाभासी सारे पक्ष इस परब्रह्म परमात्मा भगवान्के स्वरूपमें शोभास्पद अलंकाररूप ही होते हैं!

* * *

PERCEPTION: A Philosophical Impasse

Dr. S. V. Bokil

The problem of Perception is about our knowledge of the external world whose reality would not be slighted by us in any way. One cannot seriously maintain that there exists an external world of physical objects, living beings and human persons and also maintain at the same time a view that their knowledge however has no genesis in perception. One would not know what it is to have knowledge of external world except through recourse to perception. A strong robust common sense would certainly support such a contention. And we know a few philosophers who would also defend Perception or Pratyakṣa as a valid source of knowledge. We say that they advocate a thesis of realism. They would then claim either that we directly know through perception (or sense-experience) the existence of physical objects and the sorts of properties which those objects have or that such knowledge is had by us only indirectly, contents of our sense-experience being ideas, or impressions, or sense data or sensibilia, or representations. Thus we have either Direct Realism or Indirect Realism. What is common to both is that perception plays crucial role in acquiring true justified beliefs about the external world. Our beliefs concerning external world are not only caused by perception but they also stand justified before the tribunal of experience. Philosophers whether in the East or in the West have some times even claimed the superiority of perception over other sources of knowledge such as Anumāna and/or Śruti. But there are also philosophers who have often said that our knowledge is not only somehow limited but also impossible because seeing, hearing and other forms of sensory perception are systematically defective or at least by nature incapable of disclosing to us anything with the characteristics we ordinarily suppose physical objects to have. Most of our philosophical anxieties are thus centered around perception and howsoever strongly we feel like defending robust common-sense and intuitionistic certainties of a few philosophers regarding perception, there are seemingly plausible philosophical arguments which make us skeptical about the claims made in behalf of perception. Consider e.g. Zeno's paradoxes, which were designed to discredit the evidence of senses in our belief of the reality of motion and plurality of being. They were brought in support of the Parmenidean thesis that 'being alone is; non-being is not'. These arguments of Zeno kept philosophical and mathematical brains till recently busy with the problematic of perception. Perception tells us that motion of things in the world is real, i.e. the change is real and the plurality is also real. But the paradoxical conclusions of Zeno's arguments discredits the evidence of perception which amounts to discrediting of perception itself. Consider further Plato's criticism of Perception in his Thaetetus. In defense of perception, while Protagoras was content in claiming that man is the measure of all things, Plato by continuing the logic of Protagoras' thesis reduces it to the absurdity of contending that pig be the measure of all things. If perception and knowledge are identified, then any irrational brute that is capable of perception is equally the measure of all things. Further if perception is identified with knowledge as is contended by Protagoras, my own perception at any moment becomes infallible and then there is no possibility of any instruction, any scientific discussion nor any debate or refutation. Identity of perception and knowledge leads to contradiction a very subtle charge made by Plato against Protagoras. Further[1]. Plato claims that to identify perception with knowledge is to annihilate knowledge of future. Plato further blames Protagoras for his ignorance of an apriori element in knowledge. The most important point which Plato makes is that we see with the eyes and hear with the ears; but to conjoin these perceptions thus acquired by different sense-organs and to embrace them in the unity of self-consciousness neither of these is an affair of the senses. We cannot have visual sensation by ear nor auditory sensations through eyes but nevertheless if we compare them, and distinguish them, that function cannot be performed by senses themselves.

Zeno and Plato were rationalists and for them reason in man was dependable organ of knowledge that referred infallibly to trans-empirical reality. In denouncing perception, they had a philosophical axe to grind. But Now consider the indictment of perception and indeed of all knowledge as such through ten skeptical tropes i.e. points or arguments given by Sextus Empirious a Greek physician who lived probably in the first half of the third century after Christ. (Refer to his Pyrrhonic Hypotheses in three books. The skeptical reservation of opinion or suspension of belief was based on:

1. Varieties of sensations and feelings which living beings in general have.
2. The bodily and mental diversities of men, by reason of which things appear different to different persons;
3. to the varying accounts of the senses themselves in regard to things, and to the uncertainty as to whether the organs of sense are competent or not;
4. to the dependence of our perceptions of things on out different bodily and mental states; as well as
5. on the various positions of things to us and to each other (distance, etc.);
6. to the fact that we know nothing directly, but all only through some extraneous medium (air, etc.);
7. to the varying impressions of the same thing by varying quantity, temperature, colour, motion, etc.;
8. to the dependence of our impressions on custom, the new and strange affecting us differently from the common;
9. to the relativity of all notions, predicates in general expressing only relations of thing to each other or to our perceptions of them;
10. to the diversity of the customs, manners, laws, religious conceptions, and dogmatical opinions of men.

These ten tropes summarise succinctly ancient skeptic's philosophical perspective. It is clear that ancient skeptics disavow belief. Naturally their scope is less radical. They do not doubt the reality of external world nor do they doubt that other persons have the sorts of feelings or perceptions as they have. The modest scope of ancient skepticism both of reason and perception is, it is claimed, due to its practical concern. Skepticism in ancient times was considered to be a way of life. It was believed that "He who has adopted the skeptical mood of thought, lives ever in peace, without care and without desire in a pure apathy neither of good nor of evil".

I must now hasten to speak of the treatment of Perception in classical modern period which begins with Rene Descartes. I shall also later on briefly indicate 20th century perception of Perception especially after the major linguistic turn. I shall keep the notion of perception at the center and develop the remaining presentation.

1. Descartes was rationalist and also a realist. He argued knowledge must be true justified belief and that beliefs or ideas must be caused by external material objects that exist independent of me. Thus all knowledge is comprised of innate ideas and perception can never play any justificatory role in knowledge. Thus his skeptic (better known as Cartesian skeptic a man of straw), in executing his methodological affair, denounces perception as a valid source of knowledge. But Descartes also advocated Mind-body substantial dualism

and thereby created host of problems in relating mind and body. It certainly seems that mind and body must be related in some way if you have to account for the knowledge of the external world. But if they are substances in their own right, no relation whether at physical level or at metaphysical level can be logically satisfactory. I shall not rehearse Descartes' proof which is lengthy one draw your attention to the core point in Descartes argument viz., though god is final sanction for all our knowledge, God guarantees the external existence of only those characteristics of objects of which we have clear and distinct apprehension. Of these there is only one, that is that they have extension in width, breadth and depth (hence they have shape) and relatedly they have substance, location, motion, duration, and number. Knowledge of these is guaranteed by God through reason which is the essence of mind or soul. Ideas like colour, sound, taste, heat and the like are adventitious, hence variable and relative. Because they are confusedly apprehended as properties of objects and hence uncertified by God. These properties which we come to perceive through senses may or may not accurately represent external objects. What we can know and prove with the exactitude of a geometrical theorem is that material objects exist and have extension. This is what is known as Representative Realism and which states that there is a real object (sustance) represented by ideas and indirectly know the objects they represent.

2. This theory is also held by John Locke, father of

classical Empiricism. He does not however indict perception. On the contrary he advocates the thesis that there are no such things as innate ideas and that sense-experience is only and sole source of all our ideas that go to make knowledge. However he expounds this thesis within the metaphysical framework of Descartes, thereby inviting a very perceptive comment that he is more a Cartesian than a Baconian. He subscribes to Descartes' distinction between Primary and Secondary qualities a distinction acknowledged by the then world of science and holds that the material substance which exists independent of mind is represented by ideas that we have through our senses of the properties which objects have. We do not really know or perceive substances but refer our ideas, which we do perceive, to them as their causes. A substance is merely a something, I know not what its unknown cause of my sensations or ideas of sensation. He attributes primary properties to material substance - substance inheres these properties; they are shape, size, number, motion and rest. But there are qualities which we attribute to objects outside but which do not inhere in them they are secondary properties Locks maintains that colours, odours, sounds, tactual feels and tastes of a thing exist as qualities only in the mind. They primarily depend upon sense organs and the mind, which is for Locke, a mere tabula rasa having nothing to contribute of its own a priori. Thus we infer what the substance is from its effects on us.

3. If we consider both these presentations of the

representative theory of knowledge, one giving no place to perception and the other solely resting on perception, one can see that both the presentations are unsatisfactory Descartes partly but Locks fully appeal to principle of causality. Appeal to causation is of no avail, because how can we empirically verify a causal relationship between objects and ideas unless we know first that such a relationship holds, we cannot know that there are any such things as external objects? Representative realist needs to verify this relationship in order to infer the existence of an external world, but in order to verify this relation he must first know that there really is and external world. The consequence is that both Descartes and Locke founder upon a skepticism concerning external world of material objects. It is this skepticism that has led for the first time in modern philosophy to the rise of epistemic idealism which reduces the 'esse' of an object to 'percipi'. (Brunet and Berkeley). Direct realism may not be a satisfactory philosophical account of our knowledge of external world but it at least sides with common sense. Representative realism intensifies philosophical anxieties that center round the relationship of mind and world. It presupposes metaphysical dualism of mind and body but it also introduces the myth of ideas in between mind and the external world. It's a known story how this my exorcises the concept of matter in Berkeley's philosophy and through that halfway house lends to skepticism about the very very substantial notion of mind. It leads to full-blooded sensationalism in Hume and Condillac - a reductio ad absurdum of both reason and perception as organs of human knowledge. It's the phenomenalistic reductionism which led to the rejection of metaphysics and to the introduction of mechanistic conception of man in La Mettrie. Descartes and his rationalistic supporters are non-naturalists; so are Locke and Bishop Berkeley. Hume introduced naturalism for the first time in Modern philosophy and identifying 'perception' with 'impressions' boldly handed Humean spectre in the hands of a skeptic.

4. Attempts were made to overcome the difficulties presented by the Representative theory of Perception by suggesting modifications here and there by developing theories like Neo-realism (R. B. Perry) and Critical Realism, (George Santayana. I shall not deal with them. (Those interested may refer to Vol.51, no. 2, April 1967 issue of Monist, which is devoted entirely to studies of neo-realism and critical realism.) Scholars are agreed on the general failure of these theories in handling squarely the issue of our knowledge of external world through Perception.

5. The 20th Century Phenomenalism or Sense-data Theory has much in common with Berkeley's epistemological idealism; it's a linguistic refinement of Berkeley's position without the theological metaphysics which he introduces. Both Berkeley and Hume had proposed reduction of material objects we perceive to the sensible qualities. The modern phenomenalist agrees with Berkeley that sense contents to not exist unperceived. "To be is to be perceived" is correct with

respect to immediate data of perception. Surely material things are constituted by sense data. He however departs from Berkeley in asserting that material things do exist independently. In order to remove prima facie incompatibility in asserting these contentions, phenomenalist moves from material mode of speech to a formal mode of speech and says that there is an important sense in which objects may be said to be constituted out of sense-data, which objects may be said to be constituted out of sense-data, which does not require saying that they are composed of them. If we properly understand the relationship between sense data and objects, then according to Ayer, objects can be regarded as logical constructions out of sense-data. To say this is to say that the physical object statements are those that can be translated into sense-data statements. Thus the phenomenalist shifts the whole problem of the external world to a linguistic level. Highly sophisticated and technically subtle accounts of the possibility of such translations were worked out by the defenders of such a theory but all of them failed for two important reasons:

1. No reduction of any physical object statement can be satisfactorily effect without introducing in the reductive analysis some new physical object statements or reference to physical objects.
2. As pointed by Waismann, the empirical concepts are open-textured concepts in such a way that there is always an element of uncertainty about their application. In his

own words :

> "The phenomenalistic translation would be possible only if the terms of a material object statement were completely definable. For only then could we describe completely all the possible evidences, which would make the statement true or false. As this condition is not fulfilled, the programme of phenomenalism falls flat, and in consequence the attempts at analyzing chairs and tables into patterns of sense-data which has become something of a national sport in England are doomed to fail".
>
> 'Varifiability' in Logic and Language, (ed) A. N. Flew (1955, p.121).

6. There are several new perspectives and new bearings in the philosophies of Ryle, Austin and Wittgenstein (Later) based on linguistic analysis and ordinary language use. But, more of that on some other occasion.

1. If everbody is right, then surely no one including Protegoras himself is right.

……+……

चर्चा

PERCEPTION : A Philosophical Impasse

डा.एस्. वी. बोकिल्

सिद्धेश्वर भट्ट : Why you have confined your analysis of the problems of perception to our knowledge of the external world. Because even in the western tradition there has been analysis of sense impressions, simple ideas, mental world also... also in judgement of perception, but why can we not take that from other... non-skeptical... So, to begin with... they have definite conception of knowledge as per your opening sentence. If they have definite conception of knowledge then why we bring in sort of Platonic ...

एस्. बोकिल : You just tell me who was the philosopher in the west up to Descartes & Lock; who have believed in perception, the philosophers who have believed in perception as a source of knowledge of external world. They have all the time remained skeptical. Perhaps you have Aristotle. But in Aristotle what has happened? He certainly depends upon perception for our knowledge of the external world ... Because he is not Platonic...

सिद्धेश्वर भट्ट : They have developed natural and social sciences and have ... drawn upon perception ...

एस्. बोकिल : But ultimately in Aristotle as well you will find that knowledge is ultimately my understanding of the form of the external objects. Now how do I get that form ? Surely not through perception. So, Aristotle, though he criticised Plato, in the ultimate analysis he also becomes Platonic.

सिद्धेश्वर भट्ट : No. But he has e.g. developed inductive logic. How can there be a development of the logic without relying upon observation or perception? The best sort of picture we should not overlook, my suggestion is this.

एस्. बोकिल : His inductive logic is not merely a simple enumeration.

सिद्धेश्वर भट्ट : But observation is there.

एस्. बोकिल : Observation is there but what has happened to the problem of induction in the west, we still accept the opinion of Hume that inductive...

सिद्धेश्वर भट्ट : But induction.... is there, that can't be denied. Any way, this is one point...

एस्. बोकिल : That is the philosophical impasse that induction is there but we can't justify. Because philosopher's problem is...

सिद्धेश्वर भट्ट : We do have limited justification; otherwise there would not have been light of scientific knowledge. And all the scientific and technological inventions would not have taken place.

एस्. बोकिल : I think philosophers will not say that scientific knowledge which we have reached is the ultimate truth. Every belief is revisible. There are philosophers like Putnam, Quain e.g. ...

सिद्धेश्वर भट्ट : Any way, my point was only this much that there is available an analysis of inner world as well.

एस्. बोकिल : This is a part of conception ...

सिद्धेश्वर भट्ट : And the second is even in a Greek thought we do have not only references to but say grounding in perceptual cognition so far as scientific knowledge is concerned. I have one more point, you have approvingly mentioned Plato's indictment of perception saying that it could be perception of a pig.

एस्. बोकिल : This is what Plato mentions.

सिद्धेश्वर भट्ट : Yes, but you are approvingly mentioning. Well my point is that by perception while we are analyzing it e.g. in our present context, we mean ratiocinated organized articulated sense experience. That is what we call in our tradition 'Pratyakṣa'. Otherwise we are not concerned with the Pratyakṣa of a crow or pig etc. we don't refer to that. So I think that ...

एस्. बोकिल : That is a reductio-ad-absurdum that Plato has ... My response to this would be that those who believe in perception should first consider if it is possible for us to have perception without language ? How do we acquire language.

सिद्धेश्वर भट्ट : This is debatable.

एस्. बोकिल : Why debatable? You show me a single perception, which you make and you do not put it in ...

सिद्धेश्वर भट्ट : Buddhist would say that every perception is nonverbal. ... Even Naiyāyika would say that Nirvakalpaka is nonverbal. In our tradition we have that position.

एस्. बोकिल : On the other hand modern philosophers are inclined to believe that there is no such thing as pure sensation. William James e.g. says that every perception is by some kind of hypothesis, which we have. There is no such thing as pure sensation. So there is no such thing like Nirvikalpak.

प्रद्योतकुमार : Prof. Bokil was trying to say that how the theories of perception developed in the west from times of Plato and ... up to modern time is partly... And in this regard, his presentation is perfectly all right excepting three or four minor omissions. The first one is that speaking of sense data theory, how can you afford to omit mentioning Russell and ... Second thing, while you speak of phenomenalism, and you are trying to say why phenomenalistic reduction is not possible, you have forgotten to mention John Stuart Mill, who says that perception of matter is the permanent possibilities of sensation. But the important point is that when you... that this conception has developed in the 20th century simultaneously with the development of the modern science. And you are very correctly asserting that there are two completely different types of skepticisms : classical Greek skepticism and the modern skepticism. Greek skepticism, which you have not emphasized, which I think you should have emphasized, that it was basically skepticism about the knowledge itself. Modern skepticism is mainly three kinds : 1. skepticism of the external world 2. skepticism of the other mind and 3. skepticism of the knowledge of past. All of them ... But my perception is this that why was... I have noted it ... first developed that Baker could not justify his belief in perception. And there he says that he also introduced world. But actually the thing is otherwise. Because he introduced this version(?) that created this problem. But the most basic point is this that when you speak of phenomenalistic reduction, one aspect has been there that any ... phenomenalistic reduction... physical object... statement is bound to invoke subjective conditions And that means any... certain peace of knowledge would become only subjective conditional. And that is wrong... These are the few remarks.

But the important point is this. It is true the problem is about the external world and not of the knowledge about our own self. Simple reason is this. Though it is not denied that ideas are always known, they are the immediate data for experience but it is not said that those ideas are object the object of the perception. Actually the object of perception is external world. And that perception itself consists of certain ideas and various... So that both of way it is suggested that they also have their... of perception that is a different thing. I don't think... about the... of perception. But how this problem of perception was generated and into what... it has made us to... But more or less basically this phenomenalistic reduction is a thing of past. Now a days are... See, again... of realism. There is physicality language is still found to be the better one because of its simplicity.

एस्. बोकिल : You have certainly made very important observation. My problem was this, after long experience I have decided that for seminars I should always write short papers so that we can get more time for discussion. If you refer to 20th century development, and if I take... we have perception of our own feeling just see what Wittgenstein says. They aren't there he says. They don't have any ontological reality at all.

सिद्धेश्वर भट्ट : Private language ...

एस्. बोकिल : Yes private language argument is there. But I think to bring in private language argument to... I should better use perception for the reasons for which we considered to be most important namely perception of external world. And I think problem before the scientists is also exactly the same.

सिद्धेश्वर भट्ट : These days scientists are very much busy with the analysis of consciousness. Tremendous research is going on in the field of understanding of consciousness.

* * *

भाट्टमतरीत्या प्रत्यक्षविवरणम्

डॉ. कृष्णमूर्ति शास्त्री, चेन्नई

उपोद्घातः :

चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च द्वाभ्यां पञ्चभिरेव च।
हूयते च पुनर् द्वाभ्यां स नो विष्णुः प्रसीदतु॥

''मानाधीना मेयासिद्धिः मानसिद्धिश्च लक्षणात्'' इति सूक्तिः. प्रमाणं विना प्रमेयं खलु नैव स्थाप्येत. सर्वप्रमाणज्येष्ठभूतम् इदं सर्वसम्मतं यत् प्रत्यक्षं नाम. प्रमाणसंख्यायां तावत् विवदन्तो वादिनः एवम् —

चार्वाकाः तावद् एकं द्वितयमपि पुनर् बौद्ध-वैशेषिकौ द्वौ
भासर्वज्ञः च सांख्यः त्रितयम् उदयानाद्याः चतुष्कं वदन्ति।
प्राहुः प्राभाकराः पञ्चकम् अपिच वयं तेऽपि वेदान्तविज्ञाः
षट्कं पौराणिकास्तु अष्टकम् अभिदधिरे सम्भवैतिह्चयोगात्॥
(मानमेयोदयम्).

''व्यवहारे भट्टनयः'' इति आभाणकम् अनुसृत्य वयमपि षट्प्रमाणवादिनः. इदानीं प्रमाणज्येष्ठस्य प्रत्यक्षस्य विमर्शं यथामति कुर्मः.

प्रमाणम् :

''प्रमाकरणं प्रमाणम्'' इत्यत्र नास्त्येव विप्रतिपत्तिः वादिनाम्. प्रमाच एतन्मतरीत्या ''अज्ञात-तत्त्वार्थ-ज्ञानत्वम्'' इति मानमेयोदये स्पष्टम् उक्तम्

‘‘प्रमाकरणमेव अत्र प्रमाणं तर्कपक्षवत्, प्रमाच अज्ञाततत्त्वार्थज्ञानमेव अत्र भिद्यते’’.

‘अज्ञात’पदेन अत्र ज्ञातविषययोः स्मृत्यनुवादयोः निरासः. तत्र तार्किकैः अनुवादानाम् अप्रामाण्यं न अनुमतम्. वयन्तु ब्रूमो, अनुवादो हि अर्थपरिच्छेदे व्यवहारे वा पूर्वज्ञानात् कञ्चिदपि विशेषं न आधत्ते. अतः फलविशेषाभावात्, फलार्थं च प्रमाणानां स्वीकारात् स्मृतिवद् अनुवादो अयं प्रामाण्यं न अर्हतीति तद्वारणं ‘अज्ञात’पदेन आवश्यकम्.

शंका : एवं चेत् धारावाहिकेन ‘‘घटोऽयं घटोऽयं’’ इत्येवंरूपे द्वितीयादीनाम् अप्रमात्वं स्यात्?

समाधानं : ‘‘अयम् अयम्’’ इत्येवम् अत्र उत्तरोत्तरेषां कालांशानाम् अज्ञातानाम् अवगमात्, उत्तरे क्षणे घटादिसद्भावस्य च पूर्वज्ञानेन अनधिगतत्वात् प्रमात्वमेव.

शंका : कालविशेषस्य औपाधिकत्वात् केन उपाधिना अवच्छिन्नानां कालांशानां भानम्?

समाधानं : पूर्वपूर्वज्ञानजनितानां प्राकट्यानाम् उत्तरोत्तरज्ञानपर्यन्तम् अवस्थानात्, प्राकट्यावच्छिन्नानां कालांशानां तत्र-तत्र अवगमः. प्राकट्यविशेषाणां सूक्ष्मत्वात् तदवच्छिन्नकालविशेषानामपि सूक्ष्मत्वात् पुनरपि दूरवगमत्वं स्याद् इति न शंकनीयम्. प्राकट्यानां कालविशेषाणाञ्च सूक्ष्मत्वम् अथवा दुरवगमत्वं नास्ति. अन्यथा ‘‘कमलदलशतं युगपद् भिन्नं सूच्या’’ इति वत् ‘‘सकृद् अवबुद्धो घटः’’ इति यौगपद्याभिमानप्रसंगात्. इहतु ‘अयम्’-‘अयम्’ इति पुनः-पुनः क्रमेणैव प्रतीतेः धारावाहिकस्वभावसिद्धत्वाद् यौगपद्याभिमानस्य विरोधः.

डी.प्रह्लादाचार : अयम् अशः कथं...

कृष्णमूर्ति शास्त्री : प्राकट्यं प्रमाणस्य फलम्. फलं कालविशेषाः क्षणविशेषाः च. तेऽपि सूक्ष्माः. प्राकट्यावच्छिन्नानां कालविशेषाणाम्

उत्तरोत्तरक्षणे नूतनतया भानम् इति यदि उच्यते तत् कथं स्याद् इतितु न शंकनीयम्. तेऽपि यद्यपि सूक्ष्माः अथवा सूक्ष्मत्वमेव नास्ति इति उक्त्वा तेऽपि प्रत्यक्षविषयाएव भवन्ति. अतएव 'अयम्'-'अयम्' इत्येवं नूतनतया एकैकः क्षणः अस्मद्दृष्टिगोचरो भवति. नीरूपस्यापि कालस्य प्रत्यक्षत्वं वयम् अंगीकुर्मः. तत्रच एका युक्तिः उच्यते. यदि कालादीनां दुरवगमत्वं प्राकट्यस्य च तदानीम् ''अयं घटः सकृद् अवबुद्धः'' इति अनुव्यवसायः स्यात्. यथा ''कमलदलशतं युगपद् भिन्नं'' सूच्या शतपत्रभेदन्यायेन युगपद् भिन्नम् इति भ्रमो भवति. अत्रतु दुरवगमत्वं यदि स्यात् तथा अनुभवः स्यात्. अनुभवेतु पुनः-पुनः क्रमेणैव प्रतीतिः जायते इति कृत्वा यौगपद्याभिमानस्य न विरोधः.

प्रद्योतकुमार : प्राकट्यस्य भेदो अंगीक्रियते वा ?

कृष्णमूर्ति शास्त्री : प्राकट्यानां भेदस्तु अंगीक्रियते, कालविशेषात्.

के.ई.देवनाथन् : ज्ञानभेदः...

कृष्णमूर्ति शास्त्री : प्राकट्येन अवच्छिन्नानां कालानां सूक्ष्माणामपि उपलब्धिः भवितुम् अर्हति. धारावाहिकस्थले द्वितीयादिप्रामाणानाम् एवं प्रमात्वं स्वीकार्यम्. अनधिगतत्वञ्च अंगीकृतम्. एकैकस्य शास्त्रकारस्य स्वकीयप्रक्रियायाम् आग्रहस्तु वर्ततएव. तदर्थं कापि कल्पना युक्तियुक्ताएव गृह्यते.

प्रमाणलक्षणे 'तत्त्व'पदं भ्रमसंशयादीनाम् अयथार्थज्ञानानां निरासाय प्रयुक्तम्. प्राभाकाराणां मतेतु अयथार्थज्ञानस्यैव अभावात् 'तत्त्व'पदम् अनर्थकम्. एवंहि तेषां मतम् ''इदं रजतम्'' इत्यत्र 'इदम्'इति अगृहीतविशेषं शुक्तिशकलं गृह्यते, 'रजतम्' इति च रजतमात्रं प्रमुष्टत्तत्ताकं स्मर्यते. तयोश्च भेदाग्रहात् ''इदं रजतम्'' इति व्यपदेशः पुरोवर्तिनि प्रवृत्तिः च. शुक्तिशकलस्य रजतत्त्वेन भानरूपो भ्रमस्तु नास्ति इति.

इदन्तु एवं निराकरणीयं : तत्तज्ज्ञानस्य स्वविषयएव प्रवृत्तिकरत्वनियमात्

रजतज्ञानस्यापि इदंविषयत्वाभावे पुरोवर्तिनि इदमि प्रवृत्तिः न स्यात्. किञ्च चेतनस्य प्रवृत्तिः सर्वापि ज्ञानपूर्विकैवेति भेदाज्ञानात् प्रवृत्तिः अनुपपन्ना. अपिच ''इदमेव रजतम्'' इति सामानाधिकरण्यं तयोः अभेदप्रतीतिं विना न सिद्ध्येत्. इति.

तस्मात् अन्यथाग्रहणरूप-भ्रमादिज्ञान-सद्भावात् तन्निरासार्थं 'तत्त्व'पदम्. तद् एवं अज्ञाततत्त्वावगमरूपायाः प्रमायाः करणत्वेन इन्द्रियसन्निकर्षादीनां प्रमाणत्वं सिद्धम्.

अत्रच 'प्रमा'शब्देन लक्षणया तत्कार्यभूतस्य प्राकट्यस्यापि प्रतिपादनात् प्राकट्यरूपप्रमाकरणत्वेन ज्ञानस्यापि प्रमाणत्वं भाट्टाः आहुः. एतावताच वयं फलप्रमाणवादिनः इति गीयामहे.

प्रत्यक्षम् :

इन्द्रियार्थसन्निकर्षजं प्रमाणं प्रत्यक्षम्. इन्द्रियाणिच चक्षु-रसन-घ्राण-स्पर्शन-श्रोत्राणि मनः च इति षट्. पञ्चेन्द्रियाणि पञ्चभूतात्मकानि गीयन्ते एवम् —

चक्षुर् नाम कनीनिकान्तरगतं तेजो अथ जिह्वाग्रगस्,
तोयांशो रसनं, क्षितेरिव मनो घ्राणं च घोणोदरे।
सर्वांगप्रसृताः च मारुतलवाः त्वङ्ग् नाम, कर्णोदर-
व्योमैव श्रवणं, मनस्तु विभु तद्देहे च कार्यावहम्॥

रूपज्ञानस्य केनचित् कारणेन भवितव्यं इति सामान्येन सिद्धौ दीपादितेजसएव रूपज्ञानहेतुत्वदर्शनात् चक्षुः तैजसं कल्प्यते. तथा रसज्ञानस्यापि करणकल्पनायां, शुष्कवस्तुषु रसव्यञ्जकत्वम् अपामेव दृष्टमिति रसनेन्द्रियम् आप्यं कल्प्यते. एवं चन्दनगत-पार्थिव-निम्बत्वगनुलेपनस्य गन्धाभिव्यञ्जकत्व-दर्शनात् गन्धाभिव्यञ्जकत्वेन कल्प्यमानं घ्राणं पार्थिवं भवति. तथा व्यजनपवनस्य

अंगसंगि-सलिलस्पर्शाभिव्यञ्जकत्वदर्शनात् स्पर्शोपलम्भकस्य त्वगेन्द्रियस्य वायवीयत्वं कल्प्यते. शब्दग्राहकतया कल्प्यस्य श्रोत्रस्यतु परिशेषाद् आकाशात्मकत्वम्. चक्षुरादीनां खलु अन्येन्द्रियारम्भकेण आरब्धत्वं न दृष्टमिति, तेजःप्रभृतीनां अन्येन्द्रियारम्भकत्वात् तेषां श्रोत्रत्वं न सम्भवति. भूतात्मकत्वमेव च बहिरिन्द्रियाणां दृष्टमिति अवशिष्टस्य आकाशस्य भूतस्यैव श्रोत्रत्वम् इत्येवं परिशेषो भवति.

तार्किकास्तु "शब्दस्य आकाशगुणत्वात् तद्ग्राहकस्य श्रोत्रस्य आकाशत्वम्" इति साधयन्ति; तद् अस्माभिः न अंगीक्रियते, शब्दस्य द्रव्यत्वात्.

मनस्तु सुखाद्यपरोक्षज्ञानसाधनेन्द्रियत्वेन कल्प्यते. तस्यच विभुत्वं साधयिष्यते. यद्यपि मनो विभुः तथापि तस्य शरीरावच्छिन्नस्यैव इन्द्रियत्वमिति तत्प्रदेशएव कार्याणि करोति. रूपादिज्ञानेष्वपि तत् चक्षुरादिपरतन्त्रं प्रवर्ततएव. अनुमानादिष्वपि तत् लिंगादिसहायं भवति इति स्थितिः.

चक्षुरादिषु इन्द्रियेषु नेत्रश्रोत्रयोः प्राप्यकारित्वे विवादो अस्तीति बहिरिन्द्रियत्वेन हेतुना त्वगादिवत् तयोरपि प्राप्यकारित्वं साधनीयम्. ततश्च नेत्रस्य पृथुतरपृथिवीधरादिदर्शनात् पृथ्वग्रत्वमपि तेजःस्वभावसिद्धम् आश्रयणीयम्. तथा उन्मीलनक्षणएव दूरतर-शनैश्चरादिदर्शनाद् व्याप्यावस्थितेन बाह्यतेजसा निर्गमनसमयएव एकीभावः कल्पनीयः. बाह्यतेजसः सकलव्यापित्वेन केरलेभ्योऽपि गंगादर्शनप्रसंगस्तु नापादनीयो, अदृष्टोपगृहीतेनैव आलोकभागेन एकीभावात्.

परन्तु तार्किकाः तदिदं दूरदर्शनं वेगातिशयात् साधयन्ति. अनन्तयोजनान्तरितेषु शनैश्चरादिषु झटिति दर्शनं वेगमात्राद् असम्भाव्यमिति तद् उपेक्षितम् अस्माभिः. एतानिच इन्द्रियाणि अनुद्भूतरूपस्पर्शत्वात् प्रत्यक्षेण न गृह्यन्ते.

सन्निकर्षः :

इन्द्रियार्थयोः सन्निकर्षो द्विविधः [१]संयोगः [२]संयुक्ततादात्म्यं च इति.

१. तत्र पृथिव्यप्तेजसां चक्षुस्त्वगिन्द्रियाभ्यां संयोगाद् ग्रहणं, वायोः त्वक्संयोगाद्, आत्मनः मनःसंयोगात्. विभुनोरपि आत्ममनसोः अजन्यसंयोगांगीकारात् न विरोधः.

२. यदातु चक्षुरादिसंयुक्तेषु पूर्वोक्तेषु पृथिव्यादिषु तदात्मभूतानां जातिगुणकर्मणां ग्रहणं तदा संयुक्तातादात्म्यं सन्निकर्षः. तद् उक्तं ‘‘रूपादीनान्तु संयुक्त-द्रव्यतादात्म्यमेव नः, प्रतीतिकारणं तस्मात् न सम्बन्धान्तरस्पृहा’’ इति.

यदातु जाति-गुण-कर्मगतानां सत्ता-रूपत्व-कर्मत्वादीनां ग्रहणं तदा तेषामेव परम्परया तादात्म्यसम्भवात् संयुक्ततादात्म्यमेव सन्निकर्षः इति मन्यामहे. यद्वा यथा परे रूपत्वादिग्रहणाय समवेतसमवायम् आश्रयन्ते तथा अस्माकमपि संयुक्त-तादात्म्य-तादात्म्यं नाम तृतीयः सन्निकर्षो अस्तु; का हानिः! जाति-गुण-कर्मणाञ्च स्वाश्रयैः तादात्म्यमेव सम्बन्धः. तस्मात् द्वेधा त्रेधा वा सन्निकर्षः.

तार्किकास्तु तादात्म्यस्थाने समवायम् अभिषिञ्चन्तो अन्यथा सन्निकर्षम् आहुः : संयोगः, संयुक्तसमवायः, संयुक्तसमवेतसमवायः, समवायः, समवेतसमवायः, विशेषणविशेष्यभावः च इति षोढा सन्निकर्षः इति. इदन्तु न उपपद्यते :

तत्र आद्यं त्रिविधं तावत् नाममात्रेण भिद्यते।
समवायादयस्तु अन्ये सन्निकर्षाः निराश्रयाः॥

प्रथमाः त्रयः अस्माकमपि नामान्तरेण सम्मताः.

शब्दस्य हि श्रोत्रगुणत्वाभावात् समवाय-समवेत-समवायौ निरवकाशौ. अभावस्यच प्रत्यक्षत्वाभावात्, समवायस्य च शशशृंगायमाणत्वाद् विशेषण-विशेष्य-भावसन्निकर्षोऽपि हेयः. किञ्च चक्षुःसंयुक्तेन अर्थेन अभाव-समवाययोः विशेषण-विशेष्यभावः सन्निकर्षो न सम्भवति; ‘‘दण्डी पुरुषः’’ इत्यादौ सम्बन्धान्तरपूर्वकस्यैव विशेषण-विशेष्यभावस्य दर्शनाद् अभावसमवाययोः च अर्थेन सम्बन्धान्तराभावाद् इति.

प्राभाकरास्तु १. संयोगः २. संयुक्तसमवायः ३. समवायः च इति त्रेधा सन्निकर्षम् आहुः. तन्मते रूपत्वादीनाम् अभावात् संयुक्त-समवेत-समवायो न आश्रयणीयः. शब्दत्वस्य अभावात् समवेत-समवायोऽपि न आश्रीयते. अभावस्यैव अभावात्, समवायस्यच प्रत्यक्षत्वाभावात् विशेषण-विशेष्यभावोऽपि न आश्रयणीयः इति. तदपि मतं, रूपत्वादीनां साधनात् तार्किकैरेव निराकृतम्. तस्माद् उक्तप्रकारएव सन्निकर्षः.

प्रत्यक्षं द्विविधं : १. निर्विकल्पकं २. सविकल्पकं च. तत्र इन्द्रियसन्निकर्षानन्तरमेव द्रव्यादिस्वरूपमात्रावगाहि शब्दानुगमशून्यं यत् सम्मुग्धज्ञानं जायते, तत् विशिष्टकल्पनाभावात् निर्विकल्पकम् इति उच्यते.

यत्तु तदनन्तरं शब्दस्मरणसहकृतं जात्यादिविशिष्टवस्तुविषयं ‘‘रक्तः अयं’’ ‘‘घटः अयम्’’ इत्यादिव्यक्तविज्ञानं तत् सविकल्पकम्.

शाब्दिकास्तु निर्विकल्पकं नास्ति इति आहुः. उक्तंहि ‘‘न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमाद् ऋते’’ इति. तद् अयुक्तम्, पूर्वम् अर्थदर्शनाभावे शब्दस्मरणस्य हेत्वभावप्रसंगात्.

सौगतास्तु प्रत्यक्षं निर्विकल्पकमेव आश्रित्य सविकल्पकस्य प्रमाणत्वं प्रत्यक्षत्वं च न अस्ति इति आहुः.

तदपि अयुक्तम्, सविकल्पकस्य प्रत्यक्षतया लोकसिद्धस्य निषेधे

लोकविरोधात्. तद् उक्तम् "'चन्द्र'शब्दाभिधेयत्वं शशिनो यो निषेधति सएव सविकल्पस्य प्रत्यक्षत्वं निवारयेद्" इति. अपिच सविकल्पकानन्तरमेव अर्थक्रियादर्शनाद्, अर्थक्रियाकारित्वलक्षणं प्रमाणत्वं तस्य दुर्निवारम्.

शंका : सविकल्पकस्य 'प्रत्यक्ष'शब्दवाच्यत्वं कथम्? तस्य निर्विकल्पकेन व्यवधानेन, साक्षाद् अक्षजत्वाभावात्, परम्परया अक्षजत्वस्य प्रत्यक्षलक्षणत्वे, अनुमानादीनामपि प्रत्यक्षत्वप्रसंगात्.

समाधानं : निर्विकल्पकवत् सविकल्पकमपि साक्षाद् अक्षजमेव; यथा आहु: आचार्याः

> ताश्च इन्द्रियानुसारेण जायन्ते पञ्च कल्पनाः।
> यदितु आलोच्य सम्मील्य नेत्रे कश्चिद् विकल्पयेत्॥
> प्रत्यक्षं नैव मन्यन्ते तल्लौकिकपरीक्षकाः।
>
> इति.

किञ्च परम्परया अक्षजत्वेऽपि न अनुमानादिषु प्रत्यक्षत्वप्रसंगः, पंकजादिष्विव योगरूढिस्वीकारेण अनुमानादिषु 'प्रत्यक्ष'शब्दस्य अप्रवृत्तेः.

अत्र गुरु: आह : पंकजादिषु रूढि: नास्ति, अवयवशक्त्यैव पद्मे वृत्त्युपपत्तेः. कुमुदादिषु अप्रवृत्तिस्तु तेषु अप्रयोगादेव भविष्यति इति.

तद् अयुक्तम्. 'पंकज'शब्दस्य पद्मे वृत्तौ का सामग्री इति चिन्तायां ...णां कुमुदादिष्वपि सत्त्वेन व्यभिचाराद् रूढिरपि सामग्रीत्वेन कल्प्या. योगश्च प्रतीतो न हातुं शक्तइति उभयसिद्धिः. तस्माद् योगरूढिशक्त्या निर्विकल्पक-सविकल्पकयोरेव 'प्रत्यक्ष'शब्दवाच्यत्वं न अक्षापेक्षाणामपि अनुमानादीनाम् इति सिद्धम्.

सविकल्पः पञ्चविधो : [१]द्रव्य-[२]जाति-[३]गुण-[४]कर्म-[५]नामभिः.

यथा १. वेणुमान् अयम् २. गोपो अयम् ३. श्यामो अयम् ४. … अयम् ५. गोविन्दो अयम् इति.

प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षमपि षष्ठो विकल्पः इति केचित्. तन्न, नामकल्पनायाम् अन्तर्भावात्. नाम्ना हि पूर्वम् अनुभूतरूपे स्मारिते तद्रूपविशिष्टतया अर्थस्य कल्पना नामकल्पना इति उच्यते. तेन ‘‘गोविन्दो अयम्’’ इत्यस्य अयम् अर्थः — ‘‘यो असौ ‘गोविन्द’शब्दवाच्यतया पूर्वं गृहीतः सएव अयम्’’ इति. यदातु शब्दवाच्यत्वं अतन्त्रीकृत्य पूर्वापररूपयोः ऐक्यावगमएव तात्पर्यं तदा सएव अयम् इति प्रत्यभिज्ञा स्पष्टा भवति; साच प्रत्यभिज्ञा संस्कारसहितेन इन्द्रियेण एकज्ञानत्वेन जायते. तथाच ‘सः’ इति ‘अयम्’ इति’ च द्वे भाने जन्येते; तत्र ‘सः’ इति भानजननशक्तिः संस्कारकृता, ‘अयम्’ इति भानजननशक्तिः इन्द्रियकृता इति विभावनीयम्.

इहच प्रत्यक्षज्ञानेषु विवक्षाभेदेन १. इन्द्रियस्य २. तत्सन्निकर्षस्य ३. ज्ञानस्य वा करणत्वं भवति. अतः सिद्धम् इन्द्रियसन्निकर्षजं प्रमाणं प्रत्यक्षम् इति.

गुरुस्तु आह : ‘‘साक्षात्प्रतीतिः प्रत्यक्षम्. तच्च मेय - मातृ - प्रमास्वरूपम् इति त्रिपुटं भवति’’ इति. तद् आलोच्यते.

तत्र किम् इदं साक्षात्त्वं नाम? ननु साक्षाद्धीः स्वरूपधीः; अक्षाद्धि स्वेनैव रूपेण भानं; लिंगादिभ्यस्तु परसम्बन्धिरूपेणैव अग्न्यादीनां भानाद् असाक्षात्त्वम्, इति चेत्, न, एवं चेत् नामादिपरसम्बन्धिरूपेण भानात् सविकल्पकस्य असाक्षात्त्वं स्यात्. यदि तत्र परसम्बन्धिरूपभानेऽपि स्वरूपधीरपि अस्ति इति उच्येत, तर्हि अनुमानादिष्वपि तथात्वात् साक्षात्त्वम् आपद्येत. आत्मस्वात्मनोस्तु सर्वज्ञानेषु प्रत्यक्षत्वकथनं कर्मकर्तृभावादिविरोधात् निराकरिष्यामः.

बौद्धास्तु ‘‘कल्पनापोढम् अभ्रान्तं प्रत्यक्षम्’’ इति आहुः.

‘कल्पनापोढ’पदेन सविकल्पानां निरासो ‘अभ्रान्त’पदेन निर्विकल्पकेऽपि भ्रमत्वेन अभिमतानां केशोण्ड्रकादिज्ञानानां निरासः. तद् अयुक्तं, सविकल्पकस्य प्रत्यक्षत्वसाधनेन तत्र लक्षणस्य अव्याप्तत्वात्.

यत्पुनः योगिज्ञानम् ईश्वरज्ञानं च भूतभविष्यदादिविषयम् इन्द्रियसन्निकर्षाजन्यम् अपरोक्षम् अस्ति इति तत्संग्रहणाय ‘‘अपरोक्षप्रमाव्याप्तं प्रत्यक्षम्’’ इति लक्षयितव्यम् इति तार्किकैः उक्तम्. तदपि अयुक्तं, प्रत्यक्षस्य विद्यमानोपलम्भनियमात्, भूतादीनां प्रत्यक्षत्वस्य अनुपपत्तेः. तस्माद् अस्मदुक्तमेव प्रत्यक्षलक्षणं रमणीयम्. ‘‘इन्द्रियव्यतिरिक्तानि द्रव्याणि एषां च जातयः, प्रायश्च गुणकर्माणि प्रत्यक्षाणि इति वक्ष्यते’’.

जैमिनिसूत्र-तद्व्याख्यानुसारेण प्रत्यक्षविषये शास्त्रदीपिकायां श्लोकवार्तिके च महती चर्चा अतिविस्तृता कृता. तस्य अयं संग्रहः प्रदर्श्यते.

जैमिनिना महर्षिणा इदं सूत्रं प्रणीतम्.
क. सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्य इन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत् प्रत्यक्षम्,
ख. अनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात् (१।१।४)

अत्र प्रथमभागे प्रत्यक्षस्य (लक्षणम्)स्वरूपम् उच्यते. द्वितीयभागे तस्य धर्मं प्रति अप्रवृत्तिः कथ्यते इति शाबरव्यतिरिक्तानां वृत्तिकाराणाम् आशयः. शाबरभाष्येतु इदं सम्पूर्णसूत्रं प्रत्यक्षस्य अनिमित्तत्वकथनपरत्वेनैव व्याख्यातम्.

प्रथमभागस्य लक्षणकथनपरत्वमपि निर्दुष्टमेव इति बोधनाय शास्त्रदीपिकायां अतिव्याप्त्यादिदोषः परिह्रियते एवम् : इन्द्रियसम्प्रयोगजन्यत्वं भ्रमे अतिव्याप्तम् इतितु न वक्तव्यम्, अत्र ‘सत्’पदः तदपि सम्प्रयोगविशेषणत्वेन उक्तत्वात्.

वस्तुतस्तु मीमांसायां शब्दप्रमाणाधिकारे प्रत्यक्षलक्षणकथनं निष्प्रयोजनम्.

लोकसिद्धप्रमाणव्यवहारिणो मीमांसकस्य लक्षणकरणं च अयुक्तमेव, अतः एतत्सूत्रं प्रत्यक्षस्य धर्मविषये अनिमित्तत्वकथनपरमेव. ''प्रत्यक्षं, धर्मे अनिमित्तं, विद्यमानमात्रोपलम्भनत्वात्'' इति अनुमाने विवक्षिते सति, हेत्वसिद्धिपरिहाराय, प्रत्यक्षं, विद्यमानमात्रग्राहकं, सत्सम्प्रयोगजत्वात्'' इति कल्प्यते. अत्र सूत्रे 'इन्द्रियाणाम्' इति कथनम् उपलक्षणम् इन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य, इन्द्रियमनःसंयोगस्य, आत्ममनःसंयोगस्य च. आत्मा मनसा युज्यते, मनः इन्द्रियेण, इन्द्रियम् अर्थेन, ततः प्रत्यक्षम् इत्येवं संयोगत्रितयम् एकं प्रमाणम्. 'बुद्धिजन्म' इत्यनेन जायमाना बुद्धिः प्रमाणम् इति उक्त्वात् न भूता नापि भाविनी. अतएव बुद्धेः कारकान्तराद् वैलक्षण्यं, कारकान्तरं हि जन्मव्यतिरिक्तव्यापारान्तरेण प्रधानक्रियां निष्पादयति, बुद्धिस्तु जन्मनैव इति.

इन्द्रियं किम्? उच्यते. यत् सम्प्रयुक्ते अर्थे विशदावभासं विज्ञानं जनयति तद् इन्द्रियम्. तच्च द्विविधं बाह्यम् आभ्यन्तरं च इति. बाह्यं पञ्चविधं : घ्राण-रसन-चक्षुस्-त्वक्-श्रोत्रात्मकम्. आन्तरन्तु एकं मनः. तत्र आद्यानि चत्वारि पृथिव्यादिभूतचतुष्टयकार्याणि अक्षपाददर्शनवदेव अभ्युपगम्यन्ते. श्रोत्रन्तु आकाशात्मकं स्वीकृतम्. वयन्तु ''दिशः श्रोत्रम्'' इति श्रुतेः दिग्भागमेव कर्णशश्कुल्यवच्छिन्नं श्रोत्रं मन्महे. मनस्तु पृथिव्यादीनाम् अन्यतमात्मकं वा तेभ्यो अन्यद् वा सर्वथा पृथग् अस्ति. तच्च मनः आत्म-तद्गुणेष्वेव स्वतन्त्रं प्रवर्तते न बाह्येषु रूपादिष्विति 'आन्तरम्' इति उच्यते. रूपादिज्ञानेष्वपि तत् चक्षुरादिसहायं प्रवर्तते, अनुमानादिष्वपि लिंगादिसहायं; अन्यमनस्कस्य सम्प्रयुक्तेष्वपि रूपादिषु ज्ञानानुत्पत्तेः. अत्र अनुमानस्य भूतभविष्यतोरपि प्रवृत्तेः, अनुमानस्य च मनोजन्यत्वेन, इन्द्रियजन्यत्वं विद्यमानोपलम्भनस्य व्याप्यं न भवेदिति शंका न युक्ता, इन्द्रियसम्प्रयोगजन्यत्वस्यैव व्याप्यत्वेन उक्तत्वात्. नहि अतीतायाः भविष्यन्त्याः वा वृष्टेः अनुमानेन अनुमीयमानायाः मनसा संयोगो अस्ति.

इन्द्रियैः अर्थसन्निकर्षे सति प्रथमतः सम्मुग्धाकारं निर्विकल्पं प्रत्यक्षज्ञानं भवति, तदनन्तरमेव सविकल्पकं ज्ञानम् उत्पद्यते. निर्विकल्पकजन्यस्यापि

तस्य पारम्पर्येण इन्द्रियजन्यत्वम् अस्ति. तद् उक्तं ''ततः परं पुनः वस्तुधर्मैः जात्यादिभिः यया बुद्ध्या अवसीयते सा हि प्रत्यक्षत्वेन सम्मता''.

शंका : इन्द्रियस्य निर्विकल्पकोत्पत्तावेव उपक्षीणव्यापारत्वात्, इन्द्रियसम्प्रयोगस्य च शब्दादिस्मरणेन व्यवहितत्वात् सविकल्पकस्य अप्रत्यक्षापत्तिः स्यात् ?

समाधानं : इन्द्रियव्यापारः सविकल्पकोत्पत्तिपर्यन्तम् अनुपरतो भवति, तेन जायमानं ज्ञानं (सविकल्पकं) इन्द्रियैः व्यपदिश्यते.

सविकल्पकम् एकमेव प्रत्यक्षं भवति इति केषाञ्चिद् मतं, तन् न उपपद्यते, लोके बाहुल्येन सविकल्पकएव 'प्रत्यक्ष'शब्दप्रयोगेऽपि ''कल्पनापोढम् अभ्रान्तं प्रत्यक्षम्'' इत्यनेन निर्विकल्पकप्रत्यक्षस्य लक्षितत्वात्, शिश्वादीनां प्रथमतः इन्द्रियसन्निकर्षे सति सम्मुग्धाकारनिर्विकल्पकस्यैव जायमानत्वात् च. उक्तंहि शास्त्रदीपिकायां ''लोके प्रतीमो हि वयम् अक्षसन्निपातानन्तरम् अविविक्तसामान्यविशेषविभागं सम्मुग्धवस्तुमात्रगोचरं आलोचनज्ञानं; तदभावेतु विकल्पएव न जायेत. यतो विकल्पयता पुरुषेण पूर्वानुभूतं जातिविशेषं सञ्ज्ञाविशेषं च अनुस्मृत्य, तेन पुरःस्थितं वस्तु विकल्पयितव्यम्. सविकल्पकं हि संकेतग्रहणकालभावि-शब्दादि-स्मरणपूर्वकं, अकस्मादेव तत्स्मरणं न आविरस्ति, निर्विकल्पकेन तत्संस्कारोद्बोधात् स्मरणोपपत्तिः.

निर्विकल्पकस्य व्यवहारानंगत्वात् तन् न प्रमाणम् इतितु न शंक्यं, तस्यापि व्यवहारोपयोगित्वदर्शनात्. दृश्यतेहि वह्निना दह्यमानस्य सहसा अपसरणं तद्विमर्शानपेक्षमेव झटिति जायमानम् उपलभ्यते. तिरश्चां बालानां च निर्विकल्पकेनैव सर्वो व्यवहारः, अगृहीतसम्बन्धानां तेषां शब्दसम्भिन्नार्थबोधस्य असम्भवात्. उक्तंहि ''अस्तिहि आलोचनं ज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकं बालमूकादिविज्ञानसदृशं शुद्धवस्तुजम्, न विशेषो न सामान्यं तदानीम् अनुभूयते, तयोः आधारभूतातु व्यक्तिरेव अवगम्यते'' इति.

आलोचनं ज्ञानम् इत्यनेन बोधकत्वं प्रामाण्यहेतुत्वेन उक्तम्. 'प्रथमम्' इत्यनेन अस्तित्वं निर्विकल्पकत्वं च युक्त्या साधितम्. ''न विशेषम्'' इत्यनेन शुद्धवस्तुजत्वं विवृतम्.

बौद्धास्तु स्वलक्षणमात्रगोचरं निर्विकल्पकम् इच्छन्ति; तदपि प्रतीतिविरुद्धम्. प्रतीयते हि सम्मुग्धाकारं वस्तु सहसैव यत् पश्चात् जातिद्रव्यगुणक्रियानामभिः पञ्चधा सविकल्पकेन विकल्प्यते ''गौः अयम्'' ''दण्डी अयम्'' ''शुक्लो अयम्'' ''गच्छति अयम्'' ''डित्थो अयम्'' इति.

तत्र निर्विकल्पकम् अनेकाकारं सम्मुग्धं गृह्णाति, सविकल्पकन्तु एकैकाकारं जात्यादिकं विविच्य विषयीकरोति.

श्लोकवार्तिके इदं प्रत्यक्षसूत्रं बहुविवृतम्. तत्र केचन विषयाः अ(धि!)क्रियन्ते. ''प्रत्यक्षं यज् जने सिद्धं तस्य एवंधर्मकत्वतः (सत्सम्प्रयोगजत्वतः), विद्यमानोपलम्भत्वं तेन धर्मे अनिमित्तता प्रत्यक्षत्वम् अदो हेतुः, शेषं हेतुप्रसिद्धये'' इत्यस्यां कारिकायां व्याख्यावसरे पार्थसारथिमिश्रैः त्रयः प्रयोगाः एवम् उक्ताः —

१. प्रत्यक्षम् अनिमित्तं, विद्यमानोपलम्भात्
२. प्रत्यक्षं विद्यमानोपलम्भं, सत्सम्प्रयोगजत्वात्
३. प्रत्यक्षं सत्सम्प्रयोगजं, प्रत्यक्षत्वात् इति.

अत्रच 'सत्'पदस्य वर्तमानार्थकत्वं विवक्ष्यते, तच्च 'सत्'पदं सम्प्रयोगसमानाधिकरणम्; अतो ''वर्तमानात् सम्प्रयोगात् यद् ज्ञानं जायते तत् सत्सम्प्रयोगजम्'' इति अर्थः. अतो अनुमाने न अतिव्याप्तिः. तत्र इन्द्रियसम्प्रयोगस्य लिंगज्ञानजननेन निवृत्तव्यापारत्वात्. अत्रच प्रयोगेषु योगिप्रत्यक्षं पक्षः, अस्मादादिप्रत्यक्षं दृष्टान्तः इति भाव्यम्.

सम्प्रयोगस्य द्विनिष्ठत्वेन, सूत्रे 'प्रत्यक्षम्' इति यो व्यपदेशः सो अनुपपन्नः, इन्द्रियार्थसम्बन्धनिमित्तत्वाद्, व्यपदेशस्य च उभयाश्रितत्वेन 'प्रत्यक्षम्' इति व्यपदेशोऽपि किं न स्यात् इति शंकायाम् इदम् उक्तम् ''योगस्य द्व्याश्रयत्वेऽपि भवति अन्यतराश्रयो व्यपदेशो अथवा अप्यक्षं तत्र असाधारणं भवेत्'' इति. अत्र व्याख्यायां पार्थसारथिमिश्रैः उक्तम् ''१. डित्थकपित्थयोः माता 'डित्थमाता' इति उच्यते यथा अथवा २. अर्थसम्बन्धः प्रमाणान्तरसाधारणः इति हेतोः प्रत्यर्थम् इति न व्यपदेशः, प्रत्यक्षम् इत्येव व्यपदेशः.

इन्द्रियाणां ग्राह्यग्राहकशक्तयः, ताभ्यः क्वचित् रूपादौ असंकरः, क्वचित् द्रव्यादौ संकरः च व्यवस्थितो भवति इति उच्यते ''तस्माज् ज्ञानानुसारेण व्यवस्थासंकरौ क्वचिद् ग्राह्यग्राहकशक्तिभ्यः कार्यद्वारेण कल्पितौ, तस्मात् पञ्चभिरपि अक्षैः बोधः सत्तागुणत्वयोः, द्रव्यमूर्ती (परिमाणम्) पुनः द्वभ्यां रूपादौ एकशः स्थितिः''.

तस्मात् मीमांसारीत्या प्रत्यक्षं इन्द्रियार्थसन्निकर्षजं ज्ञानम् इति वार्तिककारैः सुनिरूपितं मतान्तराणां खण्डनपूर्वकं सविस्तरम्. यथावकाशं यथामति संगृहीतम्. इति शम्.

······+······

चर्चा

भाट्टमतरीत्या प्रत्यक्षविवरणम्

डॉ. आर्. कृष्णमूर्ति शास्त्री

के.ई.देवनाथन् : अनुवादः सर्वोऽपि ... इति नास्ति. ''ग्रामो ग्रामो रमणीयः''

चर्चा

भाट्टमतरीत्या प्रत्यक्षविवरणम्

डॉ. आर्. कृष्णमूर्ति शास्त्री

के.ई.देवनाथन् : अनुवादः सर्वोऽपि ... इति नास्ति. ''ग्रामो ग्रामो रमणीयः'' ''पच-पच'' इति उक्तौ तत्र शैत्यं ज्ञायते इति भाष्यकारेण उक्तम्.

कश्चित् : अनुवादस्य कथम् अप्रामाण्यम् इति प्रश्नः खलु ?

के.ई.देवनाथन् : ''इदं रजतम्'' इति अत्र सामानाधिकरण्यम् अभेदप्रतीतिं साधयति. तथा मया ''चौरः स्थाणुः'' इतिवत् सामानाधिकरण्यम् अस्ति चेद् अभेदः इति न नियमः. अभेदः प्रतीयते परन्तु युक्तिसहकृतलाघवं यत्र भवति तत्र अभेदः त्यज्यते. कुतः इति उक्तौ, यत्र नष्टपटे ''सः अयं पटः'' इति अभेदप्रतीतौ सत्यामपि सो अभेदो बाध्यते नैयायिकैः. तद्वत् अत्रापि प्राभाकरमतेऽपि भवितुम् अर्हति.

अनन्तरं, संयुक्त-तादात्म्य-तादात्म्यम् इति उक्तम्. शब्दः ''संयुक्त-तदात्म-तादात्म्यम्'' इति स्याद् वा ?. अनन्तरं भवद्भिः उक्तं यत् प्राभाकरमते रूपत्वं न अंगीक्रियते. लोकावेदाधिकरणे भाट्टैरपि गुणगता जातिः न अंगीक्रियते इति भाट्टमतेऽपि अस्ति इति स्मर्यते. अनन्तरं, विषदावभासत्वम् इत्यत्र असाधारणाकारेण अवभासमानत्वम् इति व्याख्यानं युक्तं वा इति मम शंका.

''बालमूकादिविज्ञानसदृशं शुद्धवस्तुजम्'' तत्रतु शंकाद्वयम् अस्ति. ''न विशेषो न सामान्यं तदानीम् अनुभूयते, तयोः

आधारभूतातु व्यक्तिरेव अवगम्यते'' इत्यत्र न्यायरत्नाकरकारैः निष्प्रकारकं ज्ञानम् अत्र सम्मुग्धाकारं विवक्षितम् इति उक्तम्. परन्तु अत्र वार्तिके ''न विशेषो न सामान्यम्'' इत्यनेन व्यक्तिमात्रम् अवगम्यते इति भाति. अत्र न्यायरत्नाकरकारः समर्थनीयो न वा? अनन्तरं ''बालमूकादिविज्ञानम्'' अस्ति किल. बालमूकादीनां तिरश्चामपि हेयोपादेयविभागो वर्तते. बालानां सर्वेषु हेयोपादेयविभागो यद्यपि नास्ति. केषुचित् विशेषस्य... अस्माकमपि नास्ति बहुषु... परन्तु बालकानापि कुत्रचिद् अस्त्यैव. अतः तत् कथं दृष्टान्तीकृतम् वार्तिककारैः?

कृष्णमूर्ति शास्त्री : तत्र सामानाधिकरण्यं चतुर्धा भवितुम् अर्हति. अभेदे अध्यासे विशेषणविशेष्यभावे कार्यकारणभावे वा. (''राहो शिरः(!)''), ''इदं रजतम्'' इति भ्रमस्थले, ''नीलम् उत्पलम्'', ''मृद् घटः''... इत्यनेन अभेद...

के.ई.देवनाथन् : मम शंका तथा नास्ति. युक्तिसहकृतं लाघवम् अस्ति. प्राभाकरमते लाघवं बहु प्रदर्शितम् तैः.

कृष्णमूर्ति शास्त्री : प्राभाकरमते लाघवं प्रदर्श्यते च अख्यातिमतखण्डने बह्व्यो युक्तयः सन्ति. अहम् इदानीम् एकं वदामि. दृष्टं पुरोवर्तिपदार्थं हस्तेन निर्दिश्य सत्यरजतार्थी पुरोवर्तिनि प्रवर्तते. यदि पुरोवर्तिपदार्थमेव रजतत्वेन न जानीयात् कथं तत्र प्रवर्तेत? तस्य प्रवृत्तिः अन्यत्र स्यात्. एवञ्च पुरोवर्तिपदार्थम् अंगुल्या निर्दिश्य ''इदं रजतम्'' इति वदति.

के.ई.देवनाथन् : असंसर्गाग्रहाद् ...

कृष्णमूर्ति शास्त्री : असंसर्गाग्रहाद् इति उक्तौ कुतो इष्टभेदस्य असंसर्गाद् यदि प्रवर्तते, अनिष्टभेदग्रहात् कुतो न निवर्तते? एवं सर्वम् आलोच्यैव अभेदो यथावत् प्रतिपादितः. युक्त्यन्तरम् अनालोच्य तथैव अंगीकरणीयः इति उत्सर्गं स्वीकृत्य ते वदन्ति इतितु तत्र समाधानम्.

'तादात्म्य' पदं वा 'तदात्म' पदं वा इत्यत्र तु पुस्तके

‘‘संयुक्त-तादात्म्य-तादात्म्यम्’’ इत्येव उक्तम् अस्ति. तदपेक्षया ‘‘संयुक्त-तदात्म-तादात्म्यम्’’ इति कथने... न इदं श्रुतिवाक्यम्. मुद्रणत्रुटिरपि स्यात्. यदि इदम् अनुपपन्नं... परन्तु गत्यन्तरं मया चिन्त्यते.

के.ई.देवनाथन् : श्रीमद्भिः समर्थयितुं शक्यते.

कृष्णमूर्ति शास्त्री : पुस्तके तथा लिखितम् अस्ति. तत्र मम अनुपपत्तिः न स्फुरिता. तस्मात् तस्य दोषस्य यदि निराकरणं ... तदपि कर्तुं शक्यते.

डी. प्रह्लादाचार : संयुक्त-समवाय-समवाय that is not the relation.

कृष्णमूर्ति शास्त्री : अनन्तरं, रूपत्वजातिः अंगीक्रियते न अंगीक्रियते इति उक्तौ, सर्वेषां शास्त्रकाराणां पक्षद्वयम्. यत्र यद् भवति तत्र तद् अंगीक्रियते. तत्तु इदानीं विशेषतो न स्मर्यते तद् अधिकरणम्. कुत्रचित् रूपं न अंगीक्रियते इति उक्तौ न अंगीक्रियते. यथा वा गदाधरभट्टाचार्यैः व्यधिकरधर्मावच्छिन्नाभावो दशपुटेषु खण्ड्यते विंशतिपुटेषु समर्थ्यते. एवं तत्र तेषां बुद्धिकौशलं भवति. एवं रूपत्वं पृथग् अंगीकार्यम् इति मया उच्यते तदा उच्यते. तस्मिन् दिने मम एवं रुचिः अन्यस्मिन् दिने तत् खण्ड्यते तत्तु बुद्धिकौशलम्. भाट्टैरपि कदाचिद् एवं स्वीक्रियते.

के.ई.देवनाथन् : प्राभाकरैः... भाट्टैरपि लोकवेदाधिकरण... वाक्यम् अस्ति.

कृष्णमूर्ति शास्त्री : अतएव द्वेधा त्रेधा वा सन्निकर्षः इति किमर्थम् उक्तम् ? द्वेधैव तैः खलु स्थापनीयम्. इदन्तु यथा अस्माकं विवादः इदानीं प्रचलति तथैव. तदनन्तरं, निर्णीतत्वं नाम यदनन्तरं संशयो न उदेति इति मम भाति. स्फुटं भाति. अतएव प्रत्यक्षपरिकलितं चेत् नहि दृष्टे अनुपपन्नं नाम. इदानीं दृष्टं चेत्, यद्यपि वेदान्तिभिः अस्माभिः अद्वैतिभिरपि प्रत्यक्षस्य दौर्बल्यमेव उच्यते अथापि ‘‘नहि आगमाः सहस्रमपि घटं पटयितुम् ईशते’’ इति अंगीक्रियतएव. प्रत्यक्षानुभवस्य इदमपि

वैलक्षण्यम् अंगीकृतं यत् न खलु इक्षुक्षीरगुडरसाः मधुररसभेदाः अनुभूयमानाः शक्या सरस्वत्यापि आख्यातुम्. प्रत्यक्षेण अनुभूयमानो विषयो अन्येन प्रमाणेन न उपपादयितुं शक्यते. तादृशन्तु वर्तते वैशिष्ट्यचम्. तद्रीत्या विशदत्वं नाम...

के.ई.देवनाथन् : असाधारणधर्मवत्त्वम्...

कृष्णमूर्ति शास्त्री : अतएव अपरोक्षसाक्षात्कारपर्यन्तं सगुणेश्वरस्य वा निर्गुणब्रह्मणो वा ज्ञानं फलीभूतं स्वीक्रियते. इदानीन्तु बहवः संशयाः सन्ति. ''भिद्यते हृदयग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्वसंशयाः'' अपरोक्षसाक्षात्कारपर्यन्तं गमनम्. वस्तुतो अद्वितीयं ब्रह्म एकमेव प्रत्यक्षप्रमा यत् साक्षात्परोक्षाद् ब्रह्म इति आरम्भे एव ...

के.ई.देवनाथन् : भवद्भिः कथञ्चिद् अत्र अद्वैतम् आनीयते.

कृष्णमूर्ति शास्त्री : बालमूकादिरूपम् इति उक्तौ, तत्र का अनुपपत्तिः? इदानीं बालस्यापि हेयोपादानं न निषिध्यते परन्तु प्रथमतो माम् अवेक्षयन् कश्चन शिशुः किमपि पश्यति हसति. परन्तु तत्र केवलं सम्मुग्धाकारज्ञानेनैव हासो भवति. हासः आकस्मिकएव इति उच्यते. मां दृष्ट्वा हसति त्वां दृष्ट्वा रोदति इत्यादिकन्तु तत्र नास्ति.

विन्ध्येश्वरीप्रसाद : शास्त्रिवर्याः! निर्विकल्पकज्ञाने ज्ञातता भवति न वा?

के.ई.देवनाथन् : न भवति.

कृष्णमूर्ति शास्त्री : निर्विकल्पकं ज्ञानं क्षणमात्रं तिष्ठति. निर्विकल्पकस्य पुनः अनुसन्धानं चेद् ज्ञातता. ज्ञातता नाम प्राकट्यविशेषः इति तैः अंगीक्रियते तथा वेदान्तिभिः अस्माभिः न उच्यते. अथापि...

के.ई.देवनाथन् : निर्विकल्पकस्य सप्रकारकत्वाभावात् ... सप्रकारकभूता ज्ञातता निर्विकल्पकेन जन्या न भवति.

डी. प्रह्लादाचार. : सविकल्पकज्ञानेन सप्रकारा ज्ञातता जायताम्, निर्विकल्पकज्ञानेन निष्प्रकारा ज्ञातता जायताम् ... ज्ञातता नास्ति इति कथम् उच्यते? केवलं प्रतिज्ञामात्रेण इदं सर्वम्

उच्यते. न कश्चिद् अनुभवः तत्र.

के.ई.देवनाथन् : तथा नास्ति. ज्ञाततासामान्यं सप्रकारकमेव. ज्ञातता तावद् अनुभवेनैव ...

विन्ध्येश्वरीप्रसाद : निर्विकल्पकज्ञाने फलमेव नास्ति. तर्हि कथं प्रत्यक्षत्वस्य सिद्धिः ?

कृष्णमूर्ति शास्त्री : निर्विकल्पकं निर्विकल्पकेनैव समाप्यते इति तु उक्तम्. तदनन्तरक्षणएव सविकल्पकं प्रायो जायते. तत्र फलं वर्तते प्राकट्यतः इति तु अत्र अंगीकृतम्. निर्विकल्पकन्तु सविकल्पकस्य स्वोपारोहः आरोहणपंक्तिरेव... वर्तते. अतएव यावत् ...

बलिराम शुक्ल : प्राकट्यं कुत्र ? निर्विकल्पके अस्ति वा सविकल्पके ?

कृष्णमूर्ति शास्त्री : सविकल्पके एव.

अम्बिकादत्त शर्मा : बौद्धपक्षको लेकर दो शंकाएं हैं एक शंका प्राप्यकारित्वको ले कर है और दूसरी प्रत्यक्षकी निर्विकल्पकताको ले कर है. श्रोत्र और चक्षुरिन्द्रिय का जब प्रभाकर मतमें प्राप्यकारित्व माना जाता है तब बौद्धपक्षसे शंका होती है. ''सान्तर्ग्रहणं न स्यात् प्राप्तौ ज्ञानाधिकस्य च, बहिः नाक्षम् अधिष्ठानात् तच्चिकित्सादियोगतः'' ये चार युक्तियां हैं प्राप्यकारित्वके विरोधमें.

के.ई.देवनाथन् : यदि पार्श्वे अस्ति तदानीं ज्ञानन्तु अधिकं भवति.

कृष्णमूर्ति शास्त्री : पार्श्वस्थितस्य दूरस्थितस्य च चक्षुषा ग्रहणम् अस्ति न वा ?

के.ई.देवनाथन् : ...विशदावभासः...

कृष्णमूर्ति शास्त्री : तन्तु देशप्रयुक्तो भवितुम् अर्हति. अनेन हेतुना न गच्छति इति तु कथम् आगच्छति ? अतएव गच्छति इति मया उच्यते. कुतः, यस्माद् अत्र गमनम् ... अत्र सन्निकृष्टत्वात् विशदतरं भासते, तत्र ...

के.ई.देवनाथन् : बहुभागसन्निकर्षाभावे अविशदग्रहणम्.

कृष्णमूर्ति शास्त्री : विशदाविशदत्वन्तु दूरस्थत्व-समीपस्थत्व ...

डी. प्रह्लादाचार : रश्मिद्वारा खलु सन्निकर्षः ?

कृष्णमूर्ति शास्त्री : चक्षुरिन्द्रियं गच्छति इति उक्तौ तथा न. तैजसत्वात् तेषां व्यापकत्वम् अंगीक्रियते. बहिः गच्छति ...

डी. प्रह्लादाचार : रश्मयः क्षीणाः भवन्ति दूरस्थवस्तुविषये, समीपस्थविषयेतु गाढा भवन्ति.

कृष्णमूर्ति शास्त्री : अतएव दूरे शब्दो मया श्रुतः इति अनुव्यवसायः भाट्टानाम् अस्ति. इतरेषाम् अस्ति न वा. अनुव्यवसायविषयेतु निर्णयएव न स्यात्. ईश्वरस्य समीपे कर्पूरस्य ...

डी. प्रह्लादाचार : अन्यः प्रश्नः.

अम्बिकादत्त शर्मा : दूसरी शंका प्रत्यक्षकी निर्विकल्पकताको ले कर है. ज्ञानमें शब्दानुविद्धता किन कारणोंसे आती है? यदि ज्ञानके कारणोंमें ही कहीं शब्दानुविद्धताका स्रोत है तो जिस क्षणमें ज्ञान उत्पन्न होता है उसी क्षणमें उसे शब्दानुविद्ध हो जाना चाहिये.

कृष्णमूर्ति शास्त्री : सर्वेषां कार्याणां क्रमिकत्वम् अवश्यम् अंगीकार्यम्. एकक्षणावच्छेदेन सर्वं भवितुं न अर्हति. सर्वस्यापि क्रमापेक्षातु वर्तते क्षणविलम्बो वा आवश्यकः. प्रथमतएव शब्दानुविद्धतया तादृशजात्यादिमत्त्वेन क्रियावत्त्वेन नैव भवति. अतएव माघे द्वितीये वा तृतीये वा श्लोके उक्तं ''विभुः विभक्तावयवं पुमानिति क्रमाद् अमुं 'नारदः' इति अबोधि सः'' इति क्रमिकत्वाद् वाचःप्रवृत्तेः वा सर्वस्याः क्रियायाः... शब्दानुविद्धत्वं कुतः तस्मिन् क्षणे न भाति? कुतः अस्मिन् क्षणे भाति?

के.ई. देवनाथन् : मम भाति यत् तेषां प्रश्नः एवम् अस्ति. प्रथमतो निर्विकल्पकं जायते अनन्तरन्तु सविकल्पकं शब्दानुवेधविशिष्टं जायते.

कृष्णमूर्ति शास्त्री : तत्र सामग्री का...

के.ई. देवनाथन् : ...अधिका सामग्री? निर्विकल्पकघटिता सामग्री. निर्विकल्पकं वस्तुविषयकज्ञानम्. वस्तुनि ज्ञाते तेन तावद्

शब्दसंस्कार: उद्बुद्धो भवति. तेन द्वितीयं यज् ज्ञानं भवति शब्दानुविद्धविषयकम् ...

कृष्णमूर्ति शास्त्री : तदेव उक्तम्, सविकल्पकद्वारा उद्बोध:.

बलिराम शुक्ल : किं सविकल्पकज्ञानमात्रं शब्दानुविद्धं भवति ?

के.ई.देवनाथन् : तथा नास्ति.

कृष्णमूर्ति शास्त्री : सविकल्पकज्ञानं शब्दानुविद्धमपि भवति.

अम्बिकादत्त शर्मा : शाब्दं नतु अर्थोत्पन्नं जायते, शाब्दं नतु इन्द्रियोत्पन्नं जायते तर्हि किं म्रोतेन ज्ञानं शब्दानुविद्धं भवति ?

प्रद्योतकुमार : निर्विकल्पकजन्य... तत्र सामग्री ज्ञानमेव.

विन्ध्येश्वरी प्रसाद : सर्वोऽपि ज्ञानं किं शब्दानुविद्धं नास्ति ?

कृष्णमूर्ति शास्त्री : इति नियमो नास्ति.

सिद्धेश्वर भट्टट : 'सन्निकर्ष' और 'सम्प्रयोग' के बीच क्या अन्तर है ?

के.ई.देवनाथन् : दोनों एकार्थक हैं. प्राचीन न्यायभाष्यवार्तिकमें 'सम्प्रयोग' शब्द है. बादमें 'सन्निकर्ष'का प्रयोग किया गया है.

प्रद्योतकुमार : मीमांसकै: रूपत्वं न खण्डितं, रूपत्वजातित्वं खण्डितम्. ईश्वर: सृष्टा भवति न वा ?

बलिराम शुक्ल : भाट्टमते ईश्वर: स्वीकृतो वर्तते वा ?

कृष्णमूर्ति शास्त्री : स्वीकृत:.

बलिराम शुक्ल : कीदृश: ? सृष्टिकर्तृत्वेन ?

कृष्णमूर्ति शास्त्री : यदि समीचीन: सर्वोत्तम: मीमांसक: स: शब्दस्वरूपएव देवता ईश्वरो नास्ति इति वदति. परन्तु खण्डदेवपर्यन्तं ये वर्तन्ते ... मम जिह्वापि भीति:. ''वाणीः दूष्यति'' इत्यादिकन्तु अंगीकृतम् अस्ति. परन्तु ममतु एवं प्रतिभाति यत् तेषामपि ईश्वरनिराकरणे न तात्पर्यम्. ईश्वरो वर्तते इति कृत्वा कर्माणि परित्यज्य तस्य SOMETHING ... दत्वा किमपि कुर्याद् इति भीत्या तै: ईश्वरनिराकरणं कृतम् इति तेषां भाव:.

प्रद्योतकुमार : सर्वज्ञ ... प्रमालक्षणं ...

के.ई.देवनाथन् : नैयायिकमतएव सर्वज्ञः ईश्वरः स्वीकृतः. तत्र ''यथार्थानुभवो ...'' इति. तत्र अनधिगताबाधितार्थगन्तृत्वम् इति ईश्वरस्वीकारपक्षे नास्ति. अतएव वार्तिककारैः ''यथा व्योमशरीरोऽपि परमात्मा प्रदर्श्यते'' ...

कृष्णमूर्ति शास्त्री : ईश्वरस्य ज्ञानं सर्वं प्रत्यक्षरूपम्. मीमांसकानामपि प्रत्यक्षे अनधिगतत्वं न दोषाय. शब्दविषयएव अधिगतत्वं दोषः. इदानीम् अत्र Water Bottle दृष्ट्वा पुनरपि दृश्यते चेत् द्वितीयस्य ...

के.ई.देवनाथन् : धारावाहिकज्ञाने किमर्थम् ...

कृष्णमूर्ति शास्त्री : अनधिगतांशो वर्तते. शब्दे तावत् तथा न भवति.

के.ई.देवनाथन् : ईश्वरो न स्वीक्रियते इति कथं ...

कृष्णमूर्ति शास्त्री : मया किम् उच्यते, ईश्वरस्य ज्ञानं परोक्षं वा प्रत्यक्षं वा ?

के.ई.देवनाथन् : प्रत्यक्षमेव भवति.

...

डी. प्रह्लादाचार : तेषाम् अभिप्रायः एवं भाति. ईश्वरस्यापि अनधिगतार्थगन्तृत्वं नास्ति ...

कृष्णमूर्ति शास्त्री : क्षणविशेषविशिष्टत्वेन भवितुम् अर्हति ?

डी. प्रह्लादाचार : अनधिगतार्थगन्तृत्वमेव वर्तते...

कृष्णमूर्ति शास्त्री : एवम्. कुतः ?

डी. प्रह्लादाचार : तावता दोषो नास्ति. अनधिगतार्थगन्तृत्वं नाम ईश्वरस्य अज्ञानम् अस्ति वा इति प्रष्टव्यं भवति. परन्तु ईश्वरो यद् अस्ति तद् जानाति. यन् न अस्ति न तज् जानाति. यन् न अस्ति न तज् जानाति चेत् तस्य अज्ञानित्वं वा भ्रान्तित्वं न सम्भवति. अस्मिन् क्षणे... असतो ज्ञानं नास्ति तस्य. सतो ज्ञानं वर्तते. एवञ्च यस्मिन् क्षणे घटो अस्ति तत्क्षणसम्बद्धतया घटस्य ज्ञानं तावत् अनधिगतार्थग...

कृष्णमूर्ति शास्त्री : ... धारावाहिकस्थलन्तु भवितुम् अर्हति. ... जातित्वं

खण्डितं रूपत्वं न खण्डितम् इति. तदुपरि विपदतया मया ग्रन्थाः न स्मर्यते. परन्तु तेषां रूपत्वं नास्ति इति उक्तौ तद् अंगीकार्यमेव. गुरुमतएव तैः उक्तम्.

के.ई.देवनाथन् : कारणम् अस्ति. संस्थानन्तु न भवति तदेव कारणम्. आकृतिः जातिः.

प्रद्योतकुमार : धारावाहिकज्ञाने अन्योन्याश्रयदोषो भवति.

डी. प्रह्लादाचार : प्रश्नं विवृणोमि. ज्ञानभेदेन प्राकट्यभेदः. प्राकट्यभेदेन ज्ञानभेदः एवं रीत्या अन्योन्याश्रयः. तेषाम् अभिप्रायः एवं, उत्तरज्ञानेन पूर्वज्ञानजनित-प्राकट्यावच्छिन्नविषयः स्वीक्रियते. तस्माद् उत्तरज्ञानस्य अनधिगतार्थगन्तृत्वम् इति वदन्ति. एवञ्च पूर्वज्ञानेन हि प्राकट्यं विलक्षणं तेन जायते इति हेतोः उत्तरज्ञानात् पूर्वज्ञानं भिद्यते. तत्र ज्ञानानां भेदः कुतः ...

कृष्णमूर्ति शास्त्री : ज्ञानानां भेदो न साधनीयः, सिद्धः. क्षणे-क्षणे वृत्तिभेदः इति मतं स्वीकृत्य इदं प्रवर्तते. तत्र भेदस्य प्रमाणं न अपेक्षितम्. वृत्तिः वा भवतु अन्यो वा भवतु.

के.ई.देवनाथन् : तेषां प्रश्नः एवं स्यात्, ज्ञानस्य अनधिगतार्थगन्तृत्वं तदा सिद्ध्यति यदि क्षणादिः भिन्नाः उत्तरत्र ज्ञाने विषयो भवति. उत्तरत्र ज्ञाने क्षणादिः भिन्न-भिन्न पदार्थाः यदि विषयो भवति तदानीमेव द्वितीयादिज्ञानानाम् अनधिगतार्थगन्तृत्वं भवति. अनधिगतार्थगन्तृत्वसिद्ध्यर्थं ...

कृष्णमूर्ति शास्त्री : क्षणानां विलक्षणानां भिन्नत्वे प्रमाणं न अपेक्षितम्. एकैकः क्षणः स्वतो भिन्नएव वर्तते. खण्डकालाः सर्वेऽपि भिन्नभिन्नाः तत्तद्विशेषावच्छिन्नाः स्वतो भिन्नाः.

प्रद्योतकुमार : सामग्रीतो भिन्नाः...

के.ई.देवनाथन् : सामग्रीतो भिन्नाः. अनन्तरं कालस्य तावद् वेदान्तिभिः भाट्टैः च नीरूपस्यापि विषयत्वं स्वीक्रियते.

गो.श्या. म. : प्रत्यक्षमें धारावाहिकज्ञानमें उत्तरोत्तर अनधिगतका अधिगम होता रहता है. इसी तरह शब्दमें भी सम्भव है. जैसे

उद्दिष्ट पदसे अधिगतका लक्षणसे जब ज्ञान होता है तब वह ज्ञान अनधिगतका ही होता है. लक्षणघटकपदाधिगत अर्थका जब परीक्षासे अधिगम होता है तब वह ज्ञान लक्षणानधिगत अर्थका परीक्षामें अधिगम होता है. अत: शब्दमें भी यह सम्भव है. और इसी तरह सूत्राधिगतार्थका भाष्यमें ...

कृष्णमूर्ति शास्त्री : हो सकता है. आपके कहनेके बाद मुझको भी ... अनुमानमें भी हो सकता है. उपनयवाक्ये निगमनवाक्ये च ...

के.ई.देवनाथन् : तत्र मर्यादा वर्तते. शब्दे तावत् कालो न बोध्यते. शाब्दबोधे कालो न विषय:. प्रत्यक्षे तावत् अनुल्लिखितोऽपि कालो विषय:.

कृष्णमूर्ति शास्त्री : आचार्या: शृण्वन्तु. भवद्भि: इदानीं प्रत्यक्षएव धारावाहिकम् इति न, शब्दादिष्वपि धारावाहिकम् अस्ति इति. शब्देन प्रथमत: ‘‘सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म’’ इति स्वीक्रियताम् ...

डी. प्रह्लादाचार : अनधिगतार्थगन्तृत्वम् ...

कृष्णमूर्ति शास्त्री : तदेव. धारावाहनं यदा भवति तदानीमेव खलु अयं प्रश्न: उत्तिष्ठति. यदि एकं ज्ञानं तदानीम् अनधिगतार्थकत्वं तदेव अनुस्यूततया भासते यदा तदा धारावाह: शब्द: प्रयुज्यते. एवञ्च यथा प्रत्यक्षे ‘‘अयं घट: अयं घट: अयं घट: ...’’ इति यदा भवति एवमेव शाब्दजन्ये बोधविषयेऽपि एकं वाक्यं तत्र च बहूनि विशेषणानि एकं विशेष्यम् इति स्वीक्रियताम्. प्रथमविशेषणविशिष्टतया ज्ञातम्, अनन्तरं द्वितीयविशेषणविशिष्टतया तदेव विशेष्यं ज्ञायते. एवमेव खलु भवताम् आशय: ? तत्रापि अधिगतस्यैव पुन: अधिगम: वर्तते.

के.ई.देवनाथन् : नहि. अनधिगतस्यापि अधिगम: वर्तते.

कृष्णमूर्ति शास्त्री : अधिगतं विशेष्यं पुनरपि विशेषणान्तरविशिष्टत्वेन

अधिगम्यते. एवञ्च धारावाहिकस्थले अनधिगतार्थनिर्वाहार्थं या प्रक्रिया सा अत्र ...

डी. प्रह्लादाचार : तथा प्रश्नो नास्ति. उद्देश्यवाचकपदेन केवलं वस्तुस्वरूपबोध्यते. लक्षणवाचकपदगुच्छेन अन्ये विषया: प्रतिपाद्यन्ते. परीक्षासम्बन्धिवाक्येन अपरे विषया: प्रतिपाद्यन्ते. एवं रीत्या अनधिगतार्थ ...

के.ई.देवनाथन् : तत्तु इष्टमेव.

कृष्णमूर्ति शास्त्री : तत्रतु प्रश्नएव न उत्तिष्ठति. कुत: ? उद्देश्यमें तो सामान्यरूपसे ज्ञात होता है. लक्षणमें कुछ विषदांशोंका नूतन अंशोंका भान हाता है. परीक्षामें उससे भी प्रकटतया ...

गो. श्या. म. : तदा प्रत्यक्षएव अनधिगतार्थज्ञापकता...

डी. प्रह्लादाचार : नास्ति. नास्ति.

गो. श्या. म. : तथा शब्दे नास्ति इति यद् उक्तं तत्र मया प्रच्छ्यते.

डी. प्रह्लादाचार : प्रमाणसामान्यलक्षणम् इदम्. अनधिगतार्थगन्तृप्रमाणम् इति तु न केवलं प्रत्यक्षप्रमाणस्य ...

अच्युतानन्द दास : यथा भवद्भि: उक्तं द्रव्य-जाति-गुण-क्रिया-नामभि: पञ्चधा विभक्तं वर्तते सविकल्पकज्ञानं तावता किं तत्र भाट्टमते पदार्थानां पञ्चधा विभागो भवति इति कल्पयितुं शक्यते वा ?

कृष्णमूर्ति शास्त्री : पदार्थानां संख्याविषये मया न उक्तम्. सविकल्पकं जायते अनन्तरं निर्विकल्पकम्. सविकल्पकज्ञानं पञ्चधा विभज्यते.

अच्युतानन्द दास : वैयाकरणा: यथा पदस्य पञ्चधा विभागं कुर्वन्ति तथा अत्र सविकल्पकस्य पञ्चधा विभागो दृश्यते. तत्र वैयाकरणा: द्रव्य-जाति-गुण-क्रिया-नाम इति पञ्चधा पदविभागं कुर्वन्ति तथैव अत्र सविकल्पकस्य पञ्चधा विभागो दृश्यते. यदि निपुणं परीक्षाम: तर्हि किं भवति, यथा न्याय-वैशेषिकसम्प्रदाये द्रव्य-गुण-क्रिया-सामान्य: इति चत्वार: पदार्था: अत्र आगता:

सन्ति. अत्र 'नाम'पदेन कदाचित् शब्दस्य द्रव्यत्वं स्वीकृत्य भाट्टैः ...

डी. प्रह्लादाचार : प्रत्यक्षं तावत् सविकल्पकम् एवं पञ्चविधं भवति तावता पदार्थानां पाञ्चविध्यं नास्ति. यतोहि प्रात्यक्षाग्राह्याः अभावादिपदार्थाः तन्मते वर्तन्ते. अभावोऽपि पदार्थः भाट्टमते स्वीकृतः ?

कृष्णमूर्ति शास्त्री : न स्वीकृतः.

अच्युतानन्द दास : तत्र प्रश्नो वर्तते. तर्हि सम्बन्धरूपपदार्थोऽपि वर्तते वा ? तस्य ग्रहणं कथं भवति ? तत्र समवायपदार्थस्य ...

कृष्णमूर्ति शास्त्री : समवायो न अंगीक्रियते संयोगो अंगीक्रियते.

डी. प्रह्लादाचार : सम्बन्धस्तु गुणे अन्तर्भवति, गुणविकल्पः.

अच्युतानन्द दास : गुणे अन्तर्भवति वा सम्बन्धः ?

डी. प्रह्लादाचार : एवं संयोगः.

अच्युतानन्द दास : संयोगो वर्तते. तादात्म्यं गुणे ...

डी. प्रह्लादाचार : तादात्म्यन्तु वस्तुस्वरूपमेव द्रव्यं भवति.

अच्युतानन्द दास : तादात्म्यस्य ज्ञानं कथं भवति ? प्रत्यक्षेण भवति वा अन्यथा ?

कृष्णमूर्ति शास्त्री : प्रत्यक्षेणैव भवति. यः पदार्थो दृश्यते तदात्मतया तादात्म्यं...

अच्युतानन्द दास : यदि प्रत्यक्षेण तादात्म्यस्य ज्ञानं भवति तर्हि तादात्म्येन सह कः सन्निकर्षः. केनच इन्द्रियेण भवति इति प्रश्नः.

गो. श्या. म. : गुण-कर्म-सामान्यानां सर्वेषामपि धर्मे अन्तर्भावो भवितुम् अर्हति ...

बलिराम शुक्ल : किं नैयायिकानां मते समवायस्य ज्ञानं सर्वथा प्रत्यक्षं भवति वा ?

अच्युतानन्द दास : नहि. अनुमेयमपि भवति. अत्रतु भाट्टमते किं भवति इति जिज्ञासा वर्तते. तादात्म्यस्य ज्ञानं कथं भवति ?

विन्ध्येश्वरीप्रसाद : वस्तुनो धर्मत्वेनैव भवति.

कृष्णमूर्ति शास्त्री : तादात्म्यं चक्षुषा गृह्यते. कुतो ? घटरूपत्वात्. तादात्म्यं द्रव्यरूपं स्वीक्रियते.

प्रद्योतकुमार : सन्निकर्षस्य सन्निकर्षम् अस्ति न वा ?

अच्युतानन्द दास : सएव प्रश्नः.

डी. प्रह्लादाचार : घटस्य प्रत्यक्षं घटगतरूपस्य प्रत्यक्षं च. घट-रूपयोः तादात्म्यं यदि अंगीक्रियते समवायानंगीकर्तृभिः तस्य प्रत्यक्षम् एवञ्च प्रत्यक्षत्रयम् अत्र वर्तते — घटप्रत्यक्षं, घटगतरूपप्रत्यक्षं, घट-रूपयोः दातात्म्यप्रत्यक्षं च इति. तत्र तादात्म्यप्रत्यक्षे कः सन्निकर्षः इति तेषां प्रश्नः. अयन्तु प्रश्नः समाधेयः.

कृष्णमूर्ति शास्त्री : मयातु एवं चिन्त्यते, तादात्म्यं घटरूपम्. तदपि द्रव्ये अन्तर्भूतमिव. तस्माद् घटस्य प्रत्यक्षे यः सन्निकर्षः संयोगः तेनैव घटतादात्म्यमपि गृह्यते.

अच्युतानन्द दास : तर्हि स्वरूप-तादात्म्ययोः कः भेदः स्यात् इति प्रश्नः.

प्रद्योतकुमार : नास्ति भेदः.

अच्युतानन्द दास : स्वरूपसम्बन्धं भिन्नं स्वीकुर्वन्ति नैयायिकाः, तादात्म्यमपि भिन्नं स्वीकुर्वन्ति. ...

कोलाहलः

डी. प्रह्लादाचार : भवतां प्रश्नमेव विवृणोमि. तादात्म्यस्य घटस्वरूपत्वं स्वीकृत्य घटः तादात्म्यम् इति भिन्नं नास्ति. तस्मात् घटे यः सन्निकर्षः तादात्म्येऽपि सएव सन्निकर्षः इति तेषाम् उत्तरम्. परन्तु तदुपरि प्रश्नो भवति. यदि तादात्म्यं घटः च एकएव तर्हि रूपे घटएव सम्बन्धः स्यात्. तादात्म्यम् इति कश्चन सम्बन्धः कुतः उच्यते ? घटस्य रूपे तादात्म्यं सम्बन्धः. तादात्म्यञ्च घटएव. एवञ्च घटएव सम्बन्धः इति आगतम्. तर्हि तादात्म्यम् इति मध्ये कुतः आनीयते ? रूपे घटस्य सम्बन्धः घटएव इति उच्यताम्.

कृष्णमूर्ति शास्त्री : अहं प्रतिबन्द्या उत्तरं ददामि. स्वरूपसम्बन्धः स्वीक्रियते...

डी. प्रह्लादाचार : प्रतिबन्दी मास्तु भोः...

के.ई.देवनाथन् : प्रतिबन्द्या न उच्यते. तेन वाक्येन समाधानम् उच्यते. कथम् इति चेत्, स्वरूपसम्बन्धस्य लक्षणं मणिकारेण उक्तम् अस्ति ''सम्बन्धान्तरं विना विशिष्टप्रत्ययनियामकत्वं स्वरूपसम्बन्धत्वम्''. एवञ्च सम्बन्धान्तरं नाम स्वव्यतिरिक्तं सम्बन्धं विना इति अर्थः क्रियते. एवञ्च विशिष्टबुद्धिनियामकत्वेन तादात्म्यं स्वीक्रियते. अतो हेतोः तस्य भिन्नत्वन्तु न आवश्यकम्. भिन्नत्वाभावेऽपि सम्बन्धस्य घटापेक्ष्यतादात्म्यस्य वा स्वरूपस्य वा स्वापेक्ष्यभिन्नाभावेऽपि विशिष्टप्रत्यययोग्यजननत्वम् अस्ति.

डी. प्रह्लादाचार : घटस्यैव वर्तते?

के.ई.देवनाथन् : घटस्यैव वर्तते केनचिद् आकारेण तद्व्यक्तित्वेन आकारेण. घटस्य घटत्वेन रूपेण तत्र आश्रयत्वम् अस्ति. सम्बन्धत्वं तद्व्यक्तित्वेन अस्ति, स्वरूपत्वेन अस्ति.

डी. प्रह्लादाचार : एवमेव वक्तव्यं नतु तादात्म्यमिति सम्बन्धः इति वक्तव्यम्. घटस्य रूपे तद्व्यक्तित्वेन सम्बन्धत्वं घटत्वेन द्रव्यत्वम्.

के.ई.देवनाथन् : तद्व्यक्तित्वमेव तादात्म्यम्.

अच्युतानन्द दास : यदि नीलो घटः इति स्वीक्रियताम्. नीलघटपदार्थमध्ये तादात्म्यं वर्तते अभेदरूपम्.

बलिराम शुक्ल : 'तादात्म्यम्' इत्यस्य कः अर्थः? स्ववृत्त्यसाधारणधर्मः इति व्युत्पत्तिवादे प्रतिपादितम्.

प्रद्योतकुमार : ''शुक्लः घटः'' इत्यस्य को अर्थः? घट-शुक्लत्वयोः सम्बन्धः तादात्म्यरूप...

के.ई.देवनाथन् : ... सर्वेऽपि विषयाः शास्त्रदीपिकायां चर्चिताः. केवलं भेदो न, केवलं अभेदो न, भेदाभेदः. उभयोरपि तात्त्विकत्वम् इति मीमांसकसिद्धान्तः.

डी. प्रह्लादाचार : एवञ्च तादात्म्यं यदि भेदाभेदः तर्हि तद्व्यक्तित्वम् इति न वाच्यम्.

के.ई.देवनाथन् : तद्व्यक्तित्वरूपो अभेदेन रूपेण अत्र ग्राह्यत्वम् उक्तम्. भेदांशेन तावत् अग्राह्यत्वमपि भवति.

डी. प्रह्लादाचार : तद्व्यक्तित्वं हि घटनिष्ठो असाधारणो धर्म:. सच रूपे घटस्य सम्बन्ध: इति उच्यते चेद् घटे तद्व्यक्तित्वम् आयाति. घटस्य यो असाधारणधर्म: सो रूपनिष्ठ: इति वक्तव्यं भवति.

के.ई.देवनाथन् : स्वीक्रियते. परन्तु...

डी. प्रह्लादाचार : परन्तु रूपस्य तावद् गुणत्वम् नतु तद्व्यक्तित्वरूपत्वम्.

के.ई.देवनाथन् : भेदाभेदो अत्र विस्तरणीयो वर्तते. भेदाभेदवादिभि: अवच्छेदकभेद: स्वीक्रियते एतै: मीमांसकै:. केनचिद् अवच्छेदेन तद्व्यक्तित्वं रूपे स्वीक्रियते केनचिद् अवच्छेदेन तदभावोऽपि स्वीक्रियते. अन्यथा ...

डी. प्रह्लादाचार : गोस्वामिचरणानां प्रश्नोपरि किमपि वक्तुम् इच्छति भवान् ?

कृष्णमूर्ति शास्त्री : शाब्दबोधेऽपि धारावाहिकस्थलवद् ज्ञातज्ञानं वर्तते इति. तत्रतु उद्देश्ये यो विषयो अवगत: तस्य अनवगता: अंशा: लक्षणे ज्ञायन्ते, तत्रापि अनवगता: अंशविशेषा: परीक्षायां ज्ञायन्ते इति अनधिगतार्थत्वं सुस्पष्टं वर्तते. तत्र कालक्षणघटना न आवश्यकी. यत्रतु अधिकविषयप्रवेशो नास्ति ''घटोऽयं घटोऽयं घटोऽयम्'' इत्येव धारावाहिकस्थलं भवति तत्र कालविशेष: सूक्ष्मं प्रवेश्य तद्द्वारा अनधिगतार्थकत्वकल्पनं कर्तव्यम् इति श्रमो जायते. तत्रतु भवन्निर्दिष्टस्थले उद्देश्य-लक्षणे परीक्षा च इत्यादौ तु विशेषविशेषा: उद्देश्यापेक्षया केचन विशेषा: लक्षणे यथा वा तत्र उपनयवाक्यात् शब्दबोधानन्तरं पुन: निगमनवाक्यात् प्रथमत: ''पर्वतो वह्निमान्'' इत्यनेन को विशेष: ? तदपेक्षया विशेष: ... अनुमानेऽपि एवं वक्तुं शक्यते इति मया तदर्थमेव उक्तम्.

प्रद्योतकुमार : सर्वथा कथञ्चिद् वैलक्षण्यं सम्भवति तदा अनुवाद-प्रमाण ... को

के.ई.देवनाथन् : शाब्दबोधे न भवति किल. प्रत्यक्षे तावत् कालविशेष...

गो. श्या. म. : शब्देन उद्दिष्टस्य लक्षणे अनुवादो भवति न वा? लक्षितस्य परीक्षायाम् अनुवादो भवति न वा?

कृष्णमूर्ति शास्त्री : अनुवादो ज्ञातस्य अज्ञातविषयबोधनप्रयोजनकः. ज्ञातम् अनूद्य अज्ञातं बोध्यते.

गो. श्या. म. : अनूदितस्यापि पुनः धर्मान्तरेण बोधने प्रामाण्यं भवत्येव तत्र मम अभिप्रायः.

कृष्णमूर्ति शास्त्री : अनूदितस्यापि प्रामाण्यं स्वतो अनूदितत्वेन रूपेण न. अनूदितम् उद्दिश्य तदनन्तरं कश्चन विशेषो यदि विवक्ष्यते तदानीमेव प्रामाण्यम्.

गो. श्या. म. : तस्मादेव अनूदितानूदितयोः तादात्म्यम् अंगीकार्यम् नात्यन्तिको भेदः तत्र भवितुम् अर्हति.

कृष्णमूर्ति शास्त्री : अतएव स्मृतिसाधारणन्तु प्रमात्वं न अनधिगतार्थज्ञापकत्वमेव तत्तु अबाधितार्थविषयकत्वमेव. इति पक्षान्तरमपि स्वीकृतम्. अनधिगतत्वे आग्रहो नास्ति. अधिगतोऽपि विषयः स्मृत्यादि प्रमारूपएव इति यदि स्वीक्रियते तदानीम् ''अबाधितार्थमात्रविषयकत्वं प्रमात्वम्'' इति लक्षणान्तरं स्वीकृतमेव.

बलिराम शुक्ल : प्रत्यभिज्ञाविषये तेषां मते का स्थितिः?

कृष्णमूर्ति शास्त्री : तत्र नामविशेषविशिष्टतया ज्ञायते इति उक्तं खलु.

बलिराम शुक्ल : तत्र अनधिगतत्वन्तु नास्ति.

कृष्णमूर्ति शास्त्री : अतएव अन्ते पंक्तिरपि पठिता वर्तते ''पूर्वं यो दृष्टो मया 'गोविन्द'शब्दवाच्यः'' इत्येवं रीत्या...

बलिराम शुक्ल : तत्पदवाच्यत्वेन.

……+……

संगोष्ठ्युत्तरलेखनम्

गो.श्या.म.

समादरणीयैः श्रीकृष्णमूर्तिशास्त्रिमहाभागैः भाट्टमीमांसाम् अधिकृत्य प्रस्तुतम्

आलेखपत्रम् इदं मध्ये-मध्ये प्राभाकारमीमांसामपि तुलनया विशदीकरोति. अतीव सरलया भाषया मीमांस्यस्य सर्वस्यापि विषयस्य अवितथावबोधकेन लेखनेन सर्वेऽपि विचारगोष्ठीसहभागिनः शास्त्रिमहाभागानां भृशम् अधमर्णाः सञ्जाताः !

ममतु संगोष्ठ्युत्तरलेखनम् इदं यत् किमपि वाल्लभमतदृष्ट्या अस्मिन् विषये विवक्षितं तदावेदकमेव.

तत्र तावत् प्रस्थानभेदेन प्रमाणानां सामान्यस्वरूप-संख्या-प्रामाण्यस्वरूप-स्वतस्त्वपरतस्त्वविषयेषु बहवः प्रभेदाः उपलभ्यन्ते. तत्र प्रथमे तावत् सामान्यस्वरूपविषये प्रस्थानरत्नाकरकृद्भिः ‘‘**तत्र ‘प्रमाण’शब्दो भावव्युत्पन्नो रूढो वा अबाधितज्ञाने बाधयोग्यव्यतिरिक्ते च, करणव्युत्पन्नस्तु तादृशज्ञानकरणे**’’ (प्रस्था.रत्ना.प्रमा.परि.उपकूले) इति व्युत्पादितत्वेन प्रमारूपस्य ज्ञानस्य द्वैविध्यं गमयति. तथाहि कीदृशं ज्ञानं बाधितं कीदृशं वा बाधयोग्यव्यतिरिक्तम् इति विचिकित्सायां न तावत् सर्वमपि ज्ञानं बाधितं बाधयोग्यं वा इति अभ्युपगन्तुं शक्यं, स्वतोव्याहतेः. नापि सर्वमपि ज्ञानम् अबाधितं बाधयोग्यव्यतिरिक्तं वा इत्यपि वक्तुं युक्तं, मरुमरीचिका-रज्जुसर्प-स्वप्नादिज्ञानानां बाधस्य अनुभवसाक्षिकत्वात्, तन्न्यायेन इतरेषामपि बाधयोग्याव्यतिरेकस्य कल्पयितुं शक्यत्वात् च. किञ्च बाधितं बाधयोग्यं वा ज्ञानं प्रमारूपेण ज्ञानेनैव बाधार्हं चेत् तस्य बाधकज्ञानस्यापि अबाधितत्वं बाधयोग्यव्यतिरिक्तत्वं वा कथं निर्धारणीयम्? बाधार्हज्ञानस्य कारणसामग्री-स्वरूप-सफलप्रवृत्तिजननसामर्थ्यादीनां विचारेण उत बाधकज्ञानस्य कारणसामग्री-स्वरूप-सफलप्रवृत्तिजननसामर्थ्यादीनां विचारेण आहोस्वित् तदेकतरावेदितस्य विषयस्वरूपप्रकारस्य विचारेण?

तदिह श्रीमदाचार्यचरणानां वचनानि प्रथमतो अवश्यावगाह्यानि —

प्रमाणसामान्यस्य कारणसामग्री-स्वरूप-सफलप्रवृत्तिजननसामर्थ्यानां विषये :

> ‘‘यथा इन्द्रियप्रेरकत्वं मनसः तथा इन्द्रियानुग्राहकत्वं बुद्धेः. बुद्ध्यैव अनुगृहीतानि इन्द्रियाणि पश्यन्ति कुर्वन्ति च. अतएव बुद्धितारतम्येन इन्द्रियज्ञान-क्रिययोः तारतम्यम्. एतत् कार्यानुसारिल-

क्षणम्. 'द्रव्यस्फुरणविज्ञानं' स्वरूपलक्षणम्. द्रव्यस्य घटादेः स्फुरणे सति शब्देन संस्कारेण आलोकेन वा यद् विशिष्टज्ञानम्; यस्मात् केवलं चक्षुषा ज्ञाने तारतम्यं न स्यात्... द्रव्यस्फुरणतारतम्याद् बुद्धिः नानाविधा. संस्कारतेजसोः तुल्यप्रकाशकत्वे विशेषास्फूर्तौ समः संशयो अल्पविशेषस्फूर्तौ उत्कटकोटिकः. 'विपर्यासः'= संस्कारप्राबल्यात् तेजः तदनुगुणमेव धर्मं (तत्र) प्रकाशयति... विपर्यासो भिन्नार्थप्रतिपादकः, क्रियाज्ञानयोः च भिन्नविषयत्वम्— तथाच इन्द्रियसम्प्रयोगजनकक्रियाविषयाद् भिन्नो यो अर्थः तदेकविषयकप्रतिरूपो यो वृत्तिविशेषः सः विपर्यासः— ... निश्चयो यथार्थानुभवो, अर्थो हि ज्ञानस्य अर्धम् अंगम्. अतएव स्मृतिः न निश्चयात्मिका अर्थाभावात्. अनुमतिरपि सम्बन्धिव्यवधानेन अर्थजनितैव... शब्दोऽपि निश्चयएव, (धूमादिरूप)धर्म-(सम्वन्धरूप)सादृश्यातिरिक्त-संस्कारजनकत्वात्. शब्देन (परोक्षतया) द्रव्यस्फुरणात् चक्षुषो अपेक्षाभावात् प्रमाणान्तरम्. त्रीण्येव प्रमाणानि... तत् सिद्धार्थवाक्येतु प्रत्यक्षसहकारित्वाप्रत्यक्षहेतुत्वमेव. साध्यार्थेतु लौकिके वाक्यार्थे बुद्धिकल्पिते प्रमाणाभावेन अप्रमाण्येऽपि प्रमेयबलात् प्रमाणमेव— लौकिके 'घटम् आनय' वाक्यार्थः प्रयोज्यकर्तृकघटानयनादिक्रियारूपः प्रयोजकबुद्धिकल्पितइति वाक्यश्रवणसमये तस्य अर्थस्य अभावात् प्रमाणरूपज्ञानानुदयः किन्तु ज्ञानमात्रस्य उदयइति प्रमाणाभावेन ज्ञानजनकवाक्यस्य अप्रामाण्येऽपि प्रमेयबलात् प्रयोज्यकर्तृकानयनक्रियादिरूपप्रमेयस्य बलात् प्रमाणमेव. वाक्याद् जातं शाब्दं समर्थप्रवृत्तिजनकत्वात् प्रमाणरूपमेव इति अर्थः. एतेन एतादृशस्थले परतःप्रामाण्यं स्फुटीकृतं ज्ञेयम्. ननु लोकेऽपि संसर्गरूपस्य वाक्यार्थस्य अपूर्वत्वात् प्रमाणबलादेव प्रामाण्यं कुतो न स्वीक्रियते? इति आकांक्षायाम् आहुः— लोके वाक्यार्थो न अपूर्वः वक्तृज्ञानविषयविषयित्वात् तद्बोधनसमर्थपदसमूहस्यैव प्रयोगात्— तथाच उक्तविधस्य वाक्यस्य सम्भावितविषयकत्वात् तज्जन्यं ज्ञानं सम्भावनारूपमिति तस्य संशये निवेशः. 'अप्रमाण'पदन्तु 'प्रमाण'शब्दस्य नानार्थत्वाभिप्रायेण उक्तम्. 'प्रमाण'शब्दो अबाधितज्ञाने वर्तते बाधयोग्यव्यतिरिक्ते वा".

(सुबो.प्रका.३।२६।२९-३०).

धर्मब्रह्मणोः ज्ञापकं श्रुत्यादिप्रमाणस्वरूपम् :

“‘अस्मिन् शास्त्रे परिभाषाम् उक्त्वा प्रमाणम् आह ‘वेदाः’ इति शब्दएव प्रमाणं, तत्रापि अलौकिकज्ञापकमेव तत् स्वतःसिद्धप्रमाणभावं — तथाच प्रत्यक्षादिषु भ्रान्तत्वस्यापि दर्शनात् तेषु नैकान्तिकं प्रामाण्यम्. अतः तानि विहाय आप्तवाक्यत्वाद् वेदादयएव आद्रियन्ते इति अर्थः. ननु वेदादीनां चेत् शब्दत्वेन प्रामाण्यं तर्हि लौकिकेऽपि तुल्यं प्रत्यक्षोपजीवकत्वात् प्रमाणान्तरतौल्यात् च. इत्यतः आहुः ‘तत्रापि’, नहि अस्माभिः शब्दत्वेन वेदानां प्रामाण्यम् उच्यते अपितु अलौकिकज्ञापकशब्दत्वेन, औत्पत्तिकसूत्रानुरोधात्. तथा सति यथा धर्मे समपरिकरे चोदनैव मानम् एवम् अत्र वेदादिरेव मानम् इत्यतो न तौल्यं नवा प्रत्यक्षोपजीवकत्वम्. नहि वेदोदितो धर्मो वा ब्रह्म वा अन्येन प्रमातुं शक्यते. तयोः तदेकवेद्यत्वस्यैव तन्मीमांसासिद्धत्वात्... परतःप्रामाण्यवादे प्रवृत्तिसामर्थ्यादेव ज्ञानप्रामाण्यग्रहः. तस्यापि सामर्थ्यज्ञानस्य च अन्यतः एवं सति अनवस्थानिवृत्त्यै क्वचिद् विश्रामे वाच्ये अन्ततो गत्वा योगशुद्धान्तःकरणस्यैव प्रमाणत्वं शुद्धस्य सत्त्वस्यैव वा प्रमाणानुग्राहकत्वं स्वीकृत्य तज्जन्यज्ञानस्य स्वतःप्रामाण्यं साधनीयम्’’.

(त.दी.नि.प्र.आ. : १।७)

एतेन वाल्लभमते यथार्थानुभवः प्रमा (Theory of correspondence), अनधिगताबाधितार्थगमकं ज्ञानं प्रमा (Theory of coherence), फलाविसंवादिप्रवृत्तिजनकं ज्ञानं प्रमा (Theory of utility) इति पौर्वात्य-पाश्चात्यैः दार्शनिकैः पृथक्-पृथक्तया ये प्रामाण्यनिकषाः अंगीकृताः ते त्रयोऽपि निकषाः वाल्लभमते संकलीकृत्य अभ्युपगताः इति प्रतिभाति.

तत्र सामान्यतः लौकिकप्रमाणानां यथार्थानुभवत्वेन प्रामाण्ये अंगीकृतेऽपि लौकिकप्रमाणानधिगतार्थरूपयोः धर्मब्रह्मणोः वेदादिशास्त्राणां प्रमाजनकत्वरूपं प्रामाण्यन्तु अनधिगताबाधितार्थज्ञापकत्व(Theory of coherence)रूपमेव. एतेन

बाधयोग्यव्यतिरिक्तता द्योतिता. यथाच आहुः भगवत्पादाः श्रीशंकराचार्याअपि ''**नच प्रमाणं प्रमाणान्तरेण विरुध्यते, प्रमाणान्तराविषयमेव हि प्रमाणान्तरं ज्ञापयति**'', ''**अपिच क्वचिद् गौणः शब्दो दृष्टइति न एतावता शब्दप्रमाणके अर्थे गौणी कल्पना न्याय्या सर्वत्र अनाश्वासप्रसंगात्**'' (बृह.उप.भा.२।१।२०, ब्र.-सू.भा.१।१।७) इति. तस्मात् प्रत्यक्षादिप्रमाणैः श्रुत्यभिहितार्थबाधकल्पनायान्तु श्रुतिवचनेषु गौणार्थकल्पनाप्रसक्तिः दुर्वारैव. सातु न सम्भवति लौकिकरूपाद्यभावाद्धि ब्रह्म न प्रत्यक्षगोचरं, प्रत्यक्षगोचरहेतुसाध्ययोः कयोश्चिद् व्याप्तिग्रहणाभावात् लिंगाभावात् च नानुमानादीनाम्, आगममात्रसमधिगम्यत्वस्य अभ्युपेतत्वात् च न श्रुत्यादिवचनव्यतिरेकेण धर्मब्रह्मणोः याथार्थ्यावगतिसम्भवनापि. तस्माद् धर्मब्रह्मणोः श्रुत्यादिशास्त्रवचनानां हि इतरप्रमाणानधिगताबाधितार्थज्ञापकत्वेन स्वतएव प्रामाण्यम् अवसीयते.

सति चैवं प्रमाणसामान्यानां प्रामाण्यन्तु यद् याथार्थ्यरूपं तच्चु अर्थानतिलंघित्वरूपम् इति अंगीकृतम्. तदेतद् अर्थानतिलंघित्वन्तु प्रत्यक्षादिप्रमाणानां न प्रमोत्पत्तिसाधारणकारणसामग्रीजन्यं स्वतःप्रामाण्यरूपं किमुत परतएव ग्राह्यम्. तद् उक्तं सुबोधिनीप्रकाशकारैः ''**जन्यज्ञानस्य अर्थसापेक्षत्वाद् अर्थो ज्ञानस्य अर्द्धम् अंगम्**'' (सुबो.प्रका.३।२६।३०) इति. एतेन अतिदूरादिग्राह्यार्थदोषाणां इन्द्रियघातमनोनवस्थानादिसाक्षादर्थग्राहकदोषाणां अज्ञानसंशयभ्रान्तिजनकबुद्धिगतताम-सराजसावस्थादोषाणां च सम्भवे ग्राह्यार्थोल्लंघिता जन्यानां ज्ञानानां न अस्वाभाविकी. तस्मात् तत्र याथार्थ्यमेव प्रामाण्याधायकम्. श्रुत्यादिवचनतो ज्ञायमानं जगतो ब्रह्मोपादानकत्वादिकन्तु सर्वभवनसमर्थस्य ब्रह्मणो अप्रतिघसंकल्पेन प्रादुर्भूतानां नाम-रूप-कर्मणां ''**सत्त्वेव... इदम् अग्रे आसीद् एकमेव अद्वितीयं तद् ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेय**'' (छान्दो.उप.६।२।१) इति वचनात् सदात्मकत्वरूपं, तेन तेषां ब्रह्मात्मकत्वमपि ब्रह्मणो हि अद्वितीयैकत्वबोधनात्. तद् ब्रह्मातिरिक्तस्य अर्थस्य अभावादेव श्रुत्यादिवचनैः प्रतिपाद्यमानं सर्वस्य जडजीवात्मकस्य जगतो ब्रह्मात्मकत्वं विधेयांशे लौकिकप्रमाणैः पूर्वानवगतमपि सद् उद्देश्यांशेतु ततः पूर्वमपि अधिगतमेवेति एतादृज्ज्ञानं न अर्थजन्यं, यस्माद् अर्थजन्यत्वे श्रुत्यादिवचनप्रवृत्तेः प्रागपि जगतो ब्रह्मात्मकत्वं समवबुध्येत, अतो श्रुत्यादिशब्दजन्यमेव. श्रुत्यादिवचनैस्तु

उद्दिष्टस्य जडजीवात्मकस्य प्रपञ्चस्य पूर्वसिद्धस्यैव **''ऐतदात्म्यम् इदं सर्वं स आत्मा तत् त्वम् असि''** (छान्दो.उप.६।७।७) इति वचने इदमा निर्दिष्टस्य जडजगतो ब्रह्मोपादानकत्वेन ब्रह्मात्मकता 'त्वं'पदोपलक्षितानां निखिलानां जीवात्मनां च ब्रह्मांशत्वेन ब्रह्मात्मकता उपदिष्टा. तस्माद् ब्रह्मात्मकत्वबोधनेन ब्रह्माज्ञानरूपावरणनिवारणमात्रांशएव प्रमाकरणानां चारितार्थ्यं केवलाद्वैतवादवद् वाल्लभमतेऽपि सुप्रतिपाद्यम्. तस्मादेव नाम-रूप-कर्मणां द्वैतावबोधकानि **''त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म... ब्रह्म एतद्धि नामानि... रूपाणि... कर्माणि बिभर्ति तदेतत् त्रयं सद् एकम् आत्मा आत्मा उ एकः सन् एतत्त्रयम्''** (बृह.उप.१।६।३) इति श्रुत्यादिवचनानि न ज्ञातज्ञापकत्वेन स्वार्थे अप्रमाणरूपाणि नापि पूर्वासिद्धज्ञानजनकान्येव वा, निखिलस्य ब्रह्मात्मकस्य जडजीवप्रपञ्चस्य ब्रह्मत्वेन अनवबुद्धस्य ब्रह्मात्मकत्वबोधनपरत्वात्.

तस्माद् यत्र किञ्चित् प्रमेयं केनचिद् एकनैव प्रमाणेन बोध्यं न तदतिरिक्तप्रमाणगोचरं तत्र प्रमाणस्य अनधिगतार्थज्ञापकत्वमेव आस्थेयम्.

यत्र पुनः कश्चन पदार्थः नैकप्रमाणैः अवगम्यते तत्र प्रथमप्रवृत्तस्य प्रमाणस्य प्रामाण्ये याथार्थ्यमेव निकषं वेदितव्यं, यथाहि लौकिकेन्द्रियगोचराः बहवः पदार्थाः. तथाहि गन्ध-रस-रूपादीनां तन्मात्रारूपधर्माणां घ्राणरसनाचक्षुरादीन्द्रियमात्रग्राह्यत्वेऽपि तद्धर्मिरूपाणां पृथिव्यपतेजआदीनां हि अनेकेन्द्रियग्राह्यत्वम् उपलभ्यतएव. तत्र एकेन केनचिद् इन्द्रियेण अपरेन्द्रियविसंवादिज्ञानजनने न अनधिगतार्थज्ञापकत्वशपथेन तादृगनुभूतौ प्रामाण्यपरिग्रहः शक्यो, यथा मरुमरिचिकायां जलरूपदर्शनस्य जलपान-जलावगाहन-रूपफलजननासामर्थ्येन तद्विसंवादितया प्रामाण्यबाधः. यतोहि यद्देशकालावच्छेदेन प्रथमप्रवृत्तस्य जलरूपविषयकस्य ज्ञानस्य तद्देशकालावच्छेदेनैव जलपान-जलावगाहनाशक्यत्वेन विसंवादितया प्रामाण्यबाधावगमात्. तथाच एतादृशे विषये यस्य कस्यापि ज्ञानस्य बलवत्प्रमाणाविसंवादितयैव प्रामाण्येन भवितव्यं नतु मिथो विसंवादितया इति.

तत्र अन्येन प्रमाणेन विसंवादइव स्वतो विसंवादोऽपि प्रामाण्यनिरासकइति

एतेनैव हेतुना ब्रह्मणि सर्वेषां श्रुतिवचनानां समप्रामाणत्वेन तेषां मिथो विरोधपरिहारायैव महर्षेः बादरायणस्य ब्रह्मसूत्रेषु समन्वयाविरोधोपपादने भरः. तथाच प्रथमप्रमाणावगतस्यापि द्वितीयादिज्ञानैः सन्देहास्पदतायाः भ्रमास्पदतायाः शक्यत्वेन बहुतरप्रमाणसंवादाद् बलवत्तरप्रमाणाद् वा संवादितयैव प्रामाण्यम् अंगीकार्यम्. तस्मादेव प्रत्यक्षानुमित्योः धर्मब्रह्माभावसाधकत्वसम्भवेऽपि आगममात्रसमधिगम्ययोः तयोः धर्मब्रह्मणोः आगममात्रसमधिगम्ये स्वरूपे न प्रत्यक्षानुमित्यादिप्रयुक्तबाधयोग्यतासम्भावनापि, आगमेतरप्रमाणागम्यत्वादेव. न तस्माद् विसंवादितापि. तस्मादेव अबाधितत्वरूपप्रामाण्यवद् बाधकज्ञानत्वेन सम्भावितानां प्रमाणानां कारणसामग्री-स्वरूपसफलप्रवृत्तिजननसामर्थ्योपरोधविचारेण बाधयोग्यव्यतिरिक्तत्वरूपं प्रामाण्यमपि अंगीकार्यमेव.

इदञ्च यथा धर्मब्रह्मणोः तथैव मधुगुडयोरपि प्रत्यक्षमात्रैकगम्ये माधुर्यभेदेऽपि अंगीकर्तव्यमेव. तथैव अनुमित्येकगम्ये सूर्यादिग्रहपिण्डानां परिमाणेऽपि बोद्धव्यम्. नहि शतशोऽपि जनानां प्रत्यक्षगृहीताल्पपरिमाणज्ञानेन विसंवादितायाः शपथेन अनुमानैकगम्यस्य सूर्यादिग्रहपिण्डानां बृहत्परिमाणस्य बाधः सम्भवति.

यथाच प्रमाणानाम् इदम् याथार्थ्यापरपर्यायम् अर्थानतिलंघित्वं, अनधिगताबाधितार्थापरपर्यायं च मिथो असंवादित्वं तथैव सफलप्रवृत्तिजननसामर्थ्यरूपं प्रामाण्यमपि अकामेन अंगीकार्यमेव. तत्र हेतुः उपरितनयोः आचार्यवचनयोः अधोरेखांकनेन सूचितएव.

अथ इदानीं प्रमाणसामान्यसंख्याविषये यथा प्रत्यक्षानुमितिशाब्दभेदैः “**त्रीण्येव प्रमाणानि**” इति उपलभ्यते तथा धर्मब्रह्मसम्बन्धिसकलमीमांस्यविषये “**प्रमाणम्** आह ‘वेदाः’ **इति शब्दएव प्रमाणं, तत्रापि अलौकिकज्ञापकमेव तत् स्वतःसिद्धप्रमाणभावम्**” इत्यपि आचार्यवचनं विराजतएव. एवंहि वचनद्वयी वरीवर्त्यते. तत्र प्रत्यक्षस्यापि लोके प्रामाण्यं बुद्धौ सत्त्वगुणोदयएव अभ्युपगतमिति सत्त्वसहिता बुद्धिः प्रमाणम् इत्यपि निश्चप्रचम्. तदेतद् व्यावहरिकमपि सत् न अपारमार्थिकम् इति वाल्लभवेदान्तरहस्यमपि न जातु विस्मरणीयम्.

एतनैव प्रामाण्यस्वरूपं तेषाञ्च स्वतस्त्वपरतस्त्वे च अर्धजरतीयन्यायो अभ्युपेयते इति प्रस्थानरत्नाकरे ''साध्यार्थलौकिकवाक्यप्रयोगकाले भाविन्याः क्रियायाः असत्त्वेन जायमानस्य ज्ञानस्य क्रियाकर्मादिसंसर्गाग्रहएव जननात्... तस्य ज्ञानस्य प्रमाणलक्षणानाक्रान्तत्वेन तादृशस्थले ज्ञानग्राहकसामग्र्या यः प्रामाण्यग्रहः सो अयथार्थः... अतः ईदृशस्थले परतो अन्यत्र स्वतः इति अर्धजरतीमेव युक्ताम् उत्पश्यामः'' (प्र.र.प्रमा.कर.तरं.६) इति प्रतिपादितम् अत्र अनुसन्धेयम्. इति अलम् अतिपल्लवितेन.

पुनश्च सुगृहीतनामधेयैः श्रीकृष्णमूर्तिशास्त्रिमहाभागैः भाट्टमतरीत्या यत् प्रत्यक्षविवरणं कृतं तेन तेभ्यो भृशं स्वकार्तज्ञ्यज्ञापनपुरःसरं प्रस्तुतं मदीयं संगोष्ठ्युत्तरलेखनं समापयामि.

* * *

Dr. P. K. Mukhopadhyay, Kolkata

... How then Pratyakṣa may Pramāṇa? For, when I say that "I perceive a jar" is it that jar I perceive? For, perception is possible only through the contact of the sense organ with the object. But my senses are in the contact with the front portion of the jar, front portion of the tree. But there is other part of the tree with which my sense organ is not there in contact. For, there is Vyavadhāna. So therefore, my senses are never in contact with the object at all. My senses are in contact with the part of the object. So if I say, 'I perceive the branch' that might have make sense but not if I say 'I perceive the tree'. But the same problem can be raised with reference to branch also. For that also is the problem. So this problem is not that I am conducting it. This problem is there very much and this we ignore.

This problem was raised by Gauttama in his Nyāyasūtra as a Pūrva-pakṣa. He says "pratyakṣānumānam, asamagra-grahaṇāt". We can not perceive, we can not take the whole of it. But the answer he provided is beautiful. His first answer is "pratyakṣena yāvat tāvad upalabhyate". You are saying that you perceive the part of it, so perception is Pramāṇa.